धर्म चक्र

[ऐतिहासिक घटनाओं पर आधारित धर्मानुमोदित समाज
एवं राज व्यवस्था पर एक वृत्तात्मक उपन्यास]

उपाचार्य श्री देवेन्द्र मुनि

श्री तारक गुरु जैन ग्रंथालय
उदयपुर

श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय का २६५ वां रत्न

- **धर्म चक्र**

- सम्पादक
  श्री ज्ञान भारिल्ल

- **उपाचार्य श्री देवेन्द्र मुनि**

- प्रथमावतरण
  वि० सं० २०४५ कार्तिक
  नवम्बर १९८८

- प्रकाशक
  श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय
  शास्त्री सर्कल, उदयपुर

- मुद्रक
  संजय सुराना के निरीक्षण में
  राष्ट्रीय आर्ट प्रिन्टर्स,
  आगरा-२

- मूल्य
  २५ पच्चीस रुपये मात्र

श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय
संशोधित
उदयपुर

जिनकी परम निस्पृहता
और सहज सरलता-वत्सलता व
मेरे जीवन संस्कारों में
साधुता का अमृत स्पर्श दिया,
उन
दादा गुरुदेव महास्थविर
श्री ताराचन्दजी महाराज
की पवित्र स्मृति में

–उपाचार्य देवेन्द्र मुनि

अपने प्रबुद्ध पाठकों के कर-कमलों में धर्मचक्र उपन्यास प्रदान करते हुए हृदय आनन्दविभोर है। यह एक ऐतिहासिक उपन्यास है। इस उपन्यास में आचार्य हेमचन्द्र जो कलिकाल सर्वज्ञ के नाम से विश्रुत रहे हैं, उनका व गुर्जराधीश श्री सिद्धराज जयसिंह तथा परमार्हत महाराजा कुमारपाल के जीवन से सम्बन्धित चित्ताकर्षक घटनाएँ हैं। इतिहास के वे अज्ञात पृष्ठ सहज, सरल एवं सुबोध शैली में उपाचार्य श्री देवेन्द्र मुनि ने प्रस्तुत किये हैं।

उपाचार्यजी के अनेक शोध प्रधान ग्रन्थों को प्रकाशित करने का हमें श्रेय मिला है, वहाँ उनका कथा-साहित्य, चिन्तन साहित्य, निबन्ध साहित्य, आगम साहित्य को प्रकाशित कर पाठकों के हाथों में थमाने का सुअवसर मिला, तदर्थ हम अपने आपको भाग्यशाली समझते हैं।

प्रस्तुत उपन्यास में एक प्रेरणा है, एक बालक महापुरुष के सान्निध्य को पाकर अपनी प्रतापपूर्ण प्रतिभा के बल पर कितना विकास करता है, किस प्रकार वह धर्मचक्र का प्रवर्तन करता है, इसका सुन्दर निदर्शन प्रस्तुत उपन्यास में पाठक पढ़ेंगे, साथ ही जयसिंह की विजय गाथा भी और कुमारपाल की अपने गुरु के प्रति समर्पण भावना भी।

इसके पूर्व उपाचार्यश्री जी के शूली और सिंहासन, पुण्य पुरुष, अपराजिता, धरती के देवता, कीचड़ और कमल, नौका और नाविक आदि उपन्यास प्रकाशित हो चुके हैं और वे अत्यधिक लोकप्रिय भी हुए हैं। हमें आशा ही नहीं, अपितु दृढ़ विश्वास है कि प्रस्तुत उपन्यास भी पाठकों के दिल को लुभायेगा, मन को मोहेगा, और हृदय को मुग्ध करेगा, इसी आशा के साथ—

—चुन्नीलाल धर्मावत

कोषाध्यक्ष
श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय, उदयपुर

अपनी बात

आचार्य हेमचन्द्र असाधारण प्रज्ञा के धनी महापुरुष थे। प्रभावक चरित में आचार्य प्रभाचन्द्र ने लिखा है कि आचार्य हेमचन्द्र के वचन समस्त प्राणियों के लिए अमृततुल्य हैं।[1] उनकी पीयूषवर्षी वाणी ने गुजरात की धरा को सरस्वती से आप्लावित किया था। सार्धत्रय कोटि पद्यों की रचना कर अपनी प्रतापपूर्ण प्रतिभा का परिचय दिया था। गुजरात नरेश सिद्ध-राज जयसिंह को अध्यात्म के पथ पर बढ़ने को उत्प्रेरित किया था और उनके उत्तराधिकारी राजा कुमारपाल को व्रत दीक्षा प्रदान कर जैनशासन की गरिमा में चार चांद लगाये थे। गुजरात की साहित्य और संस्कृति को एक नया रूप प्रदान किया था। सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक जीवन में अभिनव चेतना का संचार किया था। कला की पावन प्रतिष्ठा की थी। गुजरात राज्य के लिए आचार्य हेमचन्द्र का काल परम उत्कर्ष का काल था।

आचार्य हेमचन्द्र की गुरु परम्परा के सम्बन्ध में प्राचीन ग्रन्थों में विभिन्न मत प्राप्त होते हैं। प्रभावक चरित के अनुसार आचार्य हेमचंद्र के गुरु चंद्रगच्छ के आचार्य देवचंद्र थे और उनके प्रगुरु आचार्य प्रद्युम्न थे।[2]

प्रबन्ध कोश का मन्तव्य है कि आचार्य हेमचंद्र पूर्णतल्ल गच्छ के थे। स्वयं आचार्य हेमचंद्र ने कुमारपाल प्रतिबोध काव्य में अपना गच्छ पूर्णतल्ल बताया है।[3] यह सत्य है कि चंद्रगच्छ वस्तुतः गच्छ नहीं था, किन्तु चंद्रकुल था, जिसका सम्बन्ध कोटिक गण से था। कोटिकगण से विभिन्न शाखाएँ—प्रशाखाएं और अवान्तर गच्छों का विकास हुआ था,

---

१ श्री हेमचंद्रसूरिणामपूर्व वचनामृतम् ।
जीवातुर्विश्वजीवानां राजचित्तावनिस्थितम् ॥

२ चांद्रगच्छसरः पद्म तत्रास्ते मण्डितौ गुणैः ।
प्रद्युम्नसूरिशिष्यः श्री देवचन्द्र मुनीश्वरः ॥

—प्रभावक चरित, १४, पृष्ठ १८३

३ प्रबन्ध कोश पृ० ४६-४७

उसमें एक गच्छ पूर्णतल्ल भी था, जिसका उद्भव चंद्रगच्छ से हुआ था।[1] त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित में आचार्य हेमचंद्र ने अपनी गुरु परम्परा का सम्बन्ध कोटिक गच्छ वज्र शाखा के अन्तर्गत माना है। किन्तु गुरुजनों के नामों का क्रम सभी ग्रंथों में एक सदृश्य है।[2]

आचार्य हेमचंद्र के जन्म स्थान, जन्म-दिवस, माता-पिता प्रभृति के सम्बन्ध में प्रभावक चरित्र में और प्रबन्ध चिन्तामणि ग्रन्थ में विस्तार से प्रकाश डाला गया है। आचार्य हेमचंद्र वणिकपुत्र थे। गुजरात प्रदेशान्तर्गत धन्धुका नगर में वि० सं० ११४५ में कार्तिक पूर्णिमा की रात्रि के समय मोढवंश में उनका जन्म हुआ था। उनके पिता का नाम चाच एवं माता का नाम पाहिनी था। उनका अपना नाम चंगदेव था।

गुजरात के अणहिल्लपुर (पाटण) में सिद्धराज जयसिंह का राज्य था। जयसिंह के कुशल नेतृत्व में राज्य की भौतिक सम्पदा में दिन-प्रति-दिन उत्कर्ष हो रहा था, प्रजा सुखी थी। अणहिल्लपुर (पाटण) के सन्निकट ही धन्धुका एक समृद्ध नगर था। वहाँ के नागरिक धर्मनिष्ठ थे। वे विद्वज्जनों का सम्मान करते थे। आचार्य हेमचंद्र के पूर्वज मोढेरा गांव के निवासी थे और वे धंधुका में आकर रहे, इसलिए उनका वंश मोढ़वंश कहलाता था।

हेमचंद्र के चाचा नेमीनाग[3] मोढ़वंश के अग्रणी थे। हेमचंद्र की माता पाहिनी विलक्षण मेधा सम्पन्न महिला थी। जैन धर्म के प्रति उसकी अपूर्व आस्था थी। जब हेमचंद्र गर्भ में आये थे, तब पाहिनी ने एक स्वप्न निहारा था कि उसने एक चिन्तामणि गुरुदेव के चरणारविन्दों में भक्ति भावना से विभोर होकर समर्पित किया है। उस समय धंधुका में देवचंद्र सूरि विराजमान थे। पाहिनी ने स्वप्न-दर्शन की बात उनके सामने रखी। स्वप्न का फलादेश बताते हुए गुरु ने कहा था—तुम्हारी कुक्षि से पुत्ररत्न का जन्म होगा और वह कौस्तुभमणि के समान प्रभावी होगा। वि० सं०

---

१ असि भमरहिओ पुन्नतल्ल गुरु-गच्छ-दुम-कुसुम-गुच्छे।
समय मयरंद—सारी सिरिदत्त गुरु सुरहि सापो॥
—कुमारपाल प्रतिबोध, ७६ प्रस्तावना पृ. ११५

२ प्रभावक चरित प्रबन्ध:पर्यालोचन पृ० १०४

३ प्रबंध कोश पृष्ठ ४७ पं० ५,६

११४५ कार्तिक शुक्ला पूर्णिमा के दिन बालक का जन्म हुआ और पुत्र का नाम चंगदेव रखा ।

चंगदेव जब ५ वर्ष का हुआ, तब संयोग से देवचंद्रसूरि का वहां आगमन हुआ । बालसुलभ चपलता के कारण चंगदेव गुरु के आसन पर बैठ गया । आसन पर स्थित बालक को देखकर देवचंद्र सूरि ने पाहिनीदेवी को स्वप्न की स्मृति दिलाई और कहा—तेरा कुलदीपक जैनधर्म का प्रभावक आचार्य बनेगा । गुरु के वचन अलंघनीय हैं, अतः धर्म संघ के लिए पुत्र को अर्पित कर देना ही श्रेयस्कर है ।[1] उस समय श्रेष्ठी चाच बाहर गए हुये थे । वह यह भी जानती थी कि पति द्वारा कठिन स्थिति उत्पन्न हो सकती है, तथापि पुत्र को गुरु चरणों में समर्पित कर दिया । देवचंद्रसूरि बालक चंग-देव को लेकर स्तम्भन तीर्थ पधारे, वि० सं० ११५० में मुनि दीक्षा प्रदान की । प्रबन्ध चिन्तामणि ग्रन्थ के अनुसार जब चंगदेव को गुरु चरणों में समर्पित किया था, तब बालक की अवस्था ८ वर्ष की थी ।[2] प्रस्तुत आधार पर मुनि दीक्षा ग्रहण का समय वि० सं० ११५४ है । अर्थात् ८ वर्ष में गुरु चरणों में पहुँचे और ९ वर्ष में मुनि दीक्षा ग्रहण की । श्रीमान मंत्री उदयन ने यह दीक्षा महोत्सव किया था ।

नवदीक्षित बालक चंगदेव का दीक्षा नाम सोमचंद्र रखा गया ।[3] मुनि सोमचंद्र का स्वभाव बहुत ही शीतल था । इसलिए सोमचंद्र उनका यथार्थ नाम था । उनमें प्रतिभा प्रखर थी । तर्कशास्त्र, व्याकरणशास्त्र, लक्षणशास्त्र एवं साहित्य की विविध विधाओं का उन्होंने गम्भीर अध्ययन किया । अपने गुरु की आज्ञा लेकर काश्मीर निवासिनी विद्याधिष्ठात्री सरस्वतीदेवी की आराधना करने के लिए वे गीतार्थ मुनियों के साथ काश्मीर की ओर प्रस्थित हुए, पर मार्ग में ही सरस्वती ने प्रत्यक्ष होकर उन्हें कहा — तुम्हारी भक्ति से मैं सन्तुष्ट हूँ, तुम्हारी इच्छा पूर्ण होगी ।

गुरु देवचंद्र सूरि ने उन्हें योग्य समझकर वि० सं० ११६६ में वैशाख

---

१ प्रभावक चरित १६, पृ. १८३

२ पुत्रश्चाङ्गदेवोऽभूत् । स चाष्टवर्षदेश्यः ।

—प्रबन्धचिन्तामणि पृ. ८३ पं. ६

३ प्रभावक चरित ३२—३४ पृ. १८४

शुक्ला ३ के दिन मध्यान्ह में उन्हें आचार्य पद प्रदान किया।[1] उस समय उनकी अवस्था २१ वर्ष थी। आचार्य पद प्राप्ति के पश्चात उनका नाम हेमचन्द्र हुआ। आचार्य पद पर प्रतिष्ठित होने के पश्चात उनकी कीर्ति-कौमुदी चारों ओर जगमगाने लगी। उन्होंने मातेश्वरी पाहिनी को भी श्रमण दीक्षा प्रदान की और उन्हें प्रवर्तिनी पद प्रदान किया।[2]

आचार्य हेमचंद्र गुरु देवचंद्र सूरि के स्वर्गवास के पश्चात् खम्भात से बिहार कर अणहिल्लपुर पाटन पधारे, उस समय चौलुक्य वंशीय सिद्धराज जयसिंह वहां का शासक था। जिस समय राजा की सवारी जा रही थी, उस समय आचार्य हेमचंद्र भी उधर से आ रहे थे। भीड़ अधिक होने से राजमार्ग रुका हुआ था, अतः आचार्य हेमचंद्र एक दुकान पर खड़े हो गये। संयोग से जिस हाथी पर राजा जयसिंह आरूढ़ थे, वह हाथी भी वहीं आकर रुक गया, अतः आचार्य हेमचंद्र ने एक श्लोक कहा—

कारय प्रसरं सिद्ध ! हस्तिराजमशंकितम्।
अस्यन्तु दिग्गजाः किं तैर्भूस्त्वयोद्धृतायतः॥

अर्थात् हे राजन् ! गजराज को बिना संकोच आगे बढ़ाओ, रुको मत। क्योंकि इस धरती का उद्धार आप से हुआ है। सिद्धराज जयसिंह आचार्य हेमचंद्र के बुद्धिबल से बहुत ही प्रभावित हुआ और उसकी प्रार्थना को स्वीकार कर आचार्य हेमचंद्र राजा सिद्धराज जयसिंह के राज दरबार में पुनः पुनः जाने लगे।

सिद्धराज जयसिंह मालवा पर विजय वैजयन्ती फहराकर जब गुजरात लौटे, तब सब ओर से उन्हें बधाइयां मिल रही थीं। स्वागत-संगीत की सुमधुर स्वर लहरियां झनझना रही थीं, लक्ष्मी की भी झंकार गूंज रही थी, पर सरस्वती के अभाव में उनका मन मलिन था। वे गुजरात को सरस्वती से समृद्ध देखना चाहते थे। उन्होंने आचार्य हेमचंद्र को सनम्र प्रार्थना की कि आप नये व्याकरण का निर्माण करें। जिससे आपकी ख्याति दिग्दिगन्त में फैलेगी, और मेरी यशोगाथा भी फहरायेगी। आचार्य हेमचंद्र के संकेत से काश्मीर से आठ विशाल व्याकरणों की प्रतियां मँगवाई गईं

---

१ अथ वैशाखमासस्य तृतीया मध्यमेऽहनि।
श्री देवचंद्रगुरुवः सूरिमंत्रमचीकथन्॥
—प्रभावक चरित ५५-५६, पृ. १८४

२ प्रभावक चरित ६१-६२, पृ. १८४-१८५

और व्याकरण ग्रन्थों का गम्भीर अध्ययन कर आचार्य हेमचंद्र ने सर्वश्रेष्ठ व्याकरण की रचना की और उस ग्रन्थ का नाम 'सिद्ध हेमशब्दानुशासन' रखा गया जो सिद्धराज और आचार्य हेमचंद्र के सम्मिलित प्रयास का द्योतक था। हाथी के हौदे पर रखकर उस व्याकरण-ग्रन्थ को राज्य में प्रवेश कराया। विद्वानों और राजपुरोहितों ने तीन वर्ष तक इसका वाचन किया और ३०० लिपिकों ने उनकी प्रतिलिपियां उतारीं। पाटननरेश ने २० प्रतियां काश्मीर में प्रेषित कीं तथा अन्य सभी प्रमुख स्थानों पर सम्मानपूर्वक इसकी प्रतियां भेजी गईं। व्याकरण के अध्यापन के लिए विशेष अध्यापकों की नियुक्ति की गई और प्रति वर्ष ज्ञान पंचमी को परीक्षाएं भी ली जाती थीं। तथा परीक्षोत्तीर्ण छात्रों को पुरस्कार भी दिए जाते थे।

आचार्य हेमचंद्र अत्यन्त प्रभावोत्पादक प्रवचनकार थे। उन्होंने अपने प्रवचन में कहा कि पांचों पाण्डवों ने दीक्षा ग्रहण की और सन्थारा-कर पांचों पाण्डव मुक्त हुए, तथा द्रौपदी देवलोक में गई। विघ्नसन्तोषी व्यक्तियों ने सिद्धराज जयसिंह को भड़काने का काम किया कि पाण्डव तो हिमालय पर गये थे और आचार्य हेमचंद्र ने गिरिनार पर मुक्त माना है—यह मिथ्या कथन है। आचार्य हेमचंद्र ने अपने कथन का स्पष्टीकरण करते हुए कहा कि महाभारत में वर्णन है कि युद्धक्षेत्र में प्रवेश करते समय भीष्म पितामह ने अपने वंशजों को कहा था कि मेरा दाह-संस्कार ऐसे स्थान पर किया जाय जहां पर पहले किसी का दाहसंस्कार न किया गया हो। कौरव और पाण्डव उसी स्थान की तलाश करने के लिए पहुँचे, पर उस समय एक दिव्यवाणी उनके कर्ण कुहरों में गिरी—

अत्र भीष्मशतं दग्धं, पाण्डवानां शतत्रयम्।
द्रोणाचार्य सहस्रं तु; कर्ण संख्या न विद्यते ॥१६२॥

अर्थात् प्रस्तुत स्थान पर पहले सौ भीष्मों का, ३०० पाण्डव पंचकों का, और १००० द्रोणाचार्यों के शवों का दाहसंस्कार हुआ है। कर्ण नाम के कितने शवों का दाहसंस्कार हुआ है जिसकी परिसंख्या किसी को ज्ञात नहीं है।

यह वेदव्यास का मन्तव्य है। जब इतने पाण्डव पहले हो चुके हैं, उनमें से किन्हीं पाण्डवों ने जैन दीक्षा ग्रहण की हो, और उन्होंने सन्थारा पूर्वक समाधिमरण गिरिनार पर्वत पर प्राप्त किया हो, इसमें क्यों आपत्ति होनी चाहिए। तीन सौ पांडवों में से किन पांडवों ने हिमाद्रि पर आयु पूर्ण

किया है, कृपया, बतावें। आचार्य हेमचंद्र के अकाट्य तर्क से सभी विरोधी निरुत्तर हो गए।

आचार्य हेमचंद्र व्यवहार कुशल भी थे। राजा सिद्धराज जयसिंह की कोई सन्तान नहीं थी। पुत्र प्राप्ति की भावना से उत्प्रेरित होकर एक बार वे तीर्थयात्रा करने प्रस्थित हुए। आचार्य हेमचंद्र भी उनके साथ थे। जब वे सोमेश्वर पहुँचे, तो सोमेश्वर के शिवालय में आचार्य हेमचंद्र ने शिव की इस प्रकार स्तुति की—

यत्र तत्र समये यथा तथा योऽसि सोऽस्यभिधया यया तया।
वीत दोषकलुषः स चेद् भवानेक एव भगवन्नमोऽस्तुते॥

—प्रबन्ध कोश

अर्थात्—राग, द्वेष रहित वीतराग प्रभु को मेरा नमस्कार है। फिर वे किसी भी समय, किसी भी देश के हैं और किसी भी नाम से मंडित हैं।

कोटिनगर की अम्बादेवी ने यह संकेत किया कि सिद्धराज जयसिंह को पुत्र नहीं होगा, उसका उत्तराधिकारी कुमारपाल होगा। राजा सिद्धराज जयसिंह नहीं चाहता था कि कुमारपाल उसका उत्तराधिकारी बने, अतः राजा ने कुमारपाल को मारने के लिए समय-समय पर अत्यधिक प्रयत्न किए। एक बार कुमारपाल गुप्त रूप से तापस का वेश धारण कर निकल गया और भारत के विविध अंचलों में परिभ्रमण करने लगा। वर्षों के बाद तापस के वेश में ही पाटन आया। उस समय सिद्धराज जयसिंह ने संन्यासियों को श्राद्ध भोजन के लिए आमन्त्रित किया, चरण प्रक्षालन करते समय सिद्धराज जयसिंह ऊर्ध्व रेखा को देखकर समझ गया कि यह तो कुमारपाल है। कुमारपाल को भी ज्ञात हो गया। वह उसी क्षण प्रस्थित हुआ और गुप्त द्वार से निकलकर आचार्य हेमचंद्र के उपाश्रय में पहुँचा और प्रार्थना की कि मेरी रक्षा करें। आचार्य ने ताड़ पत्तों से भरी एक कोठरी में ताड़ पत्तों के नीचे उसे छिपा दिया। और रात्रि में उसे उपाश्रय से बाहर निकाला, पुनः सैनिकों द्वारा पीछा करने पर वह कुम्हार के भांडों के पीछे छिप गया। लुकते-छिपते उसने अपने प्राण बचाये। जब वह स्तम्भ तीर्थ में आचार्य हेमचंद्रसूरि के पास पहुँचा, तब उन्होंने घोषणा की कि, वि० सं० ११९९ कार्तिक कृष्णा द्वितीया रविवार को कुमारपाल का राज्याभिषेक होगा। आचार्य हेमचंद्र ने अपनी भविष्यवाणी एक पत्र पर उल्लिखित कर कुमारपाल को और मंत्री उदयन को दे दी।

कुमारपाल ने सनम्र निवेदन किया कि यदि आपका यह कथन सत्य हो जायगा तो आप समस्त राज्य के स्वामी होंगे और मैं अनुचर की तरह आपकी आज्ञा का पालन करूंगा। उत्तर में आचार्य हेमचंद्र ने कहा—हम तो सन्त हैं, हमें राज्य से क्या लेना-देना, किन्तु तुम्हें भगवान महावीर के शासन की सतत् सेवा करनी है। कुमारपाल मालव प्रदेश में पहुँचा। कुण्डगेश्वर के भव्य प्रासाद में एक शिला खंड पर अंकित निम्नलिखित गाथा पढ़ने को मिली—

पुन्ने वास सहस्से, सयम्मि वरिसाण नवनवइ अहिए।
होही कुमार नरिन्दो, तुह विक्कमराय सारिच्छो॥

अर्थात्—हे विक्रम महाराज! आपके स्वर्गारोहण के अनन्तर एक हजार एक सौ निन्यान्वे वर्ष व्यतीत हो जाने पर आपके समान ही प्रतापी कुमारपाल नाम एक राजा होगा।

प्रस्तुत गाथा को पढ़कर—कुमारपाल के आश्चर्य का पार नहीं रहा। एक महीने से भी कम समय रह गया था, अतः उसने कुण्डगेश्वर से अणहिल्लपुर पाटण की ओर प्रस्थान किया और अनेक विघ्न-बाधाओं के बाद राजा बना। राज्यारोहण के समय कुमारपाल की अवस्था ५० वर्ष की थी और हेमचन्द्राचार्य की आयु ५४ वर्ष की थी। उनका सम्बन्ध गुरु-शिष्य जैसा था। आचार्य हेमचन्द्र ने कुमारपाल को अहिंसाप्रधान जीवनोपयोगी शिक्षा दी। उनकी शिक्षाओं से प्रभावित होकर उसने मांसाहार छोड़ दिया और कई नियम भी लिये। आचार्य हेमचन्द्र ने राज्य में अमारि की घोषणा करवाई।[1] अमारि की घोषणा से लोगों में ईर्ष्या उत्पन्न हुई। उन्होंने कुमारपाल से कहा कि—कण्टकेश्वरी राजकुल की देवी है। यदि आपने बलि नहीं चढ़ाई तो उसके तीव्र कोप से विनाश हो जायगा। कुमारपाल ने आचार्य हेमचन्द्र से परामर्श दिया और रात्रि में देवी के सामने पशु छोड़ दिये और कहा कि, देवी की इच्छा होने पर वह स्वयं ही उनका भक्षण कर लेगी। रात्रि पूर्ण हुई, पशु वहीं खड़े थे, प्रतिवादी चुप

---

१ नाकृत्वा प्राणिनां हिंसां मांसमुत्पद्यते क्वचित्।
न च प्राणिवधः स्वर्ग्यस्तस्मान्मांसं विवर्जयेत्॥५९१॥
इत्यादि सर्वं हेयानां परित्यागमुपादिशत्।
तथेति प्रतिजग्राह तेषां च नियमान् नृपः॥५९२॥
—प्रभा. च. पृ. २०३

हो गये। कुमारपाल के अन्तर्मानस में अहिंसा के प्रति गहरी निष्ठा जागृत हुई।

आचार्य हेमचन्द्र के सम्पर्क ने कुमारपाल का कायाकल्प कर दिया। कुमारपाल के पूर्व पतिवियुक्ता महिला का सम्पूर्ण धन राज-कोष में जाता था। कुमारपाल ने इस विधान को अवैध बताया और एक स्वस्थ नीति और स्वस्थ परम्परा की स्थापना की,[1] जो जन धर्म के प्रभाव का ही प्रतिफल था।

आचार्य हेमचन्द्र का दिन प्रतिदिन प्रभाव द्वितीया के चांद की तरह बढ़ रहा था: अतः विरोधी तत्वों ने कुमारपाल से कहा कि—हेमचन्द्र अपने इष्टदेव की आराधना करते हैं, उसी को श्रेष्ठ समझते हैं, अन्य देवों को महत्त्व नहीं देते हैं। कुमारपाल के मन में यह बात अखरी। उसने आचार्य हेमचन्द्र को सोमेश्वर-यात्रा के लिए प्रार्थना की। हेमचन्द्र ने सहर्ष स्वीकृति प्रदान की। सोमेश्वर के मंदिर में पहुंचकर उन्होंने इस प्रकार स्तुति की:—

भवबीजांकुरजनना रागाद्याः क्षयमुपागता यस्य।
ब्रह्मा वा विष्णुर्वा हरो जिनो वा नमस्तस्मै॥
महारागो महाद्वेषो, महामोहस्तथैव च।
कषायश्च हतो येन, महादेवः स उच्यते॥

अर्थात्—भव बीज को अंकुरित करने वाले राग-द्वेष पर जिन्होंने विजय प्राप्त कर ली है, भले वे ब्रह्मा, विष्णु, हरि और जिन किसी भी नाम से संबोधित होते हों, उन्हें मेरा नमस्कार है।

जिसने महाराग, महाद्वेष, महामोह और कषाय को नष्ट किया है, वही महादेव है।

---

१ (क) नयन्मुक्तं पूर्वैरधुनधुपना भाग भारत—
प्रभुत्युर्वीनाथैः कृतयुग कृतोत्पत्तिभिरपि।
विमुञ्चन् सन्तोषात् तदपि रुदतीवित्तमधुना
कुमाररक्ष्मापाल! त्वमसि महतां मस्तकमणिः॥६९९॥

—प्रभा. च. पृ. २०६

(ख) अपुत्राणां धनं गृण्हन् पुत्रो भवति पार्थिव!।
त्वं तु संतोषतो मुंचन् सत्यं राजपितामहः॥१९०॥

—प्रबन्ध चिन्तामणि पृ. ८६

हेमचन्द्र आचार्य के कारण कुमारपाल में अध्यात्म की भव्य भावना लहलहाने लगी थी। वह सातों व्यसनों से मुक्त हो गया और श्रावक के बारह व्रत ग्रहण किये।[1] नव रात्रि आदि उत्सव प्रसंगों पर उसने पूर्ण प्रतिबन्ध लगाया था कि कोई भी नागरिक व्यसनों का सेवन न करें। अपने अधीनस्थ १८ देशों में १४ वर्ष तक के लिए अमारि की घोषणा करवाई।[2]

के० एम० मुंशी ने कुमारपाल की मृत्यु से चार वर्ष पूर्व तक उसे शैव माना है। मुंशी ने लिखा है—Kumarpala was a Shaiva still in 1169, four years prior to his death. शिलालेखों में भी कुमारपाल को महेश्वर नृपाग्रणी लिखा है, पर जैन ग्रन्थों में उन्हें परमार्हत लिखा है। यह विशेषण उनके जैन होने का प्रमाण है।

आचार्य प्रभाचन्द्र ने आचार्य हेमचन्द्र के साथ सिद्धराज जयसिंह, कुमारपाल, अर्णोराज, विक्रमसिंह, मल्लिकार्जुन, नवधण, खेंगार प्रभृति राजाओं का, मंत्री उदयन, मंत्री वागभट्ट, अंबर, कवि श्रीपाल, कवि देव बोध, प्रभृति विशिष्ट व्यक्तियों का उल्लेख किया है। वह उल्लेख शोधार्थी छात्रों के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण है। अमात्य उदयन सिद्धराज जयसिंह के समय स्वामी भक्त के रूप में विश्रुत रहा है। जब कुमारपाल निराश्रित होकर इधर उधर भटक रहा था, उसके अन्तर्मानस में राजा जयसिंह का भय व्याप्त था, वह सोच रहा था कि कहीं मुझे वह समाप्त न कर दे। उस समय कुमारपाल मंत्री उदयन से मिला था। मंत्री उदयन ने स्वामी भक्ति का जो भव्य आदर्श उपस्थित किया था, उसकी छवि कुमारपाल के अन्तर्मानस में सदा बनी रही। और जब कुमारपाल नरेश बना, तब उसने मंत्री उदयन की प्रशंसा की थी। वाग्भट्ट और अंबर—ये दोनों भी उदयन के पुत्र थे। वाग्भट्ट जब कुमारपाल राजा बना, तब वह उनका मंत्री

---

१ इय अणहिल्लपुरम्मि य जयसिंह नरिंद पट्टलंकारो।
सिरि कुमरपाल राओ जाओ भूपाल मउडमणी ॥१०६॥
सिरि हेम सूरि गुरुणा पडिबोहिय वयण सुरस दाणेणं।
जिण भत्ति जुत्तिरत्तो, जाओ सुसावओ परमो ॥१०७॥
—वीरवंश पट्टावली १०६—१०७

२ अट्ठार देसमज्झे, अमारि उग्घोसणं पवट्टेइ।
सो जीव दयातप्पर, परिपालइ देसविरइं च ॥१०८॥
—वीर वंश पट्टावली १०८ (भावसागर सूरिः)

बना। मंत्री उदयन, वाग्भट्ट और अंबर—इन तीनों के अन्तर्मानस में जैन धर्म के प्रति अपार आस्था थी। सिद्धराज जयसिंह, राजा कुमारपाल, की तरह उदयन, वाग्भट्ट और अंबर की भूमिका भी सशक्त रही।

आचार्य हेमचन्द्र प्रबल प्रतिभा के धनी थे। उन्होंने विविध विधाओं में साहित्य का निर्माण किया। व्याकरण, काव्य, कोश, छन्द, अलंकार, न्याय, नीति, ज्योतिष, इतिहास, प्रभृति जितने भी विषय उस युग में प्रचलित थे, उन पर उन्होंने साधिकार लिखा। आज भी उनका साहित्य मनीषी पाठकों के लिए चिन्तन की अपूर्व सामग्री प्रदान करता है। सिद्ध हेम शब्दानुशासन, यह उनके द्वारा रचित व्याकरण ग्रन्थ है। प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रणयन सिद्धराज जयसिंह की प्रार्थना को सम्मान देकर किया गया था। प्रथम सात अध्यायों में संस्कृत भाषा का व्याकरण है और आठवें अध्याय में प्राकृत भाषा का। वैदिक प्रयोगों से युक्त होने के कारण प्रस्तुत व्याकरण की अपनी मौलिकता भी है। सूत्र रचना में शाकटायन व्याकरण का प्रमुख आधार रहा है। उणादि पाठ, गण पाठ, धातु पाठ, लिंगानुशासन, वृत्ति, इन पंचांगों से यह व्याकरण परिपूर्ण है। साथ ही सुबोध और सुग्राह्य भी है। संस्कृत और प्राकृत—इन दोनों भाषाओं की दृष्टि से इस ग्रन्थ का अपना मौलिक महत्व है।

आचार्य हेमचन्द्र ने अभिधान चिन्तामणि, अनेकार्थ संग्रह, निघण्टु, देशी नाम माला—इन चार कोश ग्रन्थों की रचना की। अभिधान चिंतामणि कोश में एक एक वस्तु के विभिन्न पर्यायवाची संस्कृत नाम दिये गये हैं। अनेकार्थ संग्रह में एक शब्द के अनेक अर्थ दिये गये हैं। निघण्टु कोष में वनस्पतिशास्त्र सम्बन्धी विविध नामों की सामग्री दी गई। देशी नाम माला कोष में संस्कृत, प्राकृत व्याकरण से असिद्ध देशी शब्दों का संग्रह किया गया है। प्राकृत, अपभ्रंश प्रभृति प्राचीन भाषाओं एवं आधुनिक भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन की दृष्टि से इस कोश का अपना महत्व है। काव्यानुशासन में काव्य के गुण-दोषों की सारगर्भित व्याख्याएँ दी गई हैं। छन्दानुशासन ग्रन्थ में छन्दों का परिज्ञान कराया गया है। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, तीनों ही प्रकार के ग्रन्थों से सम्बन्धित छन्दों का निरूपण प्रस्तुत ग्रन्थ में हुआ है। अन्ययोगव्यवच्छेदिका और अयोग-व्यवच्छेदिका नामक ये द्वात्रिंशिकाएँ भारतीय दर्शनों में प्रवेश पाने के लिए अत्यन्त उपयोगी हैं। दोनों कृतियों की शब्द योजना चुम्बक की तरह चित्ताकर्षक है। द्व्याश्रय काव्य, इस काव्य की रचना संस्कृत और प्राकृत दोनों भाषाओं में हुई है। इस काव्य का उद्देश्य कुमारपाल चरित के साथ

ही संस्कृत, व्याकरण के स्वरूप का भी प्रशिक्षण देना है। इस ग्रन्थ में संस्कृत, प्राकृत और व्याकरण के नियमों को उदाहरण के साथ प्रस्तुत किया गया है, जो बहुत ही श्रमसाध्य है। यह आचार्य हेमचन्द्र की सूक्ष्म प्रतिभा का स्पष्ट निदर्शन है। योगशास्त्र ग्रन्थ में यम नियम आदि योग सम्बन्धी विविध बिन्दुओं पर विस्तार से वर्णन है। योग का महत्व और योग की निष्पत्ति बताने वाला यह अद्भुत ग्रन्थ है। राजा कुमारपाल इस ग्रन्थ का प्रतिदिन स्वाध्याय करता था। प्रमाण मीमांसा में प्रमाण और प्रमेय की विस्तृत व्याख्या की गई है। यह न्याय विषयक उपयोगी ग्रन्थ है।

त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र महाकाव्य एक अद्भुत ग्रन्थरत्न है जिसमें चौबीस तीर्थंकर, बारह चक्रवर्ती, नौ वासुदेव, नौ प्रतिवासुदेव और नौ बलदेव इन ६३ श्लाघनीय पुरुषों का पवित्र चरित्र अंकित है। परिशिष्ट पर्व इस ग्रन्थ में जैन धर्म के प्रभावक आचार्यों का जीवन चरित्र अंकित है। डा. हर्मन जेकोबो ने परिशिष्ट पर्व पर प्रस्तावना लिखी है। वह प्रस्तावना पठनीय और मननीय है।

आचार्य सोमप्रभ ने आचार्य हेमचन्द्र के साहित्य के सम्बन्ध में इस प्रकार लिखा है—

क्लृप्तं व्याकरणं नवं विरचितं छंदो नवं द्व्याश्रया-
लंकारौ प्रथितौ नयौ प्रकटितं श्रीयोगशास्त्रं नवम्।
तर्कः सज्जनितो नवो जिनवरादीनां चरित्रं नवं,
बद्धं येन न केन केन विधिना मोहः कृतो दूरतः॥

आचार्य हेमचन्द्र ने जहाँ एक ओर माँ सरस्वती के भण्डार में अनमोल ग्रन्थ समर्पित कर सरस्वतीपुत्र विशेषण को साथक किया था, वहां दूसरी ओर गुजरात के राजा सिद्धराज जयसिंह को सुलभ बोधि बनाया था और राजा कुमारपाल को व्रत दीक्षा देकर जैन शासन की प्रभावना में चार चांद लगाये थे। प्राचीन शिलालेख इस बात के साक्ष्य हैं कि कुमारपाल परमार्हत था।

राजा कुमारपाल, राजा सिद्धराज जयसिंह और आचार्य हेमचन्द्र के ऐतिहासिक कथा के आधार पर प्रस्तुत उपन्यास आधत है। यह उपन्यास अहिंसा, संयम और तप के महत्व को प्रतिपादित करता है। कुमारपाल साहस का पुतला है। आचार्य हेमचन्द्र के प्रभाव से प्रभावित होने के कारण वह हिंसा के स्थान पर अहिंसा की पावन प्रतिष्ठा करता है। सिद्धराज

जयसिंह गुजरात में साहित्य की गंगा प्रवाहित करने का भगीरथ कार्य करता है, और आचार्य हेमचन्द्र का जीवन कमलवत् निर्लिप्त है। प्रस्तुत उपन्यास आज की बढ़ती हुई हिंसा, असुरक्षा, भय और आतंक के वातावरण में एक प्रेरक सिद्ध होगा। वही राजा सच्चा है जो प्रजा के तन पर नहीं, मन पर शासन करता है। आसक्ति के स्थान पर अनासक्ति को महत्व दिया गया है।

आचार्य हेमचन्द्र ने राजा कुमारपाल के माध्यम से अहिंसा का प्रचार किया, धर्मचक्र की संस्थापना की। इसीलिए प्रस्तुत उपन्यास का नाम धर्मचक्र मैंने पसन्द किया है। आशा है, पाठकों को भी पसन्द आएगा। मेरे हाथ में दर्द होने से, प्रस्तुत ग्रन्थ की पाण्डुलिपि तैयार करने में स्नेहमूर्ति श्री ज्ञानजी भारिल्ल का सहयोग प्राप्त हुआ, तदर्थ मैं उन्हें हार्दिक साधुवाद प्रदान करता हूँ। परम श्रद्धेय सद्गुरुवर्य उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि जी महाराज का सतत् मार्गदर्शन मेरे लिए जीवन सम्बल के रूप में रहा है। उनके असीम उपकार को व्यक्त करने के लिए शब्द के बाट बहुत ही हल्के पड़ते हैं। असीम भावों को व्यक्त करने में ससीम शब्द कब समर्थ हुए हैं! ज्येष्ठ भगिनी साध्वी-रत्न पुष्पवती जी की प्रबल प्रेरणा यदि न मिली होती तो ग्रन्थ का प्रणयन इतना शीघ्र नहीं हो पाता। श्री रमेश मुनि, श्री राजेन्द्र मुनि, श्री दिनेश मुनि, श्री सुरेन्द्र मुनि, प्रभृति मुनि-मण्डल की सेवा विस्मृत नहीं की जा सकती, जिनके सतत् सहयोग से ही साहित्य साधना का कार्य प्रगति पर है। स्नेह के देवता श्री श्रीचन्द जी सुराना को भी भुलाया नहीं जा सकता जिन्होंने ग्रन्थ को मुद्रण कला की दृष्टि से सुन्दर बनाने का प्रयास किया है और प्रूफ संशोधन कर मेरे भार को हलका किया है।

जैन स्थानक
महावीर भवन
इन्दौर

-उपाचार्य देवेन्द्र मुनि

[संकेत]

एक राजा जंगल-जंगल भटक रहा था।

किसी भी एक स्थान पर अधिक समय तक ठहरे रहने में भय था। शत्रु भेद पा सकते थे, और फिर सब कुछ समाप्त हो सकता था।

अतः उस राजा को भटकना ही था। कभी भूखे, कभी प्यासे—फटेहाल।

पर्वत-पर्वत की कठोर व तीक्ष्ण चट्टानों से वह टकरा रहा था।

रेगिस्तानों से आश्रय की आशा लगाए जी रहा था। नुकीले-कँटीले झाड़-झंखाड़ों में उलझ-उलझकर उसके पाँव लहूलुहान हो जाते थे।

विचित्र है विधि के विधान!

उस समय कोई नहीं जानता था कि उस राजा की जंगल-जंगल की यह भटकन, एक दिन उसे अमरता के किसी शान्त-शीतल पुण्य प्रदेश तक ले जाने वाली थी और चट्टानों से टकरा-टकरा कर उसका शौर्य फौलाद बन जाने के लिए ही था।

उसकी भूख और प्यास उसके पवित्र चरित्र को तपस्या की अग्नि में तपाकर इतना हिमोज्ज्वल कर देने वाली थी कि एक दिन उसे प्राणि-मात्र की पीड़ा को अपने प्राणों से झरने वाले पीयूष से धो देने की क्षमता धारण करनी थी।

किन्तु यह सब भविष्य के गर्भ में था।

अभी तो वह राजा जंगल-जंगल भटक रहा था।

निश्चय ही वह नरों में श्रेष्ठ था—नृपति था। अपनी शौर्य-सम्पदा से, अपने उदार व उदात्त व्यक्तित्व से, अपनी धार्मिक और सांस्कृतिक भावनाओं से वह राजा ही था। और वह जंगल-जंगल भटक रहा था।

किन्तु अभी उसके सिर पर ताज नहीं था।

उसके पैरों में तीक्ष्ण शूल थे। हृदय में महत्त्वाकांक्षा की ज्वाला प्रज्वलित थी।

इसलिए हम कुछ समय के लिए उस राजा को अकेला छोड़कर एक ऐसे नरश्रेष्ठ महापुरुष के जीवन की झांकी लेते हैं जिसके श्रीचरणों में बड़े से बड़े राजाधिराज, सम्राट् और शाहंशाह भी नतमस्तक होकर अपने जीवन की धन्यता का अनुभव करते थे।

यह महापुरुष गुजरात की धरती पर अवतीर्ण होकर समस्त जगत के लिए प्रणम्य बन गया था। उसकी महत्ता के लिए गुजरात बहुत छोटा था। भारतवर्ष को आसेतु-हिमालय उसके ज्ञानसूर्य ने प्रकाशित किया था। उसकी चारित्र्य-सम्पदा ने समस्त मानव जाति को निहाल कर दिया था।

उसे संसार ने जाना हेमचंद्राचार्य के नाम से।

किन्तु अभी वह आचार्य भी एक बालक था—बाल सूर्य!

एक था राजा और एक थे आचार्य।

[एक]

सूरज बस अब डूबा—तब डूबा । सूर्यास्त के बाद मुनिजन तो चलेंगे नहीं । निषिद्ध है । अँधेरे में कोई छोटा-सा जीव पाँवों तले आ गया, उसे पीड़ा हुई—क्यों होना चाहिए ऐसा ? तो नहीं चलना है । सूरज अब डूबा —तब डूबा·····

अब कहीं रुक जाना चाहिए ।

आचार्य देवचन्द्रसूरि ने अस्त होते सूर्य को देखा, चारों ओर फैली वनराशि को निहारा और पीछे मुड़कर कहा—"रत्नचंद्र ! सूर्यास्त होने जा रहा है । हमारा विहार समाप्त होना चाहिए ।"

"हाँ, गुरुवर ! हमें आसपास कहीं, किसी वृक्ष की ही ओट लेनी होगी । अन्य कोई आश्रय दीखता नहीं ।"—कहकर मुनि रत्नचंद्र ने अपनी दृष्टि एक बार पुनः चारों ओर फैलाई । इस दृष्टिपात में उन्हें सघन वृक्षों की ओट में छिपी हुई-सी एक दीवार दिखाई दे गई । वे बोले—

"गुरुवर ! उधर कोई दीवार-सी दीखती है । संभव है कोई प्राचीन पान्थागार हो । चलिए, देख लिया जाय ।"

"हाँ, यही उचित प्रतीत होता है । चलो ।"

आचार्यवर स्वीकृति देकर उस दिशा में चल पड़े जिधर वह दीवार दिखाई दी थी । शिष्य मंडली ने अनुगमन किया ।

सचमुच उस स्थान पर एक प्राचीन वापी थी । एक प्राचीन पान्था-भी था जो अब काफी जीर्ण-शीर्ण हो चुका था । किन्तु आश्रय प्रदान कर सके आते जाते पथिकों को, ऐसी स्थिति में तो था ही ।

मुनिमंडली वहाँ पहुंची । सर्वप्रथम रत्नचंद्र मुनि ने कहा—

"इस वनश्री तथा इस पान्थागार के रक्षक एवं स्वामी दिक्पालो ! आज रात्रि यहाँ ठहरने की आज्ञा है ?"

"नहीं ।"

यह एक आश्चर्य । किसने दी यह अस्वीकृति ? कौन है यहाँ ? कोई है भी तो आचार्य देवचन्द्र सूरि को अस्वीकृत करने की धृष्टता करने जैसा

निर्बुद्धि है क्या वह ? क्या इस स्थल के दिक्पाल बोले हैं ? क्या वे दिक्पाल आचार्य की पवित्र जीवनचर्या से अनभिज्ञ हो सकते हैं ? कि कह सकें— नहीं !

नहीं, ऐसा तो सम्भव नहीं है। फिर कौन है वहाँ ?

इस छोटी-सी 'नहीं' ने मुनिमंडल को विस्मित ही कर दिया था कि दूसरे ही क्षण वहाँ एक बाल-गोपाल मंडली प्रकट हो गई। उन बालकों में से एक बालक, उसकी आयु लगभग पाँच वर्ष की रही होगी, सबसे आगे था। उसने विनयपूर्वक आचार्यवर को दोनों हाथ जोड़कर नमन किया और मूर्तिवत् खड़ा रह गया।

वह बालमूर्त्ति ! मानों अस्ताचलगामी सूर्य ही जाते-जाते आचार्यवर को प्रणिपात देने घड़ी भर के लिए पृथ्वी पर उतर आया हो। इतना तेज, ऐसी शुभ्र भंगिमा !

आचार्य सहित समस्त शिष्य-मंडली ने उस प्रणत बालक को देखा। देखकर कुछ पल तक वे देखते ही रह गए। फिर सावधान होकर आचार्य ने कहा—

"धर्मलाभ ! कौन हो तुम बालक ? कहाँ से आ गए ?"

आचार्य देवचन्द्रसूरि सहज भाव से यह कह गए। किन्तु उस विचित्र बालक ने जो उत्तर दिया वह उसी के अनुकूल था। उसने कहा—

"गुरुदेव ! मैं कौन हूँ यह तो जानता नहीं। यही तो जानना है। कहाँ से आ गया यह भी पता नहीं।"

गुरुदेव ? क्या यह प्रतिभापुंज बालक सभी मुनियों को 'गुरुदेव' कहकर ही पुकारता है ? अथवा आज ही उसके मुख से निकला है यह सम्बोधन ? और यह कैसी बातें करता है ? कहता है कि कौन हूँ, जानता नहीं, कहाँ से आया, पता नहीं। इतना छोटा-सा यह बालक ! आश्चर्य है !

कुछ ऐसी ही चकित-सी स्थिति में आचार्य देवचन्द्रसूरि ने पुनः कहा—

"साधु, साधु ! बालक, क्या हमारे द्वारा इस स्थान पर रैन-बसेरा करने की आज्ञा चाहने के उत्तर में तुम्हीं ने कुछ कहा था ?"

"जी, गुरुदेव ! मैंने ही कहा था—'नहीं'।"

"क्यों भला ? हम साधु हैं। रात रहेंगे, प्रातः चल देंगे। कुछ ले तो नहीं जाएंगे इस स्थान से।"

"ले नहीं जाएंगे, दे तो जायेंगे न गुरुदेव ? आप इस स्थान को एक इतिहास दे जायेंगे कि आचार्य देवचन्द्र सूरि एक रात्रि यहाँ ठहरे थे....।"

"क्या कहते हो बालक ? तुम मेरा नाम भी जानते हो ? विस्मय की बात है। कैसे जानते हो मुझे....?"

"गुरुदेव ! मैं एक बार जिसे देख लेता हूँ उसे कभी भूलता नहीं। एक बार जो जान लेता हूँ, उसका विस्मरण नहीं करता।"

"किन्तु तुमने मुझे देखा कब ?"

"मेरी माताजी ने मुझे आपके विषय में बताया है, गुरुदेव ! मैं आपको देखते ही पहचान गया। आप धंधूका नगरी में आए थे न ?"

"धंधूका ? हाँ, हम वहाँ गये थे। किन्तु फिर तुम यहाँ कैसे ? इस जंगल में ?"—आचार्य ने विस्मित भाव से पूछा।

"गुरुदेव ! हमारी नगरी धंधूका समीप ही तो है। बस इसी मोड़ के पार नगरी दिखाई देने लगती है। हम लोग तो यहाँ प्रतिदिन खेलने आया करते हैं। यहाँ से घर तक पहुँचने में थोड़ा-सा समय ही तो लगता है ? असल में गुरुदेव, आप जिस दिशा से पधारे हैं उधर इतना सघन वन है कि दिशाओं का और स्थिति का सही अनुमान नहीं हो पाता। नगरी तो बस चार कदम पर ही समझिए यहाँ से। इसीलिए तो मैंने कहा था—नहीं, आज्ञा नहीं है आपश्री को यहाँ स्थिति करने के लिए। आपको हमारी नगरी में पधारना होगा, गुरुदेव !"

कैसा अद्‌भुत बालक है यह ? कैसी-कैसी बातें करता है ? और इस अल्प, बाल-वय में ? ऐसा प्रतीत होता है इसे देखकर कि जैसे साक्षात् ज्ञान सशरीर उपस्थित हो गया हो।

ज्ञानी आचार्य के मन-मस्तिष्क में कुछ स्मृतियाँ जाग आई थीं। भविष्य कौंध गया था। उन्होंने क्षणमात्र में यह सब विचार किया और कहा—

"तुम कहीं श्राविका पाहिनोदेवी के पुत्र तो नहीं !"

"हाँ हाँ, गुरुदेव ! वे ही तो मेरी माता हैं। आपने कैसे जान लिया ?"

आचार्यवर अब आश्वस्त भाव से मन्द मधुर मुस्कुराए और बोले—"वत्स ! कुछ बातों के ज्ञान के लिए काल की अवधि नहीं होती। मैं तुम्हें देख रहा था और जान रहा था। वस्तुतः मैं तुम्हें तुम्हारे जन्म से पूर्व से

ही जानता हूँ। किन्तु अभी यह बात रहने दो। सूर्यास्त होने ही वाला है। हमें नगरी तक पहुँच जाना चाहिए। चलो, किधर से चलना है ?''

"चलिए, गुरुदेव !" कहकर वह बालक एक पगडण्डी पकड़कर चल पड़ा। उसके हृदय में उत्साह और आनन्द का सागर हिलोरें मारने लगा। उसके मित्र उसकी अगल-बगल चल पड़े। मुनिमंडली धीर-गंभीर पदनिक्षेप सहित उनके पीछे-पीछे चली।

थोड़े-से सघन वृक्षों को पार करते ही एक मोड़ था और उस मोड़ को पार करते ही सामने विशाल और समृद्ध धंधूका नगरी अस्त होते सूर्य की सुनहरी आभा में झिलमिला रही थी। आचार्य देवचन्द्र सूरि आश्वस्त हुए। उन्होंने चलते-चलते उस बालक से पूछा—

"क्यों वत्स ! एक बात बताओ, तुमने मुझे गुरुदेव सम्बोधन कैसे किया ? क्या तुम सभी मुनियों को ऐसे ही पुकारते हो ?"

"नहीं गुरुदेव ! पता नहीं कैसे और क्यों ? आपको देखा और मेरे मुंह से यह 'गुरुदेव' सम्बोधन ही निकला। आप मेरे गुरु नहीं बनेंगे क्या ?" जैसे आशा-निराशा का एक झूला अधर में झूल गया हो, इस भंगिमा सहित उस बालक ने अपनी दृष्टि आचार्यश्री के मुखमंडल पर स्थिर कर पूछा।

आचार्यवर ने उस मुखमंडल को, उस भोली-भाली किन्तु गहन दृष्टि को देखा और कहा—

"क्यों नहीं वत्स ! तुम चाहोगे तो मैं तो तुम्हारा ही हूँ।"

बालक इसी संक्षिप्त उत्तर से परम सन्तुष्ट प्रतीत हुआ और अब तेज-तेज कदमों से नगरी की ओर चल पड़ा।

एक इतिहास थी वह सांध्यवेला, जब वह बालक और वे आचार्य परस्पर मिले थे।

उस दिवस का सूर्य तो अस्त होने जा रहा था।

किन्तु विश्व-क्षितिज पर धर्म और साहित्य का एक ऐसा अद्‌भुत सूर्य भी उदित हो रहा था जो कभी अस्त होता ही नहीं।

जो कभी अस्त होता ही नहीं, ऐसा एक सूर्य—

आचार्य हेमचन्द्र !—हेमचन्द्राचार्य !

यावच्चन्द्र दिवाकरौ····

× × ×

आचार्य देवचन्द्र सूरि का धंधूका नगरी में पदार्पण क्या हुआ, एक महोत्सव जाग उठा।

एक भी तो ऐसा व्यक्ति दिखाई नहीं देता था जो प्रसन्न न हो, उत्साह में भरा उस उपाश्रय की ओर न जा रहा हो जहाँ आचार्यश्री ने स्थिति की थी। ऐसा प्रतीत होता था जैसे सारी दिशाएं उपाश्रय-दिशा बन गई हैं। सारे मार्ग उपाश्रय-मार्ग हो गए हैं।

केवल जैन धर्मावलम्बी नागरिक ही नहीं, उस धंधूका नगरी का प्रत्येक नागरिक, जैन-अजैन, ब्राह्मण, क्षत्रिय, शूद्र—कोई भी हो, सामाजिक व्यवस्था के नाते कोई भी संज्ञा धारण करता हो, था तो वह एक मानव ही, और आज मानवमात्र जैन उपाश्रय की ओर जा रहा था—आचार्यश्री के दर्शन एवं चरण-वंदना हेतु।

श्रेष्ठी हो अथवा रंक, व्यापारी हो अथवा श्रमिक, यहाँ तक कि स्वस्थ हो अथवा अस्वस्थ, उसे आचार्यवर के दर्शन तो पाने ही थे। इस महापुण्य से वंचित कौन अभागा रहना चाहेगा? ऐसे पुण्य-अवसर जीवन में क्या बारबार आते हैं? इससे पूर्व आचार्यश्री पाँच-छह वर्ष पहले उस नगरी में पधारे थे। अब आज उनका शुभागमन हुआ है, आगे जाने कब हो? इस दुर्लभ अवसर को कैसे खो दिया जा सकता है?

धंधूका नगरी को आचार्य का परिचय था। वह जानती थी कि जैनाचार्य देवचन्द्र सूरि कौन हैं? नगरी का एक-एक व्यक्ति जानता था कि वे एक महापुरुष हैं, महाज्ञानी धर्मात्मा सन्त हैं। उनका दर्शन, उनकी अमोघ कल्याणी वाणी का श्रवण आत्मा को शान्ति प्रदान करता है, जीवन को दृष्टि देता है, अन्धेरे रास्तों में उजाला फैला देता है।

आचार्यवर को जैनाचार्य कहा जाता था। ठीक भी था। क्योंकि वे जिनधर्म का पालन करते थे। किन्तु धंधूका वासियों ने जान लिया था कि जिनधर्म ही तो मानवधर्म है। और मानवधर्म है प्राणिमात्र की कल्याण-कामना।

अतः धंधूका नगरी में उस दिन महोत्सव छा गया था। सभी ने अपना-अपना दैनन्दिन व्यापार स्थगित कर दिया था और सभी जा रहे थे आचार्यश्री की वन्दना हेतु। उपाश्रय-स्थल विशाल था। फिर भी छोट पड़ रहा था। क्योंकि नगरी उपाश्रय-स्थल से वृहत्तर थी। अतः आचार्य देवचन्द्रसूरि को विनम्र धंधूका वासियों को उपदेश देने हेतु उपाश्रय से

बाहर निर्मित किए गए एक विशाल पाण्डाल में विराजना पड़ा था। वे एक ऊँचे काष्ठपीठ पर आसीन थे। उनके सामने भूमि पर धंधूका नगरी के श्रद्धालु नागरिक करबद्ध बैठे थे। यदि उस दृश्य को आज अपने अन्तर्नेत्रों से देखा जाय तो कुछ ऐसा प्रतीत होगा कि एक अछोर मानव-समुद्र लहरा रहा है और क्षितिज पर आचार्यश्री के रूप में एक प्रकाशित, तेजोमय सूर्यबिम्ब स्थित है।

उस दिन संक्षेप में ही आचार्य देवचन्द्र सूरि ने नागरिकों को उद्बोधन दिया। मानो मंत्र बोले हों। अन्त में वीतराग भगवन्त, जैनधर्म तथा आचार्यश्री की जय-जयकार सहित मानव मेदिनी प्रणिपात सहित लौट गई। प्रबुद्ध नागरिक जानते समझते थे कि आचार्यश्री का समय मूल्यवान है।

सब लौट गए। शान्ति छा गई।

आचार्यश्री अपने पाट से उठने का उपक्रम कर ही रहे थे कि एक सम्भ्रान्त महिला ने समीप आकर वन्दन किया और विनय की—

"गुरुदेव ! मांगलिक प्रदान कीजिए।"

आचार्यश्री ने दृष्टि उठाकर देखा, पहचाना और कहा—

"धर्मलाभ ! आर्ये ! तुमने विस्मरण किया नहीं ?"

"विस्मरण ? कैसा विस्मरण गुरुदेव ? आपको कोई कभी भी भूल सकता है ? क्या कोई साँस लेना भी भूल सकता है ? जाने या अनजाने भी ? आपश्री का पुण्य-स्मरण तो मुझे सोते-जागते, जाने-अनजाने, सदा बना ही रहता है। आपने यह कैसा प्रश्न किया गुरुदेव ?"

इस बीच उस सौम्य श्राविका की अंगुली थामे एक पांच वर्ष के बालक ने आगे बढ़कर आचार्यश्री के चरण स्पर्श कर लिए थे और फिर वह हाथ जोड़कर शान्त खड़ा था।

आचार्यश्री के एक शान्त, मधुर दृष्टि निक्षेप ने यह देखा था और उस एक ही क्षण के दृष्टि निक्षेप में त्रिकाल उजागर हो चुके थे।

वे बोले—

"आर्ये ! तुम्हें धर्मलाभ हो, पुनः कहता हूँ तथा विस्मरण के प्रसंग में पूछता हूँ—तुम्हें अपने उस स्वप्न का स्मरण है जो इस बालक के जन्म से पूर्व तुम्हें आया था तथा मैंने उसके फलितार्थ के विषय में कुछ कहा था, अपने अल्पज्ञान के आधार पर ?"

वह श्राविका पाहिनीदेवी थी। वह बालक चंगदेव था।

आचार्यश्री के इस कथन को सुनकर पाहिनीदेवी क्षणभर के लिए स्तम्भित-सी रह गई। पांच-छह वर्ष पूर्व की स्मृति, चंगदेव के जन्म से पूर्व का उसका स्वप्न, आचार्यश्री का कथन, सब कुछ उसके मस्तिष्क में क्षण मात्र में कौंध गया। मां की ममता की सहज चेष्टावश, अजाने उसने अपने पांच वर्ष के पुत्र को कुछ अपने समीप खींच लिया, चुप खड़ी रह गई, खड़ी ही रही, मौन, कुछ बोल न सकी।

आचार्यश्री के नेत्रों में एक अनन्य करुणा भाव आ गया। उन्होंने कहा—

"आर्ये! प्रत्येक परिस्थिति में शान्त भाव से विचार एवं व्यवहार करना चाहिए। क्षण जो व्यतीत होते हैं, लौटते नहीं हैं। धर्मलाभ।"

यह 'धर्मलाभ' संकेत था कि अब आचार्य अपने अन्य धर्मकार्यों हेतु उपाश्रय में जायेंगे।

पाहिनीदेवी ने मौन, मूर्तिवत् आचार्यश्री को प्रणिपात किया। बालक ने भी शीष नमाया और आचार्यश्री उठकर चले गये।

\+ \+ \+

सारे रास्ते पाहिनीदेवी का मन उन्मन-उन्मन ही रहा। उसे सब कुछ याद आ गया था। उसके लाड़ले, उसकी आंखों के तारे, दुलारे चंगदेव के जन्म से पूर्व उसे एक स्वप्न आया था—

चिन्तामणि! एक चिन्तामणि रत्न उसे मिला है, और वह चिन्तामणि रत्न उसने आचार्य देवचन्द्रसूरि के चरणों में रख दिया है""उसने उसे आचार्यदेव को समर्पित कर दिया है।

उसने इस स्वप्न का अर्थ, अभिप्राय, आचार्यवर से पूछा था। उत्तर मिला था—

"आर्ये! शुभ स्वप्न है। भवितव्य का कथन उचित तो नहीं है किन्तु प्रतीत होता है कि तुम्हें एक ऐसे पुत्ररत्न की प्राप्ति होगी जो अपने ज्ञान और चारित्र का पुण्य-प्रकाश इस समूची सृष्टि में फैलाएगा। कोई चाहे न चाहे, सूर्य उदित होगा तो प्रकाश तो होगा ही।"

बस, इतना ही तो कहा था आचार्यश्री ने, पाहिनीदेवी सोच रही थी। शय्या पर लेटे-लेटे भी उसे चैन नहीं था। जाने क्यों? एक ओर उसे

परम धन्यता का अनुभव हो रहा था, दूसरी ओर उसकी मां की ममता गुहारों पर गुहारें मचाए जा रही थी····

यह सब क्या हो रहा था ? क्यों ? उसे कुछ भी समझ में आ नहीं रहा था।

तभी चंगदेव को आगे किए दो-चार बालक कक्ष में घुस आए। शोर मचाते बोले, यानी उन बालकों में से किसी एक की आवाज पाहिनीदेवी ने सुनी—

"माताजी ! माताजी ! देखो तो इस चाँगिया—चंग ने आज क्या किया···?

पाहिनीदेवी ने उन प्यारे बच्चों को देखा, अपने लाड़ले चंगदेव को मुस्कराते देखा और पूछा—

"क्यों भई बच्चो ! क्या बात है ? क्या किया है इस शैतान ने ?"

"माताजी ! आज हम उधर खेलने गये थे महाराज के यहाँ, तो यह चंग खेलता-खेलता महाराज की गद्दी पर जा बैठा। हाँ, सबसे बड़े महाराज की गद्दी पर मां ! क्यों चंग नहीं बैठा था तू, बोल ?" —एक बालक ने इस आशा और उत्साह से अपने मित्र की शिकायत की कि अब चंग को पड़ेगी डाँट।

पाहिनीदेवी उठकर बैठ गई थी। शिकायत सुनकर वह चुपचाप अपने चंग को कुछ क्षण देखती रही। ऊपर से शान्त, अविचल। किन्तु भीतर कहीं भूचाल !

आखिर उसने पूछा—"क्यों रे चंग ! मेरे बेटे ! तू गुरुदेव के पाट पर बैठा था क्या ?

"हाँ, माँ, बैठा था !" —निस्संकोच निर्भय सहजभाव से चंगदेव ने उत्तर दिया। उसकी कल्पना तक में नहीं आया कि यह कोई अपराध किया हो उसने।

पाहिनीदेवी ने हाथ बढ़ाकर चंगदेव को अपने पास खींच लिया और कहा—

"बेटा ! ऐसा नहीं करते। आचार्यश्री कितने महान सन्त हैं ? उनके पाट पर ऐसे बैठा जाता है कहीं ? तूने ठीक नहीं किया।"

चंगदेव को अपनी माता की यह हल्की भर्त्सना कुछ समझ में आई नहीं। उसने अपनी भोली-भाली, विशाल आँखें अपनी माँ की आँखों में डालते हुए कहा—

"माँ ! क्या मैं अच्छा बच्चा नहीं ? गुरुदेव के पाट पर मैं क्यों नहीं बैठ सकता ?"

कोई उत्तर था कहीं जो एक ममतामयी माता अपनी आँखों के तारे एक मात्र बेटे को दे सकती ?

वह माता तो आशंका, विचार, कल्पना, भावना, भक्ति और समर्पण के हिन्डोले में झूल रही थी। बेटे ने पूछा था—गुरुदेव के पाट पर मैं क्यों नहीं बैठ सकता ? और गुरुदेव ने कहा था—तुम्हें अपने स्वप्न का विस्मरण तो नहीं हुआ ? ऐसा ही कुछ तो कहा था गुरुदेव ने। उस कथन का अभिप्राय क्या था ? मेरा स्वप्न ? इस बेटे के जन्म से पूर्व मुझे स्वप्न आया था कि एक चिन्तामणि मुझे मिली है, और वह मैंने गुरुदेव को भेंट कर दी है। और उस स्वप्न का अभिप्राय मैंने जब गुरुदेव से पूछा था तब उन्होंने क्या बताया था ? क्या कहा था आचार्यश्री ने ?

कहा था—आर्ये ! शुभ स्वप्न है। तुम्हें एक ऐसे पुत्ररत्न की प्राप्ति होगी जो मानव-इतिहास में अमर रहेगा। किसी चिन्तामणि के सदृश वह प्रत्येक जिज्ञासु प्राणी को परम शान्ति का प्रदाता होगा। धर्म की ध्वजा को वह अनन्त आकाश की ऊँचाइयों तक फहराएगा। यह गुजरात है। वीरों की वसुन्धरा है। किन्तु मालवा और काश्मीर तथा काशी देवी सरस्वती की वीणा की झंकार से निनादित रहते हैं। गुजरात में लोहा तो बजता है, किन्तु सरस्वती की वीणा की झंकार सुनाई नहीं देती। आर्ये ! यह तुम्हारा सुपुत्र गुजरात में—धर्म, संस्कृति तथा साहित्य की त्रिवेणी प्रवाहित करेगा। ऐसा अद्‌भुत होगा इसका जीवन, इतना कर्मठ होगा इसका चारित्र कि बड़े से बड़े राजाधिराज भी इसकी चरण-वन्दना करते थकेंगे नहीं। इसकी अजस्र लेखनी से सरस्वती का प्रवाह अवतरित होगा आर्ये ! उससे गुजरात गौरवान्वित होगा। भारतवर्ष धन्य होगा। और····।

पाहिनीदेवी को याद आया—और, कहकर गुरुदेव मौन हो गए थे तथा मैं चुपचाप लौट आई थी।

उसी दिन से मेरे दो व्यक्तित्व हो गए थे। एक माँ का, विशुद्ध मातृत्वमय व्यक्तित्व और दूसरा····दूसरा मेरा व्यक्तित्व इस गुर्जरभूमि की, इस मातृभूमि भारतमाता की एक बेटी का व्यक्तित्व····

कोई टकराहट है क्या इन दो व्यक्तित्वों में ?

मैं माँ हूँ। चंग मेरा बेटा है। मेरी गोद में ही रहेगा।

लेकिन क्या मैं इस भारतभूमि की बेटी नहीं हूँ ? क्या मेरा चंग भारतमाता के ऋण की अदायगी नहीं करेगा ? गुरुदेव ने कहा था वह असामान्य पुरुष होगा। वह किसी एक माँ का ही पुत्र होकर नहीं, समस्त मानवता की थाती बनकर चिरकाल तक पूजित होगा····

हे प्रभु ! हे वीतराग भगवन्त ! मैं क्या करूँगी ? मुझे लगता है यह चंग तो मुझे छोड़कर जायगा ही। कल गुरुदेव को लेकर आया था जंगल से तो कैसा प्रसन्न था, मानो त्रिलोक की सम्पदा खोज लाया हो कहीं से। और तब से अब तक घड़ी भर भी घर तो ठहरता ही नहीं····और अभी क्या सुनती हूँ····ये बच्चे कहते हैं और यह दुष्ट स्वयं भी तो कहता है, हाँ, माँ, गुरुदेव के पाट पर मैं बैठा था, तो क्या हुआ ? क्या हो गया ? क्या मैं गुरुदेव के पाट पर नहीं बैठ सकता ?

अब मैं इसे क्या कहूँ ? मैं क्या करूँ ? क्या होगा प्रभु ?

"जाओ, बच्चो, खेलो तुम लोग। मुझे थोड़ा आराम करने दो। जा बेटा चंग, जा खेल मेरे बेटे !"

बच्चे खेलने चले गये। पाहिनीदेवी करवटें बदलती पड़ी रही, सोचती रही। अब तक आचार्यश्री ने कुछ कहा तो नहीं था और चंगदेव ने भी कुछ नहीं कहा था, किन्तु आचार्यश्री के संकेत में तो स्पष्टता थी। चंगदेव को आचार्यश्री की शरण में जाना चाहिए। स्वयं अपने, परिवार के, गुर्जर भूमि के, भारतवर्ष के तथा समस्त मानवता के कल्याण के लिए।

भावी की अटल छाया पाहिनीदेवी को दिखाई देने लगी। वह बहुत विचारवान, धर्मनिष्ठ महिला थी। उसका चंग आचार्यश्री के कथनानुसार इतना बड़ा महापुरुष बनेगा, प्राणिमात्र का कल्याण करेगा, गुर्जर भूमि को साहित्य-सम्पदा से भर-भर देगा —यह सब कितना अच्छा होगा ? चंग का जीवन धन्य हो जाएगा। उसका मातृत्व भी सफल हो जाएगा। किन्तु···।

किन्तु····किन्तु····किन्तु।

वह अपने लाडले को छोड़ कैसे सकेगी ? उससे अलग होकर वह जीवित कैसे रह सकेगी ? वह सुकोमल बालक कठोर मुनिमार्ग पर चल कैसे सकेगा ? एक अबोध बालक के लिए इतना संयमपूर्ण जीवनयापन क्या शक्य हो सकेगा। क्या उसे अपनी माता और पिता की याद नहीं आएगी ?

अरे, मैं क्या-क्या सोचती चली जा रही हूँ ? चंग के पिताजी अभी यहाँ हैं भी तो नहीं। व्यापार के लिए विदेश गए हुए हैं। जाने कब तक

लौटेंगे ? वे यहाँ होते तो उन्हीं से कुछ परामर्श करती। मुझे सहारा मिलता। कोई मार्ग दिखाई देता। उनकी अनुपस्थिति में मुझे तो कुछ भी सूझता नहीं। आचार्यश्री तो एक-दो दिन में विहार कर अन्यत्र चले जाएंगे। यदि उन्होंने मुझे अपना वचन पालन करने का संकेत दिया, यदि चंग ने जिद ठान ली तो मैं क्या करूँगी ?

पाहिनीदेवी उलझती ही चली गई।

× × ×

एक दिन, दो दिन, तीन दिन व्यतीत हो गए। धंधूका नगरी में वही आनन्द और उल्लास का वातावरण बना रहा। आचार्यश्री की शान्त, कल्याणी विमल वाणी ने मानो उस नगरी के समस्त पापों का प्रक्षालन कर दिया था। उस नगरी में सुख और शान्ति की हवा बह रही थी। चंगदेव का अधिकांश समय आचार्यश्री के समीप ही व्यतीत होता था। नगरी के गंभीर, जिज्ञासु, प्रतिष्ठित प्रमुख नागरिक आचार्यश्री को घेरे रहते थे। चंगदेव भी वहीं बैठा-बैठा उनके वार्तालाप को सुनता रहता। खूब भूख-प्यास लगने पर घर जाता अवश्य, किन्तु फिर भाग आता। उपाश्रय में ही अन्य बालकों के साथ घूमता-फिरता या बालक्रीड़ा में संलग्न हो जाता, जब तक मुनिजन अपने दैनिक धर्मकार्यों में संलग्न रहते तब तक। किन्तु जैसे ही आचार्यश्री कक्ष से बाहर आकर सभागार में अपने पाट पर आसीन हुआ करते, अन्य धर्म प्रेमी सज्जनों के साथ चंगदेव भी वहीं उपस्थित मिलता। उसे तो ऐसा ही लगा करता मानो वह अपने घर में ही बैठा है।

अन्ततः एक दिन आचार्यश्री ने सूचित किया—

"कल सूर्योदय के बाद विहार होगा।"

उपस्थित नागरिक यह सुनकर सहसा उदास हो गए। वे सभी हाथ जोड़कर विनयपूर्वक कहने लगे—

"गुरुदेव ! इतनी जल्दी ! अभी कुछ दिन तो आपश्री यहीं विराजें।"

"नहीं भाई, अब आगे बढ़ना तो है ही। उधर स्तम्भ-तीर्थ की ओर जाना आवश्यक है। कल सूर्योदय के पश्चात् शुभ वेला है।"

यह सुनकर चंगदेव ने कहा—

"मैं माताजी को यह खबर दे देता हूँ, गुरुदेव ! अपनी तैयारी भी कर लेता हूँ। मुझे भी तो आपके साथ चलना है....।"

उसको यह बात सुनकर कुछ व्यक्ति चकित हुए, जिन्हें पाहिनीदेवी के स्वप्न के विषय में जानकारी नहीं थी। जिन्हें जानकारी हो गई थी, वे चकित तो नहीं हुए किन्तु कुछ पलों के लिए उनकी साँसें भी अटक गईं। वे मन ही मन सोचने लगे—अब वह घड़ी आ ही पहुँची। देवी पाहिनी क्या करेंगी? कैसे सहन होगा उनसे यह कठिन अवसर? श्रेष्ठिवर तो विदेश में हैं। माता-पिता दोनों की आज्ञा अनिवार्य है। चंगदेव मान जाए ऐसा दीखता नहीं। बड़ा प्रतापी बालक है। तब क्या होगा इस परिस्थिति में? कैसे निकल सकेगा कोई मार्ग?

उपस्थित जन इन्हीं विचारों में पड़ गये थे कि चंगदेव का कथन सुनकर आचार्य देवचन्द्र सूरि ने अपना दाहिना हाथ उठाकर चंगदेव को ठहरने का संकेत किया और कहा—

"वत्स! इतनी जल्दी नहीं करनी चाहिए। कुछ सोचना-विचारना चाहिए। तुम अभी बहुत छोटे से बालक हो। तुम्हारे पिताजी लौट आएँ तब किसी अच्छे विद्यालय में प्रवेश ले लेना और....।"

"नहीं नहीं, गुरुदेव! मुझे किसी अन्य विद्यालय में प्रवेश नहीं लेना है। मेरे गुरुदेव तो आप ही हैं। क्या आप मुझे नहीं पढ़ाएंगे? आपने तो कहा था कि तुम चाहोगे तो मैं तुम्हारा ही हूँ। फिर? नहीं गुरुदेव! मैं अभी माताजी के पास जाऊँगा।"

इतना कहकर और शीष झुकाकर चंगदेव तो भाग ही छूटा।

उसके चले जाने पर कुछ समय तक कोई कुछ नहीं बोला। अन्ततः आचार्यश्री ने कहा—

"धर्मप्रेमी सज्जनो! आप सब इस नगरी के प्रमुख पुरुष हैं। श्रेष्ठिवर चाचिग विदेश में हैं। यह बालक अडिग निश्चयी है। इसका भविष्य अब तो मेरी दृष्टि में हस्तामलकवत स्पष्ट हो चुका है। यह इसकी मात्र बालहठ ही नहीं है, यह तो इसकी आत्मा की अटल पुकार है। इसे महान जनाचार्य बनकर सूर्य की भाँति जगमगाना ही है। ऐसा होना ही है और होगा भी। अब प्रश्न है कि वर्तमान स्थिति में क्या समुचित मार्ग निकाला जाय। आप सभी लोग इस बालक के लिए पितृतुल्य ही हैं। प्रयत्न कीजिए श्रेष्ठिवर के लौट आने तक इसे समझा-बुझाकर रोक सकें तो श्रेष्ठ है। इसकी माता से विचार-विमर्श कर लीजिए।"

असमंजस में डूबे हुए वे सभी प्रमुख पुरुष धीरे-धीरे मौन, आचार्य श्री को वन्दन कर बिदा हुए।

श्रेष्ठिवर चाचिग की अनुपस्थिति में धंधूका के जैन श्रेष्ठि समाज का नेतृत्व करने वाले श्रेष्ठि धनपाल मौन चल रहे थे। कुछ लोग उनके साथ, कुछ उनके पीछे थे। कुछ दूर चलकर रास्ते का एक मोड़ आने पर धनपाल रुके। उनकी विशाल हवेली के लिए मार्ग उधर से ही फटता था। साथ के सज्जनों को सम्बोधित करते हुए वे बोले—

"कुछ समझ में नहीं आता बन्धुओ! आप लोगों में से सम्भवतः कुछ लोग जानते होंगे कि यह बालक चंगदेव वास्तव में एक महापुरुष है। इसका अवतरण ही गुजरात और भारतवर्ष में जैन धर्म की ध्वजा चारों दिशाओं में फहराने के लिए हुआ है। यह कोई सामान्य बालक नहीं, यह तो विद्या, वैराग्य और वीतरागत्व की मूर्ति है।"

इतना बोलते-बोलते श्रेष्ठि धनपाल का हृदय एक ओर तो श्रद्धा तथा गौरव से एवं दूसरी ओर वात्सल्यभाव में भर आया। वे फिर मौन हो गए। एक व्यक्ति ने उनकी यह बात सुनकर सहज जिज्ञासावश पूछा—

"सेठजी, आपकी बात समझ में नहीं आई। चंगदेव के रंग-ढंग भी समझ नहीं पड़ते। पूज्य आचार्यश्री के सांकेतिक कथन में भी गहरा रहस्य भरा दीखता है। कुछ साफ साफ समझाइए। यह लड़का चाहता क्या है? गुरुदेव क्या चाहते हैं?"

श्रेष्ठि धनपाल ने तब आकाश की ओर एक दृष्टि फेंकी और फिर उपस्थित समुदाय को लक्ष्य कर कहा—

"बन्धुओ! सभी प्रकार की इच्छाओं पर विजय पा लेने वाले पूज्य गुरुदेव क्या चाहेंगे भला? वे तो भविष्यद्रष्टा हैं। उन्हें दीख रहा है कि आज का यह छोटा-सा बालक कल का कलिकाल सर्वज्ञ महान् जैनाचार्य है। वे क्या चाहेंगे? विश्व में धर्म, प्रेम, करुणा, मैत्री की भावना रहे, संसार के सभी जन परस्पर आत्मोय भाव से व्यवहार करें इसके अतिरिक्त गुरुदेव की अन्य क्या भावना संभव है? और गुरुदेव को दीख रहा है, बहुत समय पूर्व ही वे जान चुके थे कि यह महान् संदेश आक्षितिज भूमि पर फैला देने वाला परम पुरुष इस चंगदेव के रूप में गुर्जरभूमि पर अवतरित हो चुका है। वस्तुतः इसके अवतरण से पूर्व ही गुरुदेव ने यह बात जान ली थी।"

"आश्चर्य है ! अजीब बात है, धनपाल जी आपको यह बात कैसे ज्ञात हुई ?"—उस व्यक्ति ने पूछा।

तब आगा-पीछा विचार कर श्रेष्ठि धनपाल ने उन सभी धर्मप्रेमी महानुभावों को पाहिनीदेवी के उस स्वप्न की बात बताई और अन्त में कहा—

"इस प्रकार, बन्धुओ, विक्रम संवत ११४५ की कार्तिक पूर्णिमा को इस चंगदेव का जन्म हुआ और हमारी नगरी धन्य हुई। हमारी नगरी ही क्या, यह गुर्जर देश धन्य हो गया है, हमारी यह भारतभूमि धन्य हो गई है। मैं तो एक व्यापारी आदमी हूँ, क्या जानूं कि उस कार्तिक पूर्णिमा को सद्धर्म की सोम-सुधा बरसाने वाला यह कोई चन्द्रमा उगा था अथवा ज्ञान का प्रकाशमान तेजस्वी सूर्य ? बस इतना जानता हूँ कि यह चंगदेव एक ऐसा महापुरुष है जिसका जन्म शताब्दियों में कभी-कभी ही होता है।

"लेकिन भाइयो, अब सवाल तो यह है कि किया क्या जाय ?"

श्रेष्ठि धनपाल का यह कथन सुनकर सब लोग सोचते रह गये। फिर एक व्यक्ति ने कहा—

"वास्तव में समस्या तो विकट ही है। यदि चंगदेव ने जिद की तो बड़ी कठिनाई होगी।"

"और वह श्रेष्ठिवर चाचिग का इकलौता पुत्र है। वे भला उसे साधु-जीवन के कठिन मार्ग पर कैसे जाने देंगे ?" दूसरे व्यक्ति ने कहा।

"मैं तो कहता हूँ कि उनका तो हृदय ही फट जायगा। वे चंगदेव को कितना प्यार करते हैं ? व्यापार के लिए उन्हें यदि विदेश न जाना पड़े तो वे एक क्षण के लिए भी अपने पुत्र को अपनी आँखों से ओझल नहीं करते हैं।"—तीसरे व्यक्ति ने जोड़ा।

तब श्रेष्ठि धनपाल ने कहा—

"तो भाइयो, ऐसा किया जाय कि आज तीसरे पहर पाहिनीदेवी के घर चला जाय और बालक चंगदेव को समाझने-बुझाने का प्रयत्न किया जाय। अभी वह गुरुदेव के साथ न जाने के लिए सहमत हो जाए तो फिर श्रेष्ठिवर कुछ समय में लौट ही आएंगे, फिर जो होगा वह देखा जाएगा।

"यही ठीक है। ऐसा ही करना चाहिए।" सभी ने सहमति व्यक्त की तथा निश्चय रहा कि तीसरे पहर पाहिनीदेवी के घर पर सब लोग एकत्रित हों।

भोजनोपरान्त पाहिनीदेवी के विश्राम का समय था। किन्तु उस दिन कैसा विश्राम ? चंगदेव अपनी माता के पीछे पड़ा हुआ था—माँ ! मैं गुरुदेव के साथ जाऊँगा। मुनि बन जाऊँगा। विद्या प्राप्त करूँगा। इस संसार में रखा ही क्या है ?

पाहिनीदेवी सोच रही थी—यदि चंग चला गया तो फिर मेरे लिए और इसके पिता के लिए भी इस संसार में क्या शेष रह जाएगा ?

किन्तु विदुषी, संयमशीला और विवेकवान वह धर्मप्रेमी महिला, यह भी जानती थी कि धर्म से बढ़कर तो इस संसार में और कुछ है भी नहीं, वह एक माँ है, चंग उसका इकलौता, लाड़ला बेटा है, यह तो सत्य है, किन्तु यह नाता कितने समय का है ? जीवन में कितनी बार, कितने जन्मों में, कितने जीवों के साथ, क्या-क्या सम्बन्ध जीव बाँधता है ? उनका अन्त क्या होता है ? एक न एक दिन ये सभी नाते टूट ही जाते हैं—आज नहीं तो कल।

तब जो कल होना ही है वह यदि आज ही हो जाय तो अधीर क्यों होना चाहिए ? यह तो निश्चय ही है कि चंग जाएगा। उसे धर्म पुकार रहा है। समाज और समूची मानवता उसे पुकार रही है। क्या वह अपने पुत्रमोह में पड़कर उस महान् पुकार की अवहेलना कर दे ? समाज की कितनी-कितनी माताओं ने अपने लाड़ले-लाल धर्मगुरुओं के चरणों में धर दिए हैं ? कितनी माताओं-बहनों-पत्नियों ने अपने पुत्र-भाई-पतियों को देश की सुरक्षा और महानता की रक्षार्थ अर्पण किया है ? तब वह, धंधूका के नगर श्रेष्ठि की धर्मपत्नी, क्या पुत्रमोह में पड़ी रहकर एक महान् धर्मकार्य की अवहेलना करेगी ? उसमें व्यवधान उपस्थित करेगी ? अपने होनहार बेटे के भावी उज्ज्वल और महान् जीवन के लिए क्या वह इतना भी त्याग नहीं कर सकेगी ? अपने हृदय की भावुकता को कर्तव्य की कसौटी पर कस कर कंचन के समान चमकीला नहीं देखना चाहेगी ?

पाहिनीदेवी इन्हीं विचारों में खोई बैठी थी और धीरे-धीरे अपने मन को मजबूत बना रही थी।

उसी समय एक परिचारिका ने कक्ष में प्रविष्ट होकर सूचना दी—"स्वामिनी ! श्रेष्ठि धनपाल तथा समाज के कुछ अन्य प्रमुख पुरुष आपसे भेंट करना चाहते हैं। द्वार पर उपस्थित हैं।"

पाहिनीदेवी तुरन्त उठी । अपने अस्त-व्यस्त वस्त्रों को ठीक-ठाक करके वह अतिथि-कक्ष की ओर बढ़ते हुए बोली—

"सभी लोगों को आदर सहित अतिथि-कक्ष में ले आ ।"

परस्पर अभिवादन के पश्चात् सभी के द्वारा उचित स्थान ग्रहण कर लेने पर पाहिनीदेवी ने कहा—

"आप सबका स्वागत है । आज्ञा कीजिए, आप महानुभावों ने कैसे कष्ट किया ?"

सभी को संकोच था । एक ममतामयी माता से उसके इकलौते लाल को माँग लेना कोई सहज कार्य तो नहीं ? हृदय को पाषाणवद् कठोर बनाना पड़ता है । कुछ क्षण खाँसने-खंखारने के बाद श्रेष्ठि धनपाल ने कहा—

"देवि ! धर्म संकट की स्थिति का अनुभव हो रहा है । हम लोग क्या कहें और कैसे कहें, कुछ समझ में नहीं आता ।"

समाज के उन प्रमुख पुरुषों के आगमन के प्रयोजन का अनुमान पाहिनीदेवी को कुछ हो तो चुका ही था । उसने धैर्य धारण करते हुए बड़ी ही शालीनतापूर्वक कहा—

"महोदय ! आप लोग संकोच न करें । जो भी बात हो, स्पष्ट कहिए ।"

"देवि ! कल प्रातःकाल गुरुदेव अपनी शिष्य मंडली सहित विहार कर रहे हैं, यह तो आपको ज्ञात ही है । और आपका···नहीं, भूल हुई, आपका ही नहीं, हम सबका, पूरी धंधूका नगरी का लाडला चंगदेव उनके साथ जाना चाहता है····।"

"जानती हूँ, श्रेष्ठिवर ! मैं भी असमंजस और चिन्ता में पड़ी हूँ । किन्तु अब मैंने धैर्य धारण कर लिया है । मेरा चंग अब अकेले मेरा ही होकर नहीं रहना चाहता । वह समस्त गुर्जर देश का, सम्पूर्ण आर्यावर्त्त का एक रत्न बन जाना चाहता है । यही नियति प्रतीत होती है । इस नियति के समक्ष कोई कर भी क्या सकता है ? किन्तु····।"

यह 'किन्तु' कितना भीषण था यह वहां उपस्थित सभी लोग समझ रहे थे । कुछ ठहरकर श्रेष्ठि धनपाल ने कहा—

"देवि ! आप तो धन्य हैं, जिनकी कोख से यह चिन्तामणि रत्न प्रगट हुआ है । और आप महान् हैं, जो इस महामूल्यवान रत्न को धर्म की प्रभावना हेतु गुरुदेवश्री के चरणों में रख देने के लिए प्रस्तुत भी हो गई

हैं। हम समझ सकते हैं कि यह कितना बड़ा त्याग है, कितनी महान् तपस्या है, कैसा उदार दान है ! एक माता अपने ऐसे होनहार छोटे-से बालक को मुनि-जीवन के दुर्धर्ष मार्ग पर जाने देने के लिए सहर्ष प्रस्तुत हो जाय इससे बड़ी बात संसार में और क्या हो सकती है ?"

"श्रेष्ठिवर ! मैं एक माँ हूँ, यह आपने ठीक ही कहा। किन्तु अब सोचती हूँ कि एक सच्ची माता की सार्थकता क्या इसी में नहीं है कि वह संसार के सभी बालकों की माता बन जाए—जगज्जननी का रूप धारण कर ले ?"

पाहिनीदेवी का यह कथन सुनकर तो वहाँ उपस्थित सभी लोग चकित रह गये। उनके हृदय उमड़ आए। आँखें भर आईं। इस महान् मातृत्व के सन्मुख वे लक्षाधिपति एवं कोट्याधिपति स्वयं को बहुत क्षुद्र अनुभव करने लगे। जैसे-तैसे श्रेष्ठि धनपाल ने कहा—

"माता ! आप आयु में हमसे छोटी हों या बड़ी, किन्तु इसी क्षण से आज हम सभी की महिमामयी माता हैं। आपको हमारे शत-शत वन्दन !"

"ऐसा न कहें श्रेष्ठिवर ! आप सभी मेरे आदरणीय हैं। अब प्रश्न यह है कि चंग के पिताजी इस समय यहाँ उपस्थित नहीं हैं। ऐसी स्थिति में क्या किया जाना चाहिए, यह विचार कीजिए।"—पाहिनीदेवी ने अपार धैर्य एवं प्रगाढ़ विनम्रतापूर्वक कहा।

तब धनपाल श्रेष्ठि ने अपने रेशमी दुपट्टे के छोर से अपनी नम आँखें पोंछते हुए कहा—

"माता ! चंगदेव हम सभी का है। हमने कुछ विचार किया और इसी निर्णय पर हम लोग पहुँच सके हैं कि चंगदेव को गुरुदेवश्री के साथ जाने तो देना चाहिए। कुछ समय गुरुदेवश्री के साथ रहेगा तो उसका कल्याण ही होगा, ज्ञानवर्धन ही होगा। हानि तो कुछ होगी नहीं। फिर श्रेष्ठिवर चाचिग जब लौट आएँगे तब अन्तिम निर्णय तो उन्हीं का रहेगा। क्यों बन्धुओ ! आप लोग क्या कहते हैं ?"

यह प्रश्न श्रेष्ठि धनपाल ने अपने साथियों से किया था। सभी ने कुछ भारी-भारी मन से, दबे-दबे से स्वर में यही उत्तर दिया कि ऐसा ही करना उचित होगा।

जो अटल था और जो सम्भाव्य था, वह निर्णय हो गया।

पाहिनीदेवी ने कहा—

"आप सब आदरणीय महानुभावों को इस कुटिया पर पधारने तथा चंगदेव के विषय में पितृस्थान पर स्वयं को समझकर चिन्ता तथा विचार करने के लिए मैं आप सभी की ऋणी हूँ। आप सभी ने मुझे मार्गदर्शन दिया है, साहस बँधाया है।

"और अब भोजन का समय हो रहा है। आप सभी महानुभाव कृपया भोजनशाला में पधारें। भोजन तैयार है।"

"नहीं नहीं, देवि ! इतना कष्ट न करें। हम लोग अब अपने-अपने घर ही जाएँगे। आप भी भोजन-विश्राम तथा नित्य-नियमादि से निवृत्त हों, किसी बात की चिन्ता आप न करें, यही प्रार्थना है। नमस्कार !" —श्रेष्ठि धनपाल ने सबकी ओर से कहा तथा वे लोग विदा हो गये। द्वार तक चलकर पाहिनीदेवी ने आतिथ्य-धर्म का निर्वाह किया।

सूर्यास्त होने में कुछ समय शेष था।

किन्तु सूर्योदय होने में अधिक विलम्ब नहीं था।

आर्यावर्त्त के आकाश पर एक अभिनव भुवन-भास्कर प्रकट होने को थे।

●

(दो)

६६

आचार्यश्री अपनी मुनि-मंडली सहित स्तम्भतीर्थ की ओर विहार कर गए।

ऐसे, जैसे कमल-पत्र पर से जल-बिन्दु फिसल जाय।

समस्त जगत् के प्राणिमात्र की कल्याण-कामना हृदय में धारण करते हुए भी आसक्ति तो कहीं होती नहीं साधु को। प्रेम है, दया है, करुणा है। और यह सब अथाह है। किन्तु आसक्ति नहीं है। मोह नहीं है। किसी स्थान से, किसी व्यक्ति से, किसी परिवेश अथवा परिस्थिति से।

सब समान है।

सम भाव है।

यही साधु का स्वभाव है। फिर आचार्य देवचन्द्रसूरि तो परम ज्ञानी, गहन चिन्तक, दृढ़ तपस्वी आचार्य थे। धंधूका नगरी में आए तो धंधूका धन्य हो गई। वहाँ से आगे बढ़ गए तो जहाँ-जहाँ, जिधर-जिधर चरण पड़े धरती पर महोत्सव मनता चला गया। तथा वे स्वयं उस कमल-पुष्प-पत्रवत् ही बने रहे जिस पर ग्राम-नगर-देश के जलबिन्दु आकर घड़ी भर आश्रय लेते और विदा हो जाते हैं।

कमलपुष्प एक ही स्थान पर स्थित रहता है। जल बिन्दु, नीहार-कण आते, बिछल जाते हैं।

आचार्यश्री भी कहाँ आ रहे थे ? कहाँ जा रहे थे ? वे तो वस्तुतः आत्मस्थित थे। चल तो समय रहा था—संसार था चलायमान।

इस चलायमान संसार में आचार्य देवचन्द्रसूरि धंधूका से विहार कर स्तम्भतीर्थ की ओर चल पड़े। चंगदेव उनके साथ था। आचार्यश्री के चले जाने से धंधूका नगरी उदास होगई थी और चंगदेव के चले जाने से वह सूनी दिखाई देती थी—चुपचुप, कहीं खोई सी, मूक-मौन !

ऐसी मूक, उदास, ठहरी-सी धंधूका नगरी में एक दिन संध्या समय अनेक तीव्रगामी रथों की घरघराहट फैल गई। तेजस्वी अश्वों की टाप से दिशाएँ डोलती-सी लगीं। धंधूकावासी चौंक पड़े—कोई आक्रमण हुआ है क्या ? नहीं, शान्त, समभाव से जीवन यापन करने वाली धंधूका पर आक्रमण कौन करेगा ? तब ? अरे हाँ ! श्रेष्ठिवर चाचिग लौटकर आए

होंगे। उन्हीं के रथों की आवाज है यह। बैलों के गले में बँधी सोने-चाँदी की घंटियों की यह मधुर ध्वनि धंधूकावासियों की पहचानी हुई है। हाँ, हमारा ध्यान किधर था? ये तो श्रेष्ठिवर लौट आए लगते हैं। बहुत अच्छा हुआ, उनकी अनुपस्थिति में धंधूका तेजहीन-सी हो जाती है। अब वे लौट आए हैं तो सब ठीक हो जायगा।

इस आश्वस्त भाव से धंधूकावासियों ने श्रेष्ठिवर चाचिग का हार्दिक स्वागत किया। नगर-द्वार पर ही उन्हें पुष्पमालाओं से ढक दिया गया। इष्ट-मित्र, प्रियजन, परिजन अपने आनन्द और उल्लास को प्रकट किए बिना कैसे रह सकते हैं? भेंट-भलाई का लम्बा क्रम चला। एक-दूसरे के गले लगते वे लोग ऐसे लगते थे उस दिन जैसे देवताओं का कोई प्रेम-मिलन महोत्सव हो रहा हो।

यह सब स्वाभाविक था। जब-जब भी लम्बी यात्रा तथा लम्बे अन्तराल के पश्चात् श्रेष्ठिवर चाचिग अथवा अन्य कोई श्रेष्ठि धंधूका लौटते थे तब ऐसा ही आनन्दोत्सव होता था। आज भी हुआ। किन्तु फिर भी कहीं कुछ खटक-सा रहा था। धंधूकावासियों के हृदय श्रेष्ठिवर के आगमन से प्रफुल्लित थे, किन्तु उस प्रफुल्लता पर कहीं कोई अँधियारी छाया-सी पड़ी भी दीखती थी।

श्रेष्ठिवर चाचिग से यह स्थिति अज्ञात नहीं रह सकी। उन्हें लगा कि कहीं, कुछ न कुछ, असम है। किन्तु क्या है, क्या बात हो सकती है, इसका कोई संकेत उन्हें प्राप्त न हो सका।

सभी लोग प्रसन्न दिखाई देते थे।

किन्तु साथ ही ऐसा भी लगता था कि जैसे सभी लोग अभी-अभी रो पड़ेंगे।

कुछ समझ में आ नहीं सका। श्रेष्ठिवर का मन हुआ कि लोगों से पूछ ही लें—क्या बात है, बन्धुओ? कुछ अप्रिय घटित हुआ है क्या?

किन्तु उस हर्षोल्लास की मंगलवेला में किसी अप्रिय का प्रसंग छेड़ना उन्होंने अन्ततः उचित नहीं समझा। ऐसा कुछ स्पष्ट दिखाई भी नहीं देता था। तब घर तक तो चलना ही चाहिए। सम्भव है कि यह सब मेरे मन का ही कोई भ्रम हो। कुछ अप्रिय घटित न हुआ हो नगरी में और मैं व्यर्थ ही भ्रामक आशंका कर रहा होऊँ?

हवेली की ओर चलते-चलते फिर भी मन माना नहीं। श्रेष्ठि धन-पाल को उन्होंने अपने रथ में बिठा लिया था। पूछ ही लिया—

"धनपाल जी ! सब कुशल तो है न ?"

"हाँ हाँ, श्रेष्ठिवर ! सब""सब कुशल ही तो है। गुरुदेव का पदार्पण हुआ था। खूब आनन्द रहा। सब कुशल है। कुछ ही दिन हुए वे विहार कर गए हैं""।"

"ओह ! धनपाल जी ! मैं ही अभागा रह गया। मुझे कुछ विलम्ब हो गया लौटने में। गुरुदेव के दर्शन मेरे भाग्य में नहीं लिखे थे। किधर विहार हुआ है उनका ?" —श्रेष्ठिवर चाचिग ने पूछा।

"स्तम्भतीर्थ की ओर गये हैं वे यहां से।"

इसी प्रकार की कुछ वार्ता हो पाई। श्रेष्ठि धनपाल जान-बूझकर विषय को टालते जा रहे थे। उनका साहस नहीं था कि वह चंगदेव के विषय में कोई प्रश्न आ जाय तो उत्तर दे सकें।

तीव्रगामी रथ शीघ्र ही श्रेष्ठिवर की हवेली के मुख्य द्वार पर पहुँच भी गए।

रथ से उतरते हुए श्रेष्ठिवर चाचिग ने कहा—

"आइये धनपालजी, आज भोजन साथ ही करेंगे। भोजन का समय हो भी गया है। बहुत दिन हुए आप सबसे बिछुड़े। बातचीत भी होती जाएगी। आइये !"

अनेक बार ऐसा हुआ भी था। चाचिग विदेश-प्रवास से लौटते तो धनपाल तथा अन्य साधर्मीबन्धु उनके साथ ही भोजनादि कर लेते, या अन्य श्रेष्ठि कभी लौटते तो चाचिग उनके साथ ही उनके घर चले जाते। निश्छल बन्धुभाव जहाँ हो, वहाँ यही स्थिति सहज है।

किन्तु आज स्थिति सहज नहीं थी। धनपाल भीतर ही भीतर आशंकित थे। चंगदेव की अनुपस्थिति का ज्ञान जब श्रेष्ठिवर को होगा तब क्या होगा ? कैसे वे देख सकेंगे श्रेष्ठिवर के गहन दुःख को ? अतः इस समय उन्होंने विदा लेना ही उचित समझा। कहा—

"श्रेष्ठिवर ! अभी तो आप थके हुए हैं। भोजन-विश्राम तो लीजिए। फिर मैं आता हूँ। अच्छा, जय जिनेश्वर !"

इतना कहकर धनपाल बस चल ही दिए।

श्रेष्ठिवर चाचिग को यह व्यवहार कुछ असहज लगा। उनका माथा थोड़ा और ठनका। किन्तु वे कुछ जान तो सकते नहीं थे। और अपने

लाड़ले बेटे को अपनी छाती से लगा लेने को वे उत्कंठित भी हो रहे थे। अतः वे हवेली के द्वार में प्रविष्ट हो गये।

एक ही कदम भीतर रखते ही उन्होंने पुकारें लगानी आरम्भ कर दीं —"चंगदेव ! बेटा ! कहाँ है तू ? देवी ! कहां हो भाई ? अपना चंग कहां छुपा बैठा है ? अब आ भी जा सामने बेटा ! चलो, हम हार गए। नहीं ढूंढ़ पाए तुम्हें। अब आओ तो भला....।"

कहते-कहते श्रेष्ठिवर चारों ओर अपनी दृष्टि दौड़ा रहे थे। पाहिनी देवी ने पुकार सुन ली थी। वे शान्त, धीर गति से प्रगट हुईं। उनके हाथ में आरती का थाल सजा था। अपने पति देवता की आरती उतारते और तिलक करते उन्होंने कहा—

"इस बार बहुत विलम्ब किया आपने, मेरे देव ! आइए, बैठिए खूब थक गए न ?"

"अरे कैसी थकान ? वह तो तुम्हें और चंग को देखकर पलमात्र में काफूर हो जाती है। लेकिन वह है कहाँ ? कहां है मेरा चंग ? दिखाई ही नहीं दे रहा शैतान ? कहाँ छुप गया है ?"

"आप बैठिए तो, बताती हूँ ?"

यह सुनकर श्रेष्ठिवर का हृदय जोर-जोर से धड़कने लगा। कोई अनहोनी हो गई क्या ? हे जिनदेव ! दया करो, दया करो प्रभु ! मन ही मन ऐसी आशंका और उसके साथ प्रार्थना लिए चाचिग विस्मय-विमूढ़ नेत्रों से अपनी पत्नी को देखते-देखते यन्त्रवत् आसन पर बैठ गए। घबराए स्वर में बोले—

"क्या बात है देवी ! बोलो, शीघ्र कहो, कहाँ है मेरा चंग ?"

"आप शान्त रहें देव ! अपने चंग को कुछ हुआ नहीं है। वह प्रसन्न है।"

"कृपा है जिनदेव की। किन्तु वह है कहाँ ?"

"वह गुरुदेव के साथ गया हुआ है। लौट आएगा। आप जाकर ले आइएगा उसे। गुरुदेव के दर्शन भी हो जाएँगे।"

"हाँ, यह तो ठीक है। किन्तु ...वह गया क्यों ? तुमने उसे जाने ही क्यों दिया ? गुरुदेव के साथ वह पैदल चल रहा होगा ? और मैं आने वाला था। मुझे छोड़कर वह चला कैसे गया ?"

पाहिनीदेवी धैर्य की, शान्ति की आगार ही थीं। किन्तु वे इस प्रश्न

का क्या उत्तर दें कि वह मुझे छोड़कर चला कैसे गया ? वह निर्मोही तो माता-पिता ही क्या सारे संसार को ही ठुकरा देने के लिए कटिबद्ध था।

और उसके इस त्याग में समूची सृष्टि को ही अपने आत्मा में समा लेने की महद् भावना थी।

पाहिनीदेवी ने यकायक किसी आघात से अपने पतिदेव को बचाए रखने की भावना से इतना हो उत्तर दिया—

"देव ! बालक है, कभी-कभी जिद कर बैठता है। कहता था गुरुदेव के साथ रहकर ज्ञान प्राप्त करूँगा। माना ही नहीं। मैंने ही क्या, सभी ने तो उसे समझाया था। किन्तु आप चिन्ता न करें। गुरुदेव के साथ वह वह सकुशल है, प्रसन्न है, सुरक्षित है....।"

'वह सब तो है, देवि ! किन्तु....किन्तु मैं उसके बिना एक पल भी कैसे रह सकता हूँ ?"

"आप जाकर उसे ले आइएगा। चलिए, अब हाथ-मुंह धो लीजिए। भोजन का समय निकल जाएगा। आप थके-हारे आए हैं। उठिए। बाद में शान्ति से सब विचार कर लीजिएगा। अपना चंग खूब आनन्द में है देव ! मेरा विश्वास कीजिए।"

विश्वास मानव-जीवन का बहुत बड़ा सहारा है।

श्रेष्ठिवर चाचिग ने उसी विश्वास का सहारा लिया। कुछ शान्त हुए और उठ गए।

किन्तु वह सारी रात उन्होंने तारे गिन-गिनकर ही बिताई।

\+ \+ \+

ऊबड़-खाबड़ धूल भरे रास्तों पर रथ कुछ धीरे चल पाएगा, अतः श्रेष्ठिवर चाचिग ने सुबह होते ही दैनन्दिन धार्मिक कार्यों से निवृत्ति पाकर अपने सेवक को आदेश दिया—

"केशव ! मेरा अश्व तैयार कर ला।"

"अश्व ? कहीं जाना है क्या स्वामी ? आप कल ही तो लौटे हैं।"

स्वामिभक्त सेवक, जो घर के सदस्यों की भाँति ही था, चकित था, चिन्तित भी था। उसे अपने स्वामी के इरादों का अनुमान तो था, किन्तु

फिर भी उसने अनजान बनकर ही पूछा। श्रेष्ठिवर ने कुछ खीझकर कहा—

"आजकल तू बहुत बोलने लगा है केशव ! चुपचाप जो कहा जाय वह किया कर। सुना नहीं तूने ? मेरा अश्व ले आ।"

"जो आज्ञा, स्वामी !"—कहकर केशव चला गया। श्रेष्ठिवर चाचिग विदा लेने भीतर पाहिनीदेवी के पास चले गए। जब वे यात्रा के लिए पूरी तरह तैयार होकर पुनः बाहरी कक्ष में लौटे तब तक केशव भी वहाँ आ चुका था। उसने कहा—

"आपका अश्व तैयार है स्वामी !'

"ठीक, चलो।"

एक नहीं, दो अश्व तैयार थे। एक श्रेष्ठिवर का, दूसरा केशव का। श्रेष्ठिवर ने बनावटी क्रोध प्रगट करते हुए केशव से कहा—

"यह दूसरा अश्व किसलिए तैयार किया है ?"

"अपने लिए, स्वामी ! मैं भी तो आपके साथ चलूंगा न ? बाबा (चंगदेव) की याद मुझे भी बहुत आ रही है।"

श्रेष्ठिवर जानते थे कि केशव ने सोच लिया है तो करके ही मानेगा। सेवक होते हुए भी वह मुंहलगे भाई जैसा ही था। अतः उन्होंने अधिक कुछ कहना और समय नष्ट करना निरर्थक ही समझा। इतना ही कहा—

"तू बड़ा दुष्ट हो गया है। अच्छा, चल भाई, तू मानने वाला थोड़े ही है ?"

द्वार पर पाहिनीदेवी साक्षात् धर्म की शान्त ध्वजा की भांति दिखाई पड़ रही थीं। श्रेष्ठिवर ने एक दृष्टि उधर डाली और मौन अभिवादन कर अपने अश्व को एड़ लगादी। अश्व तीव्र गति से चल पड़ा। केशव अपने स्वामी के पीछे छाया की भाँति लग गया।

\+ \+ \+

"गुजरात की राजधानी अणहिलपुर पाटण थी। मालवा की उज्जयिनी की भांति वह भी अपनी शोभा और समृद्धि में इन्द्रपुरी की तुलना कर सके इतनी वैभवशालिनी थी। इतिहासप्रसिद्ध नरश्रेष्ठ, नृपति सिद्धराज जयसिंहदेव उस समय गुजरात के शासक थे। उनके हृदय में, एक प्रेरणा अविराम जलती हुई दीपशिखा की भाँति प्रज्वलित रहती थी। वह

प्रेरणा, वह सदाकांक्षा थी—गुर्जर भूमि को भारतवर्ष की एक आदर्श व श्रेष्ठ भूमि बना देने की। अपने गुजरात को वे एक ऐसा देश बना देना चाहते थे जहां की प्रजा देवताओं की तरह सुख से निवास करे और जहां प्रेम, सौहार्द और ज्ञान का समुद्र लहराता हो। गुजरात की सीमा में बसने वाला एक भी व्यक्ति निराश न हो, कोई भूखा न रहे, किसी को अभाव न सताए, किसी के साथ अन्याय न हो, ऐसी उदार आकांक्षा अपने हृदय में सेवित कर रहा था राजा सिद्धराज जयसिंहदेव।

हाँ, तो अभी हम स्तम्भतीर्थ में हैं। सागर-तीरे बसा हुआ यह नगर गुजरात के व्यापार का केन्द्र था। समुद्र-पार के दूर-दूर के देशों के व्यापारी इस बन्दरगाह से आकर्षित होकर अपनी जान जोखिम में डालकर जलयानों में अपार सम्पत्ति ढोकर वहाँ आया करते थे। व्यापार अहर्निश चला करता था। विदेशी स्तम्भतीर्थ में उतरा करते थे और गुजरात के लोग विदेश जाया-आया करते थे। इस प्रकार स्तम्भतीर्थ धन-सम्पत्ति का एक अटूट स्रोतस्थल बना हुआ था। वहां के बाजारों में व्यापार की अन्य सैकड़ों वस्तुओं के अलावा रत्नों के ढेर लगे रहते थे। हीरे-मोती, नीलम-पुखराज, माणिक्य-मणियों की ऐसी जगर-मगर वहाँ बनी रहती थी कि उनके प्रकाश के कारण रात्रि में भी दूकानों में दीपक जलाने की आवश्यकता न थी।

इतने समृद्ध, ऐसे व्यस्त और भीड़-भाड़ से भरे नगर में सुव्यवस्था बनाए रखना कोई आसान कार्य तो नहीं है, किन्तु गुर्जरनरेश इस विषय में विशेष सतर्क रहा करते थे। वहाँ किसी ऐसे दण्डनायक को रखा जाता था जो अत्यन्त कुशल व्यवस्थापक हो, पारंगत राजनीतिज्ञ हो तथा जो जनता की मनोभावनाओं का अचूक पारखी हो।

गुजरात के सौभाग्य से उस समय सिद्धराज जयसिंहदेव के पास एक ऐसा ही व्यक्ति था—मंत्रीश्वर उदयन।

मंत्रीश्वर उदयन उस समय स्तम्भतीर्थ के दण्डनायक थे। उनकी सजग और सहानुभूतिपूर्ण सूक्ष्म मेधा से आरक्षित स्तम्भतीर्थ निवासी चैन की नींद सोते थे।

घरों और दूकानों में ताले लगाए तो जाते थे, किन्तु यदि न भी लगाए जाते तो किसी का साहस नहीं था कि चोरी करले। अथवा किसी कुघड़ी में किसी की मति मारी जाय और वह ऐसा कोई कार्य कर ही बैठे तो फिर वह मंत्रीश्वर उदयन की व्यवस्था से बच निकले यह असम्भव था।

मन्त्रीश्वर उदयन की आँखें दिन-रात देखा करती थीं।

लोगों को विश्वास था कि एक तो ईश्वर सब कुछ जानता है और दूसरे मंत्रीश्वर उदयन सब कुछ देखते हैं।

उन्हीं मंत्रीश्वर उदयन के विशाल आवास के मुख्य द्वार पर एक दिन धूलि-धूसरित दो अश्वारोही आ खड़े हुए।

एक थे श्रेष्ठि चाचिग और दूसरा था उनकी छाया केशव।

चाचिग श्रेष्ठि अपने अश्व से उतरे, उसे एक बार थपथपाया और आगे बढ़कर द्वारपाल से कहा—

"मुझे मंत्रीश्वर से मिलना है।"

"अवश्य, महाशय ! किन्तु मंत्रीश्वर तो अभी हैं नहीं ?"

"कहाँ गए हैं ?"

"वे आचार्य देवचन्द्रसूरि की प्रातःकालीन प्रवचन-सभा में प्रतिदिन जाते हैं। वहीं गए हैं।"

चाचिग श्रेष्ठि खूब थके हुए थे। कुछ पल विचार में पड़ गए कि अब क्या किया जाय ?

क्या किया जाय ? उपाश्रय तक ही चला जाय। मेरा चंग भी वहीं होना चाहिए। वहीं से उसे ले लूंगा। उसे देखने को आँखें तरस रही हैं। यह सोचकर उन्होंने द्वारपाल से पूछा—

"उपाश्रय—मार्ग बता सकते हो ?"

द्वारपाल ने पूर्व दिशा की ओर जाते एक मार्ग की ओर संकेत कर दिया। चाचिग श्रेष्ठि उधर जाने के लिए अपने अश्व पर सवार होना ही चाहते थे कि एक अश्वारोही उसी मार्ग से वहां आया। वह कोई राज-सेवक दिखाई दे रहा था अपनी वेश भूषा से। श्रेष्ठि के समीप आकर उस राजसेवक ने उन्हें आदर अभिवादन किया और कहा—

"क्षमा करें, श्रेष्ठिवर ! मुझे तनिक-सा विलम्ब हुआ। आइए, भीतर पधारिए। मंत्रीश्वर थोड़े ही समय में आने वाले हैं। मुझे आज्ञा है कि तब तक मैं आपके स्वागत तथा विश्रामादि की व्यवस्था करूँ। आइये, पधारिये।"

चाचिग श्रेष्ठि को कुछ आश्चर्य हुआ कि स्तम्भतीर्थ में प्रविष्ट होकर वे तो सीधे मंत्रीश्वर के आवास पर ही अभी-अभी ही आए हैं, फिर मंत्रीश्वर को मेरे आने की सूचना कैसे मिल गई ? वे मुझे पहचान कैसे

गए ? और इतनी तत्परता से उन्होंने एक राजसेवक को यहाँ कैसे भेज भी दिया····

उस राजसेवक ने चाचिग श्रेष्ठि के मन में उठ रहे विचारों को समझ लिया। आखिर वह उदयन मंत्रीश्वर की सेवा में था। वह बोला—

"श्रेष्ठिवर ! आप कुछ विचार न करें। मंत्रीश्वर की दृष्टि दिन-रात प्रदेशों का पहरा देती है। उनकी जानकारी के बाहर कहीं कुछ नहीं होता। तथा मंत्रीश्वर की अतिथि-सेवा तो सारे गुजरात में विख्यात है। आइए, आप बहुत दूर से आए हैं, बहुत थके होंगे। चलिए, विश्राम लीजिए। मंत्रीश्वर शीघ्र ही आते होंगे।"

मंत्रीश्वर उदयन की इन अद्‌भुत क्षमताओं पर विचार करते हुए चाचिग श्रेष्ठि राजसेवक के साथ भीतर चले गए। आवास के भीतर प्रविष्ट होने से पूर्व राजसेवक ने संकेत किया और केशव तथा दोनों अश्वों के लिए भी समुचित व्यवस्था तुरन्त कर दी गई।

रास्ते की धूल झाड़ लेने और हाथ-मुंह प्रक्षालित कर लेने के बाद चाचिग श्रेष्ठि राजसेवक के निवेदन करने पर एक मूल्यवान रेशमी आसन पर बैठे ही थे कि आवास में हलचल बढ़ गई····मंत्रीश्वर उदयन आ पहुँचे थे।

बड़े से बड़े शत्रु को भी अपनी निश्छल, मोहक मुस्कान से मोह ले, वशीभूत करले, ऐसे आकर्षक व्यक्तित्व के धनी मंत्रीश्वर उदयन ने उस सुसज्जित कक्ष में प्रवेश किया और चाचिग श्रेष्ठि का अभिवादन करते हुए कहा—

"जय जिनेश्वर, चाचिग श्रेष्ठि ! आप आ गए। बहुत अच्छा हुआ। मैं तो स्वयं ही आपको संदेश भेजने वाला था।"

"जय जिनेश्वर, मंत्रीश्वर ! मेरा चंगदेव कहाँ है ?"

"आता ही होगा, मैंने उसे कह दिया है कि आप आ गए हैं। वैसे वह मेरे पास कम और आचार्यश्री के पास ही अधिक रहता है। अद्‌भुत बालक है आपका चंगदेव। लीजिए, वह आ ही गया····।"

चंगदेव दौड़ता हुआ आया और अपने पिता से लिपट गया। पिता ने अपने बेटे को छाती में भर लिया और उसका मस्तक सूंघकर उस पर हाथ फेरते चले गए। उनकी आँखें भरी-भरी थीं। कुछ समय ऐसे ही व्यतीत हो गया। फिर उन्होंने चंगदेव से कहा—

"बेटा ! तुम अपनी माता को अकेली छोड़कर ऐसे कैसे चले आए ?

मेरे आने की राह भी तुमने नहीं देखी। चलो, अब तैयार हो जाओ। घर चलना है।"

"पिताजी ! मैं अभी घर नहीं चलूंगा। मुझे गुरुदेव के पास रहना है।"

"गुरुदेव के पास रहना है ? घर नहीं चलना है ? कैसी बातें करते हो बेटा ? तुम्हारे बिना मैं एक दिन भी नहीं रह सकता।"

"तब आप जब व्यापार के लिए विदेशों में जाते हैं तब कैसे रहते हैं ? कितने महीनों बाद लौटते हैं ? कभी-कभी तो साल भर से भी अधिक हो जाता है।"

चंगदेव के इस प्रश्न से चाचिग श्रेष्ठि हतप्रभ हो गए। क्या उत्तर दें ? उन्होंने उसे अपनी गोद में और भी अधिक कसकर जकड़-सा लिया और बड़े प्यार से बोले—

"बेटा ! व्यापार के काम से तो आना-जाना लगा ही रहता है। लेकिन विदेश में भी तेरी याद तो मुझे प्रतिपल-प्रतिक्षण आती ही रहती है।"

"हाँ, पिताजी, सो तो आती ही होगी। मुझे भी आपकी और माता जी की याद आती है। लेकिन जब कोई काम करना हो तो याद आए तब भी काम तो पूरा करना ही चाहिए न ?"

अधिक और असमय खींचने से डोर टूट सकती है, यह बात मंत्रीश्वर उदयन से अधिक आर कौन जान सकता था ? पिता-पुत्र की यह वार्ता असमय ही कोई विषम स्थिति उत्पन्न न कर दे, यह सोचकर उन्होंने चंगदेव से कहा—

"बेटा चंगदेव ! तुम्हारे पिताजी ठेठ धंधूका से इतनी दूर आये हैं, थके हुए हैं। जाओ, थोड़ी देर खेलो, इन्हें विश्राम कर लेने दो। कहीं जाना नहीं। मैं तुम्हें अभी बुला भेजूँगा।"

"हाँ, मन्त्रीश्वर, मैं यहीं हूँ। पिताजी को आराम करना चाहिए।" —कहकर चंगदेव उछलकर गायब हो गया। चाचिग श्रेष्ठि उसे रोकना चाहते थे, किन्तु न कुछ कह सके और न ही उसे रोक पाए। वे कुछ-कुछ आहत से दीख रहे थे।

मंत्रीश्वर उदयन ने तब चाचिग श्रेष्ठि से कहा—

"श्रेष्ठि जी ! आप किस विचार में पड़े हैं ? जो होगा वह श्रेष्ठ

और श्रेयस्कर ही होगा। उठिए, पहले भोजनादि से निवृत्त हो लीजिए। फिर आप और हम शान्ति से बातचीत करेंगे।"

'नहीं मंत्रीश्वर! मुझे कुछ भी खाना-पीना नहीं है। मैं अपने पुत्र को ले जाने आया हूँ और लेकर जाऊँगा।"

स्तम्भतीर्थ के दण्डनायक, गुजरात के विचक्षण मन्त्री उदयन के समक्ष ऐसी भाषा का प्रयोग करने वाले व्यक्ति को भीषण परिणाम भुगतने पड़ सकते थे। चाचिग श्रेष्ठि भी यह बात जानते न हों सो बात नहीं थी। किन्तु वे पुत्र के मोह में अपना भान भूले हुए थे अतः इस प्रकार बोल गए।

किन्तु मन्त्रीश्वर उदयन के चेहरे पर केवल एक शान्त, सहानुभूतिपूर्ण मुस्कान ही थी। क्रोध की एक रेखा भी नहीं उभरी थी। वे विचारवान थे। जानते थे कि चाचिग श्रेष्ठि के हृदय में मोहजन्य पीड़ा है। उन्हें प्रेम, सहानुभूति तथा विवेक के मरहम की आवश्यकता है। उन्होंने कहा—

"चाचिग श्रेष्ठि! पुत्र आपका है, जब चाहें तब ले जाइये। आपको अधिकार है।"

"किन्तु मन्त्रीश्वर, आप लोगों ने उसे यहाँ रोक क्यों रखा है?"

"आप भारी भ्रम में हैं श्रेष्ठि! लगता है पिता होते हुए भी आप अपने पुत्र को जान नहीं पाए।"

"मैं अपने पुत्र को जान नहीं पाया? आप क्या कहते हैं मंत्रीश्वर?"

"ठीक कहता हूँ। जान गए होते तो ऐसा कहते नहीं कि किसी ने उसे यहाँ रोक रखा है। मैं आपको बताता हूँ चाचिग श्रेष्ठि! ध्यान से सुन लीजिए—आपका पुत्र पुंजीभूत अडिग संकल्प है। उसे कभी, कहीं, किसी के भी द्वारा रोक लिया जाना असम्भव है। वह कहीं रुकने के लिए इस मानव देह को धारण करके नहीं आया है। वह तो चिरप्रवहमान चैतन्य की एक धारा है। उसे कौन रोक सकता है? वह तो अमृत लेकर आया है जिसका वर्षण वह निखिल भुवन में करेगा ..."

"मन्त्रीश्वर! आप क्या कह रहे हैं? मैं कुछ समझ नहीं पा रहा हूँ....।"

"समझने की कोशिश करेंगे तो समझ भी जायेंगे और धन्य हो जाएँगे चाचिग श्रेष्ठि। फिलहाल विश्वास ही कीजिए। उदयन के वचन पर विश्वास तो कर सकते हैं न? अब उठिए, आइए भोजन करें—भोजनोपरान्त मेरी बात शान्ति से सुनियेगा और अपना निर्णय दीजिएगा। इतना

निश्चय मानिए कि आप जो चाहेंगे वही होगा। आप मेरे अतिथि हैं। स्वधर्मी बन्धु हैं। आइये !"

जैसे कुछ सूझ न रहा हो ऐसी मनःस्थिति में चाचिग श्रेष्ठि मन्त्रीश्वर का आतिथ्य स्वीकार करने अन्ततः उठ खड़े हुए।

× + +

भोजनादि से निवृत्त होकर जब मन्त्रीश्वर तथा चाचिग श्रेष्ठि स्वस्थतापूर्वक बैठे तब श्रेष्ठि ने कहा—

"मन्त्रीश्वर ! मेरा चंगदेव तो बालक है। बालक की धुन का क्या ? घर जाकर सब कुछ भूल जाएगा। आप तो उसे बुलवा दीजिए, मैं उसे ले जाऊँगा।"

"आपकी इच्छा, श्रेष्ठिजी, ले जाइए। किन्तु आप तनिक विचार तो कर लीजिए। चंगदेव बालक है, मैंने माना। किन्तु आप तो बालक नहीं हैं ? आप तो विवेकपूर्वक निर्णय कर सकते हैं न ?"

"मंत्रीश्वर ! सारा संसार जानता है कि आपके चक्कर में एक बार पड़े हुए व्यक्ति का फिर भगवान ही मालिक है। यदि मैं आपकी बात सुनने बैठ गया तो फिर अपने पुत्र को ले जा चुका....।"

मंत्रीश्वर उदयन को हँसी आ गई। बोले—

"चाचिग श्रेष्ठि, मैं कोई भूत तो नहीं हूँ कि मेरा चक्कर भयानक हो। आप ही की तरह मैं भी अपने गुजरात का एक बेटा हूँ। मुझे अपने गुजरात से, भारतवर्ष से प्रेम है। अपनी शक्ति के अनुसार मैं अपने देश की सेवा करना चाहता हूँ। महान् उद्देश्य की पूर्ति के लिए क्षुद्र व्यक्तिगत लाभ-हानि का विचार तो त्यागना ही पड़ता है। इसी दृष्टि में, इसी कर्त्तव्य में मानवता की भव्य भावना निहित है। क्या आप नहीं चाहते कि आप अपने गुजरात के लिए कुछ व्यक्तिगत त्याग करें ?"

"किन्तु मन्त्रीश्वर ! मैं धन दे सकता हूँ....।"

"वह तो मेरे पास भी इतना है कि उसका हिसाब रखना भी कठिन है। गुजरात के राजा के पास हम जैसे सेवक अभी मौजूद हैं। उसे धन की कमी नहीं है श्रेष्ठिजी !"

"तब फिर मैं क्या कर सकता हूँ ?"

"वही तो मैं आपको बताना चाहता हूँ। आपके पास अपने पुत्र चंगदेव के रूप में यह एक अद्भुत, अमूल्य चिन्तामणि रत्न है। इस रत्न

से समस्त गुजरात तथा सारे भारतवर्ष को प्रकाशित होना है। यदि आप इसे मोहवशात् अपने ही आँचल में छिपाकर रख लेंगे तो वह एक भयानक भूल होगी। उस भूल के लिए इतिहास आपको कभी क्षमा नहीं कर सकेगा। विचार कर लीजिए श्रेष्ठिजी !"

"क्या विचार करूँ मंत्रीश्वर ! मैं अपने पुत्र को इस प्रकार अपनी आँखों से दूर कैसे कर सकता हूँ ?"

"एक न एक दिन संसार के प्रत्येक प्राणी को एक-दूसरे की आँखों से ओझल होना ही पड़ता है। यह तो अटल और अपरिहार्य नियति है प्राणी की। क्या आप यह नहीं जानते श्रेष्ठिवर ?"

"किन्तु मेरा पुत्र अभी बालक है। साधु-जीवन के दुष्कर कष्ट वह कैसे सहन कर सकता है मंत्रीश्वर ?"

"चंगदेव तो जन्मजात महामुनि है, श्रेष्ठिजी ! कोई बाधा, कोई कष्ट उसके लिए उत्पन्न ही नहीं हुए। आप जिन्हें कष्ट समझ रहे हैं, वे तो उसके लिए साधना के सोपान हैं जिन पर एक-एक चरण धरकर वह मानव-जीवन के चरमोत्कर्ष के शिखर पर पहुँचेगा।

"और सुनिये, वह आपकी आँखों से ओझल होकर कहीं नहीं जाएगा। बस केवल धंधूका की धूल में से निकलकर वह धर्माकाश का सूर्य बनकर चमकेगा। उसका तेज, उसकी कीर्ति दिग्दिगन्तव्यापिनी बनेगी। सहस्र-सहस्र, लक्ष-लक्ष, कोटि-कोटि जन का तारनहार बनेगा वह। क्या आप ऐसा नहीं चाहेंगे ?"

"मंत्रीश्वर, आपकी बातें मुग्ध करने वाली हैं..... ।"

"चंगदेव, गुजरात तथा भारतवर्ष का भविष्य आपको मुग्ध करेगा, श्रेष्ठिजी ! मैं तो जो कुछ भी भावी है वही आपको कह रहा हूँ। सुनिये, पाटन के महान् आचार्य शांतिसूरिजी के विषय में तो आपने कुछ सुना है न ?"

"हाँ, सुना है। उनके पास दिव्य सिद्धियाँ थीं। उन्होंने पाटन के श्रेष्ठि जिनदेव के पुत्र को मृत्यु के मुख से बचा लिया था।"

"वह सर्पदंश अति भयानक था। आचार्य ने जिनदेव के पुत्र को चमत्कारिक ढंग से उस कराल विष की घातकता से बचा लिया था। ऐसी एक नहीं; अनेक आत्मिक सिद्धि तथा शक्तियों का स्वामी होगा आपका चंगदेव। गुजरात की प्रजा उसका जय-जयकार करते-करते थकेगी नहीं।

सरस्वती का उस पर वरद हस्त होगा। वह जब कभी धंधूका आएगा तब धंधूका नगरी उसके चरण पखारेगी। उस समय आप कितने गौरव तथा आत्मतोष का अनुभव करेंगे, तनिक विचार तो कीजिए।

"चाचिग श्रेष्ठि, मात्र शारीरिक सुख तो अधम व्यक्तियों के लिए ही होता है। मध्यम कोटि के व्यक्ति भौतिक सुख-समृद्धि में सुख का अनुभव करते हैं। किन्तु केवल उत्तम पुरुष ही अत्युत्तम आत्मधन की प्राप्ति करते हैं। आप अपने पुत्र को कैसा पुरुष देखना चाहते हैं?"

"अपना बेटा महान् बने, ऐसा कौन नहीं चाहेगा मन्त्रीश्वर? किन्तु··· ····।"

"अब भी यह किन्तु शेष रह जाता है क्या? तब आपको जैसी इच्छा। बुलाऊँ चंगदेव को? ले जाइये उसे आप अपने साथ·····।"

"नहीं नहीं, मंत्रीश्वर, मेरा यह अभिप्राय नहीं था। आपने मेरी दृष्टि में एक नया संसार ला दिया है। मैं अब समझ रहा हूँ कि मुझे अपने अस्थायी पुत्र-मोह पर विजय पानी चाहिए। इसी में सभी का कल्याण दिखाई देता है। चंगदेव का भी, हम माँ-बाप का भी और अपने गुजरात का भी।"

"समस्त भारतवर्ष, जैनधर्म तथा सम्पूर्ण मानवता का हित इसी में निहित है चाचिग श्रेष्ठि, कि आप इस समय अपने मोह पर अंकुश लगाएँ। चंगदेव आपका पुत्र तो है ही; किन्तु निकट भविष्य में ही वह महानतम जैनाचार्य बनकर हम सभी का शरणदाता बनेगा, यह आप अपनी इन्हीं आँखों से शीघ्र ही देखेंगे। बस, इससे अधिक अब मुझे क्या कहना है?"

इतना कहकर मंत्रीश्वर ने अपने नेत्र मूंद लिए।

चाचिग श्रेष्ठि के अन्तर्नयन खुल चुके थे। उन्हें अब अपने नेत्रों के सम्मुख एक ओजस्वी तेजस्वी वर्चस्वी बालक नहीं—संयम, तप, ज्ञान की दिव्य ज्योति से जगमगाता हुआ एक प्रतापी जैनाचार्य दिखाई दे रहा था जिसकी अभयमुद्रा से अजस्र अमृतधारा फूटी पड़ रही हो।

त्रिलोक में जिसका जय-जयकार गूंज रहा हो ऐसे अपने पुत्र की कल्पना से चाचिग श्रेष्ठि रोमांचित हो उठे।

उन्होंने उठकर मंत्रीश्वर के चरण पकड़ लिए और कहा—

"मंत्रीश्वर! अपना पुत्र मैं आपको भेंट करता हूँ।"

मंत्रीश्वर उदयन ने नेत्र खोले। उठकर चाचिग श्रेष्ठि को अपने गले से लगा लिया और कहा—

"चाचिग श्रेष्ठि ! आप धन्य हैं। आप परम पुण्यशाली हैं। अन्यथा चंगदेव जैसा महापुरुष आपकी गोद में कैसे पलता ? तथा लोक-कल्याण हेतु यह त्याग करने की सुमति आपको कैसे प्राप्त होती ? आइये, ज्ञान-दर्शन तथा चारित्र का अमृत-कोष प्राप्त करने के लिए हम चंगदेव को सविनय आचार्यश्री के पाद-पद्मों में समर्पित कर दें।"

●

(तीन)

ॐ

असह्य भीष्म ग्रीष्म से तपी भूमि पर चन्द्रमा शीतल सुधा-वर्षण करता है, संजीवन प्रदान करता है।

उसे सोम कहा जाता है।

आठ वर्ष के नन्हे से बालक चंगदेव ने जब आचार्य देवचंद्रसूरि से मुनि-दीक्षा ग्रहण की तब उसकी छवि, उसकी देह-कान्ति, उसके सौम्य मुख-मंडल का शान्त, सुखदायी तेज 'सोम' जैसा ही था, जिसके दर्शन मात्र से हृदय शीतल, आत्मा परितृप्त हो जाता था।

अतः मुनि-दीक्षा के पश्चात् चंगदेव का नाम सोमचन्द्र रखा गया।

वह मुनि हो गया था। वह जन्मजात महामुनि था। आठ वर्ष की आयु थी। उस बालवय में भी उसमें जो गांभीर्य, जो मेधा, जो तेजस्विता थी उसे देख-देखकर लोक विस्मित थे।

जब वह आचार्यश्री के साथ धंधूका से आया था तब लगभग पाँच वर्ष का था।

जब उसे मुनि-दीक्षा प्रदान की गई तब उसकी आयु लगभग आठ वर्ष से अधिक हो चुकी थी।

केवल तीन वर्ष।

किन्तु उन तीन वर्षों में चंगदेव 'सोमचंद्र' बन चुका था। जिस प्रतिभा को लेकर वह इस संसार में आया था वह अब खराद पर चढ़कर निखर आई थी।

मोटी आँख को दिखाई देने वाला कोयले का टुकड़ा हीरा भी हो सकता है।

चंगदेव तो कोयले जैसा कभी दिखा भी नहीं था। उसके जीवन की ज्योति-रश्मियाँ तो बालपन से ही फूटी पड़ रही थीं। अब तीन वर्ष आचार्य देवचंद्रसूरि के सहवास में रहकर, कहें कि तनिक खराद पर चढ़कर, वह हीरा जगमग-जगमग कर उठा था।

हीरा ! सोम ! सूर्य !

निश्चय ही तीनों भिन्न हैं। पदार्थ रूप से अथवा गुण-स्वभाव रूप से।

किन्तु प्रकाश तीनों प्रदान करते हैं।

सोमचंद्र कुछ ऐसे ही अद्‌भुत व्यक्तित्व का धनी महात्मा था। विश्व के महापुरुषों के विषय में कुछ कहा जाय तो सोमचंद्र विश्व के पुरुष-रत्नों में एक जगमगाते हीरे के समान था।

जिसके दर्शन मात्र से देह-मन-आत्मा शीतल हो ऐसा 'सोम' था।

और अज्ञान का अन्धकार जिसके उदय होते ही अदृश्य हो जाय ऐसा 'सूर्य' था वह।

आत्मा के विविध, असीम, अनन्त गुणों का आगार मुनि सोमचंद्र अब आचार्य देवचंद्रसूरि का अन्तेवासी एक मुनि था।

चाचिग श्रेष्ठि तथा पाहिनीदेवी के मन पर क्या बीती होगी अपने लाड़ले बेटे को आठ वर्ष की आयु में मुनि-दीक्षा ग्रहण करते देखते हुए ?

इस प्रश्न का उत्तर तो वे ही दे सकते थे। श्रेष्ठि तथा श्रेष्ठि-पत्नी। आप क्या उत्तर दे सकेंगे ?

आपने कभी कोई त्याग किया ही कब है ?

'त्याग' शब्द तो आप दिन-रात बोला करते हैं, सुना करते हैं, पढ़ा भी करते हैं, कभी-कभी।

किन्तु त्याग होता क्या है यह आपने कभी जाना नहीं शायद।

जाना होता तो आप नहीं पूछते,आप नहीं सोचते कि श्रेष्ठि चाचिग और पाहिनीदेवी के मन पर क्या बीती होगी ?

हम आपको बताएँ कि उनका मन अपने 'सोमचंद्र' को देखकर हर्ष से विभोर हो गया था। उन्हें अपने जीवन की धन्यता का अनुभव हुआ था। उन्हें लगा था कि उन्होंने कुछ भी खोया नहीं, प्राप्त बहुत कुछ कर लिया है। उनका लाड़ला चंगदेव कहीं गया कहाँ था ? वह तो वहीं था। वह तो एक ऐसा 'सोम' हो गया था जो केवल धंधूका की धूलि में नहीं— समूची सृष्टि पर सुधा-वर्षण कर रहा था।

इतनी जल्दी ? ऐसा अनुभव ?

जी हाँ ! यह पुण्य का प्रताप है। पाहिनीदेवी एक माँ थी। चाचिग श्रेष्ठि एक पिता थे। माँ-बाप सरलता से अपने बेटे को इस प्रकार नहीं छोड़ते। ठीक है।

किन्तु वे पुण्यवान आत्मा थे। तभी तो उनकी गोद में उतरकर आया था 'सोम' और तभी तो वे कर सके थे वह त्याग।

अपने 'सोम' को उन्होंने सौंप दिया था—सद्धर्म को।

यहाँ से करवट लेता है इतिहास।

× × × ×

इतिहास ?

क्या होता है इतिहास ?

जीवों ने जन्म लिया। जीव मर गए।

हो गया इतिहास ?

शायद नहीं।

यह तो संसार हुआ। संसार अनादि है। संसार अनन्त है। उसे चलते रहना है। जीवों को जन्म लेना है, जीवों को मरना भी है।

किन्तु इतिहास ? मानव-जाति का, सृष्टि का इतिहास ?

क्या केवल जीना-मरना ही इतिहास है इस सृष्टि का ?

नहीं। किसी मूल्य पर नहीं।

इतिहास का निर्माण करती हैं—वे आत्माएं जो महान् होती हैं और जिनके जीवन-व्यवहार से चरण-चरण पर, पल-पल प्रतिक्षण ज्योति के दीपक जला करते हैं। जिनके प्रकाश में—अंधकार में भटकते असंख्य जीव अपना मार्ग खोज लेते हैं।

अन्य कुछ नहीं होता इतिहास।

अन्य जो कुछ भी है वह निरर्थक है।

सम्राटों का जीवन और उनके कर्म इतिहास नहीं है।

अपने जीवन-व्यवहार से जो व्यक्ति मानवता को पहले से अधिक समृद्धि प्रदान करके जाते हैं, वे किया करते हैं इतिहास का निर्माण।

चंगदेव आठ वर्ष की आयु में 'सोमचन्द्र' बना। फिर सोलह वर्ष व्यतीत हो गए और 'सोमचन्द्र' तब कलिकाल-सर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र बन गए।

'सोमचन्द्र' से 'हेमचन्द्राचार्य' बन जाने की कथा भी कुछ जाननी चाहिए।

यह सारा काल मुनि सोमचन्द्र ने एक निष्ठा से ज्ञान-साधना तथा तपाराधना में ही व्यतीत किया।

अधिकांश रूप से मुनि सोमचन्द्र मौन के महासागर में निमग्न रहा करते थे। मौन की महिमा संसार के सभी महापुरुषों ने कही है। तथागत गौतम बुद्ध हों, भगवान महावीर हों अथवा आज के हमारे युग के अद्वितीय महापुरुष महात्मा गाँधी, इनने तथा अन्य सभी परम पुरुषों ने मौन को बहुत महत्त्व प्रदान किया है। मुनि सोमचन्द्र भी मौन के महत्त्व और महिमा को खूब जानते थे। अतः आचार्यत्व के शिखर तक को अपनी जीवन यात्रा में उन्होंने प्रमुख रूप से मौन मुनि-जीवन ही व्यतीत किया।

अध्ययन, मनन-चिंतन तथा तपश्चर्या ही उनकी दिनचर्या थी। इस बीच उहोंने क्या-क्या नहीं जान लिया? व्याकरण, योग, काव्य, कोष, न्याय, तत्वज्ञान, शब्दशास्त्र, इतिहास, पुराण इत्यादि सभी विषयों का गहन ज्ञान उन्होंने प्राप्त किया।

वे अल्पभाषी रहे। दिवा-रात्रि उनके स्वप्न में सिद्धसेन दिवाकर, हरिभद्र सूरि, अभयदेव सूरि, शांति सूरि, वादिदेव सूरि तथा अपने सम-कालीन सोमप्रभ सूरि इत्यादि महाज्ञानियों के चित्र प्रतिबिम्बित हुआ करते थे।

वे स्वयं ज्ञान के महासागर बन चुके थे। किन्तु उनकी ज्ञान-पिपासा का कहीं अन्त नहीं था। उनका योग अटल था। संयम अबाध था। इन्द्रियजय अनुकरणीय था।

उनकी स्मरण शक्ति तथा ज्ञान ग्रहण करने की सहज वृत्ति का तो कहना ही क्या था? विविध विषयों का अध्ययन वे करते जाते और वे विषय स्वयं ही उनकी आत्मा में प्रगट होते जाते। मानो वे पढ़ते नहीं थे, विद्या को वे ग्रहण नहीं करते थे, बल्कि समस्त विषय एवं विद्याएँ स्वयं ही उन्हें ग्रहण करती जाती थीं। प्रतीत होता था मानो समस्त कलाओं तथा विद्याओं की सरिताओं को अपने महासागर का मार्ग मिल गया हो।

वे सरस्वती की एकान्त उपासना कर रहे थे, किन्तु लगता ऐसा था जैसे कि स्वयं सरस्वती ने ही उन्हें अपनी गोद में बिठा लिया हो।

मुनि सोमचन्द्र विचारते थे कि इन्द्रियों पर विजय तो प्राप्त की ही जानी चाहिए।

धार्मिक जीवन व्यतीत करने तथा आत्मकल्याण की प्राप्ति के लिए

यह अनिवार्य तथा प्रथम सोपान है। किन्तु इन्द्रियों की सर्वथा अप्रवृत्ति को ही इन्द्रियजय नहीं माना जा सकता, बल्कि इन्द्रियों के समस्त विषयों में से रागद्वेषादि दूर कर दिए जायँ तथा उसके उपरान्त इन्द्रियों की सहज, स्वच्छ प्रवृत्ति हो, वही वास्तविक इन्द्रियजय कहा जाना चाहिए। इसी विचारधारा के अनुसार वे अपनी संयमी जीवनचर्या को अग्रसर कर रहे थे।

उन्हें किसी विषय में राग अथवा असक्ति नहीं थी। सहज अनासक्त प्रवृत्ति उनमें जग रही थी। उन्हें यश, कीर्ति, प्रशंसा का कोई लोभ नहीं था।

उनका अल्प भाषण बहुत गम्भीर था।

उनका मौन उससे भी अधिक मुखर होकर अन्तर्दृष्टि को दिग्-दिगन्तव्यापी बना देता था।

एक सच्चे शिष्य को शोभा दे ऐसी अटल गुरुभक्ति उनकी आचार्य देवचन्द्रसूरि के प्रति थी। उनके आदेश से जब-जब भी वे स्तम्भतीर्थ के उपाश्रय में प्रवचन करते तब जनसमुदाय मुग्ध होकर उनकी विमल वाणी को श्रवण करता था। उनका अगाध ज्ञान सभी को विस्मय में डाल देता था। जनता की प्यास बुझती नहीं थी। वे उनका उपदेश सुनते-सुनते मंत्र-मुग्ध बन जाते थे।

अधिकांश काल भगवान महावीर की भांति मौन के महासागर में निमज्जन करके उन्होंने एक ऐसी अद्वितीय सिद्धि प्राप्त कर ली थी कि जिसके सहारे वे सभी को अपनी ओर आकर्षित कर लेते थे तथा साधु अथवा असाधु दोनों को ही प्रभावित करते थे।

उनके शरीर, मन, प्राण, धर्म—इन सबके बीच कहीं कोई विसंगति शेष नहीं रही थी। जो कुछ भीतर था वही बाहर था। सम था। समभाव तथा समन्वय भावना के वे मूर्त्तरूप बन गए थे।

किन्तु उन्हें एक बात का विचार बहुत आता था कि गुर्जर प्रदेश कला, विद्या, ज्ञान की दृष्टि से बहुत रंक है।

समृद्धि अपार थी। शौर्य अथाह था।

पर सरस्वती नहीं थी।

कश्मीर के पंडित विख्यात थे। मालवा के कवि यशस्वी थे। किन्तु गुजरात में सरस्वती का अभाव था। गुजराती श्रेष्ठिगण हीरे-मोतियों से लदे तथा गुजराती योद्धागण शस्त्रों से सुसज्जित आते-जाते थे, लेकिन

उनके पास सरस्वती की मधुर सौरभ नहीं थी। उन्हें भाषा-समृद्धि का कोई विचार तक नहीं था।

यह अभाव उन्हें गम्भीर विचार में डाल देता था। गुजरात को भारतवर्ष में सरस्वती का केन्द्र बना देने के स्वप्न को वे संजोने लगे। वे एक नया स्वरूप देना चाहते थे। अपने गुरुदेव आचार्य देवचन्द्र के प्रति उनके हृदय में अनन्य, अटूट श्रद्धा थी, एकान्त भक्तिभाव था। उनकी आज्ञा के उल्लंघन का कहीं कोई प्रश्न उठता ही नहीं था। वे देहत्याग कर सकते थे, किन्तु गुरुदेव की आज्ञा का उल्लंघन नहीं कर सकते थे।

लेकिन उनके सरस्वती-स्वप्न को साकार रूप देने के लिए स्तम्भ-तीर्थ बहुत छोटा था। उन्हें पाटन जाना ही होगा। पाटन की राजसभा में पंडितों के बीच स्थान ग्रहण करना ही होगा। गुजरात को 'सरस्वती कण्ठाभरण' का रूप प्रदान करना ही होगा।

वे साधु थे। उनका जीवन धार्मिक जीवन था।

निस्संदेह।

किन्तु धार्मिक जीवन तथा साधुत्व की पूर्णरूपेण अनुपालना करते हुए भी उन्हें जीवन–व्यवहार में एक ऐसी समन्वय रेखा खींचनी थी कि जिससे गुर्जरदेश की साहित्य-समृद्धि का उनका अपना स्वप्न सत्य हो सके। धर्म की महानता पर कोई आंच भी न आए, किन्तु गुजरात की जनता को धर्म के साथ-साथ ही सरस्वती का वरदान भी प्राप्त हो सके। विद्याओं तथा कलाओं की विरासत भी मिल सके।

ज्ञान और धर्म के आगार मुनि सोमचन्द्र को लगता था कि जैसे यही उनका जीवन-कार्य है।

अपने इस जीवनकार्य को सिद्ध करने हेतु मन में एक समन्वय-रेखा, विवेकरेखा स्पष्ट रूप से उन्होंने अंकित कर ली थी।

जीवन में सच्चे विवेक की जागृति के लिए यह अनिवार्य भी था।

इस प्रकार वर्ष पर वर्ष व्यतीत होते चले गए।

गुरु देवचन्द्रसूरि को मुनि सोमचंद्र में एक नई, अद्वितीय, प्रतापपूर्ण प्रतिभा के दर्शन हुए। इस युवक साधु में उन्हें मात्र एक महान नैयायिक, वैयाकरणी अथवा विद्वान एवं तेजस्वी मुनि के ही दर्शन नहीं हुए, अपितु इस विलक्षण प्रतिभा में उन्हें एक विचित्र तेजस्वी भावना जगर-मगर करती हुई दिखाई देती थी।

मंत्रीश्वर उदयन परम प्रसन्न थे। जब भी मुनि सोमचंद्र कुछ प्रवचन

करते थे तब उनकी भाषा-शुद्धि एवं अर्थ-गांभीर्य से लोक समूह डोल उठता था। स्वयं गुरु देवचंद्रसूरि 'शिष्यादिच्छेत् पराजयम्'—इस भावना से परम सन्तोष का अनुभव करते थे।

किन्तु मुनि सोमचंद्र स्वयं सन्तुष्ट नहीं थे। उनके मन में महाकवि धनपाल तथा शांतिसूरि की विजय गाथाएँ दस्तक दिया करती थीं। उन्हें लगता था कि अभी उन्हें ज्ञान के महासागर के अतल में और भी गहरे पैठना है। सच्चे ज्ञानियों की भाँति वे स्वयं को अभी अज्ञानी ही मानते थे। महान् आत्माओं का यह एक अचूक लक्षण है।

अवस्था के प्रभाव से गुरु देवचंद्रसूरि की काया जर्जर हो चली थी। अतः उन्होंने अपने पट्टशिष्य जितेन्द्रिय मुनि सोमचन्द्र को अब आचार्य पद पर स्थापित करने का निश्चय किया। वे आचार्य पद के लिए सर्वथा योग्य हो चुके हैं इसका अचूक प्रमाण भी उन्हें एक दिन सहज रूप से प्राप्त हो गया। घटना इस प्रकार से है—

गुरु-शिष्य किसी समय, कहीं विहार में थे। उस समय उन्हें किसी स्थान पर कोयलों का एक ढेर दिखाई दिया। देवचन्द्रसूरि ने पूछा—

"यह क्या है ?"

मुनि सोमचन्द्र ने उत्तर दिया—"हेम !"

वस्तुतः प्राकृतजन को दिखाई देने वाला वह कोयलों का ढेर 'हेम' ही था। शुद्ध-विशुद्ध होने पर कंचन।

तब गुरु देवचन्द्रसूरि ने जान लिया कि मुनि सोमचन्द्र को दिव्य दृष्टि प्राप्त हो गई है।

इस घटना से यह सार निकाला जा सकता है कि मुनि सोमचन्द्र के जीवन में अब वे पल आ गए थे जबकि उनकी दृष्टि शास्त्र के शब्दार्थ को अपने अनुभव से नया ही अर्थ, नया ही स्वरूप प्रदान कर सकती थी। उन्हें वस्तु में 'अहंता' से भिन्न 'स्वच्छ दर्शन' होने लगा था। उन्हें विद्या तो प्राप्त हुई ही थी, किन्तु विद्या के साथ-साथ एक ऐसी जीवनदृष्टि भी उन्हें प्राप्त हो गई थी जिसके बिना विद्या केवल एक भार मात्र बनी रह जाती है। उनके मन में अब संसार की कोई भी वस्तु आत्यंतिक रूप से कोयले जैसी नहीं थी। मात्र दृष्टिदोष होता है।

वह दोष मुनि सोमचन्द्र की पारदर्शी दृष्टि में से दूर हो चुका था।

अपने पास ही रख लिया होता तो अधिक से अधिक क्या हो जाता ? उनका चंगदेव संभव है कि एक बहुत बड़ा धनाढ्य व्यापारी हो जाता अथवा नगरसेठ ही बन जाता। किन्तु आज इस विरक्त मनोभावनामय, श्वेत-शुभ्र वस्त्रों से सुशोभित, इस तेजस्वी आचार्य को वे कहाँ से देख पाते जिसके चरणों में लोकमेदिनी श्रद्धा से विनत हो रही थी ?

धर्मलाभ प्रदान करते उठा हुआ आचार्य हेमचंद्र का दाहिना हाथ आज उनक माता-पिता को समस्त गुर्जर-भूमि को अभय का वरदान प्रदान करता हुआ प्रतीत हो रहा था। वह अभय वरदहस्त सारे भारतवर्ष पर छाया करता हुआ दिखाई दे रहा था। अनेक युवक होते हैं जो विशिष्टताएं लिए हुए होते हैं। किन्तु हेमचंद्राचार्य का यौवन अद्‌भुत था, शरीर सौन्दर्य का स्रोत प्रतीत होता था, मुखमुद्रा की सौम्यता निराली थी, कान्ति अपार थी तथा इस नाते वे सभी से पृथक, सभी से महान् प्रतीत होते थे। खंभात के बड़े से बड़े नागरिक श्रेष्ठि राजपुरुष वहाँ उपस्थित थे, किन्तु वे सभी उन तेजस्वी आचार्य के समक्ष बहुत छोटे हो रहे थे। यहां तक कि स्वयं महाप्रतापी मंत्रीश्वर उदयन भी उनके समक्ष स्वयं को क्षुद्र अनुभव कर रहे थे तथा इस अनुभव के सुख में डूबे हुए थ।

जनसमुदाय या कहें कि मानव-समुद्र को चीरती हुई एक नारी आचार्य पीठिका की ओर बढ़ी····आचार्यदेव को नमन कर अनिमेष दृष्टि से उन्हें निहारने लगी।

अपने प्यारे लाल को आचार्य जैसे गरिमापूर्ण पद पर आसीन देख कर उसका रोम रोम थिरक रहा था, वह मन ही मन सोच रही थी कि मैं आज धन्य हो गई।

दूसरे क्षण मन में विचार आया कि मैं इस पावन प्रसंग पर संसार त्याग कर एक आदर्श उपस्थित करूँ। उसने आचार्य प्रवर हेमचंद्रसूरि से निवेदन किया—भगवन् ! आपका तो गुरुदेव देवचंद्रसूरि ने उद्धार कर दिया। अब आप मेरा भी उद्धार कीजिए। मैं भी आप की तरह संयम-साधना के महामार्ग पर अपना कदम बढ़ाना चाहती हूँ। पुत्र सदा मां का अनुसरण करता है पर आज माँ पुत्र का अनुसरण करना चाहती है। पुत्र ने अध्ययन, चिन्तन, मनन और साधना से जीवन को चमकाया है तो फिर मैं पीछे कैसे रहूँ। मुझे भी वीर माँ का उज्ज्वल-समुज्ज्वल आदर्श उपस्थित करना है।

आचार्य तो एकटक अपनी माता को देखते रह गए किन्तु आसपास के लोग क्षण-दो क्षण विस्मित रहकर जयघोष कर उठे—

"पाहिनीदेवी की जय""आचार्य हेमचंद्रसूरि की जय""गुरुदेव देवचंद्रसूरि की जय""जैन धर्म की जय""।"

आचार्य हेमचंद्र उस घड़ी क्या विचार कर रहे थे ?

उनके हृदय में ज्ञान की अपार शांति थी। किन्तु उन्हें उस घड़ी यह भी अनुभव हो रहा था कि जिसके समक्ष ज्ञान भी निर्जीव-सा बन जाता है, ऐसे अनन्त, निस्वार्थ महाप्रेम की भी एक शान्ति होती है।

आचार्य हेमचंद्र ने इतना ही कहा—"माँ ! मेरी इस देह को जन्म देने वाली मेरी माता ! शायद आज यह सम्बोधन अन्तिम बार हो। तुम्हें मेरे शतशः वन्दन !

"और अब आओ, जिस राह पर अग्रसर करके तुमने मेरे भव-भव सुधार दिए, उस राह पर जब तुम स्वयं भी आना चाहती हो तो इससे अधिक शुभ क्या होगा ? एक मुनि और आचार्य के नाते मैं तुम्हें साध्वीवर्ग में श्रमणीश्रेष्ठ पद पर स्थापित करता हूँ।"

इस प्रकार पाहिनीदेवी साध्वी बनकर प्रवर्तिनी पद पर प्रतिष्ठित हो गईं। समस्त संघ के समक्ष दीक्षा-समारोह उल्लास एवं आनन्द के वातावरण में सम्पन्न हुआ।

और श्रेष्ठि चाचिग ?

वे भी वहीं थे।

किन्तु वे वहाँ होकर भी जहां थे वहां तक पहुँचने के लिए मनुष्य को बहुत साधना करनी पड़ती है।

एक अनासक्त योगी की भांति वे शान्त मौन, एक ओर खड़े थे। उनके नेत्र आचार्यरूप अपने चंगदेव को भी देख रहे थे और प्रवर्तिनीरूप पाहिनीदेवी को भी।

उनकी आँखों में जो तरलता दिखाई दे रही थी वह निश्चय ही विषादजन्य अश्रुओं की नहीं, जीवन की धन्यता की गहन आनन्दानुभूति के अमृत-रस की थी।

●

(चार)

❀

असीम, आर-पार आकाश में एक सूरज उगता है और एक चाँद।

दिन होता है और रात।

वसुन्धरा की गोद में खिलते हैं फूल।

फूलों के रंग ?

फूलों की सुवास ?

सबकी अपनी-अपनी। बेला-चमेली, गेंदा-गुलाब, कमल-कचनार····

इस धरित्री की क्रोड़ में भी अवतरित होते रहते हैं परम पुरुष—अपना-अपना रंग, अपनी-अपनी सुवास।

अपनी-अपनी दृष्टि।

अपना-अपना उद्देश्य।

किन्तु पुरुषार्थ जिनका मूल।

गणना के लिए अयोग्य है कोई भी पुष्प जिसका कोई रंग नहीं, जिसमें कहीं सुवास नहीं ?

विचार के लिए निकम्मा है वह पुरुष जिसमें पुरुषार्थ नहीं।

गुजरात का राजा, गुर्जरदेश का स्वामी, सिद्धराज जयसिंह अवगणना के योग्य नहीं था। उसकी अवगणना करने का दुस्साहस करके स्वयं सर्वशक्तिशाली मालवानरेश ने मुंह की खाई थी, अन्य देशों-प्रदेशों के स्वामियों की तो बात ही क्या ?

वह सिद्धराज जयसिंह कोई सामान्य जन नहीं था, एक असाधारण वीर पुरुष था जो स्वयं संस्कारी था और अपने गुजरात को भी साहित्य, शिल्प, संस्कृति से सुसम्पन्न देखना चाहता था। जो गिरनार की अभेद्य किन्तु अनगढ़ चट्टानों को अद्वितीय कलापूर्ण आकृतियाँ प्रदान करना चाहता था। गुजरात के गर्वीले वीरों को जो कला और ज्ञान की शान्त मधुरिमा से सुशोभित कर देना चाहता था। जो चाहता था कि प्रत्येक गुजराती जो तलवार चलाता है वह वाग्देवी के चरणों में फूल भी चढ़ाने की क्षमता धारण करता हो।

मालवा के विक्रमादित्य की कथाएँ सुनते-सुनते उसके कान पक गये थे।

ईर्ष्या नहीं हुई थी। महापुरुष ईर्ष्या नहीं करते।

उसकी आत्मा ने पुकार लगाई थी—विक्रमादित्य ? विक्रमादित्य ? ....सिद्धराज जयसिंह क्यों नहीं ?

जैसे धर्मदेशना सुनते हुए कोई भव्य जीव सोचने लगे—ऐसे-ऐसे अरिहन्त भगवन्त हुए, सिद्ध प्रभु हुए, आचार्य-उपाध्याय हुए....तो मुझे क्या हुआ है ? मैं क्यों नहीं उस मार्ग पर चल सकता ?

और उसे सहसा अपने पुरुषार्थ का स्मरण हो आता है।

यही क्षण होता है जीवन के उत्थान और पतन का। बन्ध अथवा मोक्ष का।

यहीं से हुआ करते हैं अभिनिष्क्रमण।
यहीं से आत्मा बुद्ध-प्रबुद्ध होकर वीर महावीर बनता है।
इन्हीं मनःस्थितियों में चल रहा था गुजरात का राजा जयसिंह।
उसकी आयु लगभग उतनी ही थी जितनी कि आचार्य हेमचन्द्र की।
दोनों युवा थे।
दोनों तेजस्वी थे।
विशिष्ट पुरुष थे वे दोनों, सामान्य कीट-पतंग नहीं थे।
बस, एक था राजा।
एक था मुनि।

अलग बात है कि वह मुनि राजाओं का भी राजा था।
राजा जयसिंह को राजधर्म का निर्वाह करना था। उचित था।
किन्तु सरल था यह ?

छोड़ें। पाठक इस विषय में कुछ विचार करें तब तक हम यह देखें कि फिर हुआ क्या....?

सिद्धराज जयसिंह को चैन नहीं था। युवक राजा अपने प्यारे गुजरात को माथे पर उठा लेना चाहता था। उसके गुजरात में सब कुछ था। धन-धान्य था। अनढक, अपार सम्पत्ति थी। गुजराती सार्थवाह स्तम्भतीर्थ के बन्दरगाह से चलकर आधी दुनियाँ का चक्कर लगाकर आते थे और इतनी सम्पत्ति ढोकर अपने जलयानों में लाते थे कि स्तम्भतीर्थ में उन्हें रखने के लिए स्थान न मिले।

इसी प्रकार गुजरात में शौर्य का भी अभाव नहीं था। गुजराती तलवार का पानी मालवा तक ने भी चख लिया था।

शौर्य और वीरत्व का ध्वज लहरा रहा था।

हीरे-मोती गुजरात के प्रमुख नगरों में धूल कंकड़ों की भांति डुलते फिरते थे।

राजधानी अणहिलपुर पाटन में तो समां ही कुछ और था, अवर्णनीय था। तेजस्वी राजा जयसिंह जब सभा में आता था तब दिशाएँ कांपने लगती थीं। दिग्पाल अदृश्य रहकर उसकी वन्दना करते थे।

वह राजा जब बोलता था तब भूधर डोलते से लगते थे।

इसलिए नहीं कि वह कोई जादूगर था।

ऐसा इसलिए होता था कि सिद्धराज जयसिंह की आत्मा को चैन नहीं था—तब तक, जब तक कि वह अपने गुजरात को 'श्री' के साथ-साथ 'सरस्वती' का वरदान भी प्रदान न कर सके।

उसके मन्त्री महाविचक्षण थे।

उसके सुभट साक्षात् कालभैरव थे।

उसकी अपनी तलवार ही महाकाल का साक्षात् स्वरूप थी।

किन्तु मनुष्य की आत्मा को अनन्त सौन्दर्य और शान्ति की छवि दिखा सके वह कला कहाँ थी ? वह साहित्य कहां था ?

राजा सिद्धराज जयसिंह उसी सरस्वती की खोज में भटक रहा था।

\+ × +

सुबह-सबेरे एक अश्वारोही स्तम्भतीर्थ से अणहिलपुर पाटन की ओर चल पड़ा था। मंत्रीश्वर उदयन का वह एक दूत था। उसकी कमर में तलवार, हाथ में भाला और कन्धे पर धनुष-तूणीर थे। उसका अश्व तीव्र गति से जा रहा था।

उदयन ने उससे कहा था—

"यह जो लेख मैंने तुम्हें दिया है वह महाराज के हाथों में ही देना। परिपाटी यह है कि महामात्य मुंजाल ही समस्त लेख पहले पढ़ते हैं और फिर वे महाराज से मंत्रणा करते हैं। किन्तु उनसे विशेष निवेदन करना कि उदयन ने स्तम्भतीर्थ से यह लेख भेजा है और उनकी यह आज्ञा है कि यह लेख प्रथम महाराज के हाथों में ही पड़े। समझे तुम ?"

"जी स्वामी ! समझा।"

"महामात्य के लिए यह बात नई होगी। किन्तु मेरा नाम लोगे तो वे मान जायेंगे।"

"जी, स्वामी !"

"तब जाओ, विलम्ब हो रहा है। मार्ग में ठहरना नहीं। अश्व को जितने विश्राम की आवश्यकता हो वह तो देना, किन्तु स्वयं कहीं अधिक रुकना नहीं।"

"जो आज्ञा, स्वामी ! प्रणाम ! अपने देवदत्त पर विश्वास रखें।"

"ठीक। अब तुम जाओ।"

एक ही छलांग में देवदत्त अश्व पर सवार हुआ और अभ्यस्त अश्व ने पवन का वेग पकड़ लिया।

उस अश्वारोही ने दिन देखा न रात। हाँ, कहीं मध्यान्ह काल होता, कोई नदी-निर्झर मार्ग में आता तो वह अपने थके-हारे अश्व को घड़ी भर पानी पिलाने या कुछ घास चर लेने देने हेतु ठहर जाता था।

एक लम्बी यात्रा इस प्रकार चल रही थी।

आधे से कुछ अधिक मार्ग एक ही दिन में तय हो चुका था। सूर्यास्त की बेला आ पहुँची थी। आगे का मार्ग कुछ विकट था। अन्धकार में अश्व कहीं ठोकर खा सकता था और अनेक समरांगणों का विजेता वह मूल्यवान अश्व चोट खा सकता था। अतः देवदत्त ने किसी सुविधाजनक स्थान पर रैन-बसेरा करने का निश्चय किया।

उसने एक ग्राम बटाया और ग्राम-सीमा से बाहर एक बावड़ी के तिबारे में उसने डेरा डाल दिया। अपनी ढाल का सिरहाना बनाकर साथ में रखा भोजन करके बावड़ी से पानी पीकर वह लेट गया। अश्व को उसने एक वृक्ष से बाँध दिया। आसपास उसके चरने के लिए पर्याप्त हरी-हरी घास थी।

दिन भर की थकान के कारण उसे धीरे-धीरे एक झपकी आई ही होगी कि उसके कानों में किसी अश्व की टापों की आवाज पड़ी। वह चौंक कर उठ खड़ा हुआ। सन्देह होना स्वाभाविक था। उसने तलवार हाथ में थाम ली और चौकन्ना होकर अन्धकार में भी देखने का प्रयत्न करने लगा।

कुछ ही पलों में आने वाला अश्वारोही वहाँ आ पहुँचा। देवदत्त दीवार की ओट में खड़ा था। आगन्तुक अश्वारोही निश्चिन्त था। उसने वृक्ष के तने से बँधे एक जानदार अश्व को देखा, अनुमान लगाया कि उस निर्जन स्थान पर भी कोई अन्य व्यक्ति उसके साथी के रूप में उपस्थित होना चाहिये। वह निर्भय था। अपने अश्व को उसने भी समीप के एक

वृक्ष से बाँध दिया, उसे एक बार प्रेम से थपथपाया और फिर पुकार लगाई—

"कोई है यहाँ ?"

देवदत्त दीवार की ओट से निकल आया। उसकी दाहिनी भुजा में लम्बी तलवार चमक रही थी। वह आश्वस्त हो जाना चाहता था कि आगन्तुक कोई शत्रु नहीं है। उस काल में यवन आक्रमणकारियों से सहसा भेंट हो जाना एक सामान्य बात थी। उसने पूछा—

"आप कौन हैं ?"

"अरे भाई, एक राहगीर हूँ। रात हो गई है। यहीं गुजर कर लेने का इरादा है।"

"कैसे राहगीर ? किधर से आ रहे हो ? कहाँ जाना है ?"

आगन्तुक को देवदत्त के स्वर में सहज शिष्टता का आभास कुछ कम हुआ। अतः उसने भी कुछ तीखे से स्वर में ही उत्तर दिया—

"श्रीमन् ! आप यहाँ पहले से उपस्थित हैं। अतः एक प्रकार से मैं आपका अतिथि ही हुआ, यद्यपि यह स्थान तो एक सार्वजनिक स्थान ही है। फिर भी यह तो बताइये कि क्या एक अतिथि से इसी प्रकार से व्यवहार किया जाता है ?"

"ओह, क्षमा कीजिए। विराजिए। फिर बातें होंगी।"

दोनों पाँव पसार कर बैठ गए। तब देवदत्त ने कहा—

"अच्छा भाई, अब तो कहिए कि आप कौन हैं ? आपका परिचय ? आपका उद्देश्य ?"

"और यही बात यदि मैं आपसे पूछूं तो ?"

"अवश्य बताऊँगा। किन्तु मेरा प्रश्न पहला है।"

"चलिए ऐसा ही सही। मैं अणहिलपुर पाटन से आ रहा हूँ।"

"जाएंगे कहाँ ?',

"स्तम्भतीर्थ।"

देवदत्त कुछ चौंका। किन्तु अब तक वह आगन्तुक के सहज, निश्छल व्यवहार से पर्याप्त रूप से आश्वस्त हो चुका था। हलकी मुसकान के साथ बोला—

"तब तो आप इस निर्जन वन में ही नहीं, स्तम्भतीर्थ की दृष्टि से भी मेरे अतिथि हैं। कहिए, स्तम्भतीर्थ जाने का आपका शुभ प्रयोजन ?"

"शुभ अथवा अशुभ की बात तो बड़े लोग जानें। हम सेवक लोग हैं। स्वामी की आज्ञा का पालन ही हमारा परम धर्म है। किन्तु हाँ, सिद्धराज जयसिंह देव महाराज के राज्य में सदैव शुभ ही होता है, अतः कह सकता हूँ कि जो भी प्रयोजन होगा वह शुभ ही होगा।"

"पहेलियाँ न बुझाइये। अब तो हम एक-दूसरे पर विश्वास कर सकते हैं। कहिए, क्या आप महामात्य यशस्वी मुंजाल मेहता का कोई सन्देश लेकर स्तम्भ तीर्थ जा रहे हैं?"

"आज्ञा तो नहीं है, इसलिए यह प्रश्न आप मुझसे न पूछें तो कृपा होगी।"

देवदत्त मौन रह गया। उसने विचार किया कि सेवक का, एक दूत का धर्म तो यही है। तब उसे आगन्तुक के प्रयोजन को जानने का आग्रह भी क्यों करना चाहिये?

यह सोचकर उसने कहा—

"आप ठीक ही कहते हैं। चलिए, भोजनादि से निवृत्त हो लीजिए और फिर विश्राम कर लीजिए। मुझे भी फिर कल आगे बढ़ जाना है।"

"मैं नहीं पूछूंगा कि आपको किधर जाना है। हाँ, आप जितना भी अपना परिचय स्वयं ही देना उचित समझें वह देंगे तो कृपा होगी।"

"कोई विशेष, बात नहीं है भाई! आप भी राज सेवक हैं और मैं भी। आप स्तम्भतीर्थ जा रहे हैं और मैं अणहिलपुर पाटन। बस, इतना पर्याप्त है न?"

"हाँ, अवश्य। किन्तु एक-दूसरे का नाम-धाम जान लेने में तो कोई आपत्ति नहीं। कभी आप अणहिलपुर पाटन आए और मैं वहीं हुआ, तब क्या आप मेरे प्रिय अतिथि बनना स्वीकार नहीं करेंगे?"

"अरे भाई, क्यों नहीं? अवश्य। इसी प्रकार आप भी आगे कभी स्तम्भतीर्थ आएँ तब गरीब की कुटिया पर अवश्य पधारें।

"तब आपका शुभ नाम?

"देवदत्त। मैं मंत्रीश्वर उदयन का एक अदना सेवक हूँ।"

"किन्तु परम विश्वस्त। मैंने ठीक कहा न?"—कहकर आगन्तुक हँसा। और साथ ही बोला—"इस सेवक को जिनदत्त कहते हैं। महाराजाधिराज की सेवा में ही रहता हूँ। किसी से भी पूछ लीजिएगा।"

"धन्यवाद। लीजिए, मेरे पास पर्याप्त भोजन है। ग्रहण कीजिए।"

"आपको भी धन्यवाद। किन्तु रात हो गई है। मैं रात्रि को भोजन नहीं करता। चलिए, अब कुछ विश्राम कर लिया जाय। सुबह चलने से पूर्व शेष बातें, यदि कुछ रह गईं, तो कर ली जायेंगी।"

दोनों यात्री फिर आँख मूंद कर लेट गए।

× × ×

पूर्वाकाश में सफेद-नारंगी धारियाँ फूटने लगी थीं। देखते-देखते सारी दिशा लाल हो उठी और फिर दिवाकर की जीवनदायिनी रश्मियाँ नीले आकाश में नाचने लगीं।

दोनों यात्री आँख मलकर उठ खड़े हुए। दैनिक कृत्यों से शीघ्र निवृत्त होकर उन्होंने अपने-अपने घोड़े कसे। सवार होते-होते देवदत्त ने कहा—

"हाँ, भाई, चलने की बेला तो हो गई। किन्तु इतना तो बता जाओ कि राजधानी के हालचाल कैसे हैं? सब ठीक तो चल रहा है न?"

"जहाँ सिद्धराज जैसा राजा बैठा हो वहाँ किसी प्रकार की कोई अशान्ति अथवा कठिनाई कैसे हो सकती है देवदत्त? सब कुछ ठीक है। प्रजा सुख से जी रही है। हाँ, स्वयं महाराज कभी-कभी खोए-खोए-से अवश्य दीखते हैं। हम तो सेवक ठहरे, कैसे जान सकते हैं कि उनके मन में क्या है? ऐसी कौन सी बात है जो कभी-कभी महाराज को कुछ उदास बना देती है।"

"ऐसा? कुछ समझ में आने वाली बात तो नहीं है। हो सकता है"...कहते-कहते देवदत्त रुक गया, बोला—"खैर भाई, जाने दो, मुझे तो लगता है अब जल्दी ही सब ठीक हो जायगा। अच्छा, तो चला जाय।"

"लेकिन तुमने स्तम्भतीर्थ के कुछ हालचाल तो मुझे बताए ही नहीं। वैसे तो मैं आज ही वहाँ पहुँच रहा हूँ। फिर भी कैसा क्या चल रहा है वहाँ?"

"जैसा अणहिलपुर पाटन में, वैसा ही स्तम्भतीर्थ में। वहाँ महामात्य मुंजाल और स्वयं महाराज विराजमान हैं तो हमारे यहाँ मंत्रीश्वर उदयन बैठे हैं। सब आनन्द मंगल है। तुम जाकर स्वयं ही देख लोगे।"

"हाँ, सो तो है ही। अच्छा तो विदा! हम लोग लौटकर अपने-अपने ठिकाने जल्दी ही पहुँचेंगे। आगे कभी पाटन आओ तो मिलोगे तो अवश्य न?"

"क्यों नहीं? तुम्हारा प्रेम याद रहेगा भाई!"

अश्वों को एड़ लगादी गई।

दो विपरीत दिशाओं में धूल के बादल उठने लगे।

× × ×

गुरुदेव देवचंद्रसूरि के चरणों में मस्तक नवाकर आचार्य हेमचंद्र ने विनम्रतापूर्वक कहा--

"गुरुदेव ! आपकी कृपा से, आपके अगाध ज्ञान-सागर में से कुछ अमृत-विन्दु मुझे प्राप्त हुए हैं। किन्तु मेरी प्यास बुझी नहीं है। सुनता हूँ कि कश्मीर में बड़े-बड़े ज्ञानी पण्डित हैं। उस शारदा-देश की बड़ी ख्याति है। मालवा में भी पण्डितों तथा कवियों की लम्बी परम्परा है। इसी प्रकार काशी तथा देश के अन्य भागों में भी अनेक उद्भट विद्वान बसते हैं। मेरी इच्छा है कि एक बार देश-भ्रमण करूँ। कुछ अनुभव प्राप्त करूँ। कुछ और ज्ञान की प्राप्ति हो सके। आज्ञा है क्या गुरुदेव ?"

देवचंद्रसूरि ने तेज से प्रकाशित अपने अद्वितीय शिष्य के चेहरे को बड़े स्नेह भाव से देखा और कहा—

"आचार्य हेम ! तुम्हारी जिज्ञासा सराहनीय है। मैं उसके मार्ग में बाधा खड़ी नहीं करना चाहता। किन्तु ज्ञानियों का कथन है कि शुभकार्य अपने घर से ही आरम्भ करना चाहिए। शुभ कार्यों से शुभ परिणाम स्वतः ही दिग्दिगन्तव्यापी बन जाया करते हैं।'

'आपश्री का आशय, गुरुदेव !'

'यही कि तुम्हारी गुर्जरभूमि तुम्हें पुकार रही है। सनाथ होते हुए भी वह एक दृष्टि से अभी अनाथ है।'

'मैं फिर भी समझा नहीं, गुरुदेव !'

'आचार्य हेम ! गुजरात में सरस्वती के अतिरिक्त अन्य सब कुछ है। वह सरस्वती तुममें साक्षात् है। तुम्हें उस सरस्वती को गुजरात के जन-जन तक पहुँचाना है। गुजरात की प्रजा को तुम्हें श्री के साथ-साथ सरस्वती का वरदान भी देना है।'

'यह तो ठीक ही है गुरुदेव ! किन्तु मैं चाहता था कि देश-भ्रमण करके कुछ और ज्ञान तथा अनुभव प्राप्त कर लेता....।'

'ज्ञान के तुम आगार हो। तुम्हें ज्ञान कहीं से प्राप्त नहीं करना है। ज्ञान स्वयं ही तुम्हें ग्रहण करता चला जाता है। वह तुम्हारी अलौकिक आत्मा से स्वतः जागृत होता है।'

'और अनुभव, गुरुदेव ?'

'भव-भव के जन्मों का अनुभव तुम्हारी आत्मा में है। इस संसार में नया कुछ नहीं होता, वत्स आचार्य ! केवल अपनी दृष्टि को विस्तार देना है। और वह दृष्टि तुम्हारे पास है। तुम्हें दिव्यदृष्टि प्राप्त है।'

गुरुदेव का यह कथन सुनकर आचार्य हेमचंद्र कुछ पल मौन रहे। फिर गुरुदेव के चरणों में शीश नवाकर उन्होंने कहा—

'तब मेरे लिए आपश्री की क्या आज्ञा है गुरुदेव ?'

'मैं वृद्ध हुआ। मेरे जीवन का अधूरा कार्य तुम्हें ही पूर्ण करना है। गुजरात के ग्राम-ग्राम, जनपद-जनपद में विहार करो। गुजरात की प्रजा को धर्म और संस्कृति प्रदान करो। उन्हें सरस्वती का वरदान दो। तुम्हारे और मेरे जीवन का कार्य सिद्ध होगा और अवश्य होगा। यह मेरा तुम्हें अन्तिम शुभाशीर्वाद है। यह मेरी अन्तिम थाती है। गुजरात की प्रजा में, और समस्त भारतवर्ष में, एक असमन्वय का दानव सिर उठा है हेम ! यह असमन्वय की भावना मानवता को विनष्ट कर सकती है। इसे बचाओ, हेम, मेरे आचार्य ! मेरे द्वारा कथित यह मूल-मंत्र इसी घड़ी से स्वीकार कर लो कि तुम कभी अति की ओर नहीं जाओगे—समन्वय करोगे—धर्म की रक्षा करोगे। धर्म लाभ !'

गुरुदेव का निर्णय मिल गया।

गुरुदेव का आशीर्वाद प्राप्त हो गया।

गुरुदेव ने आचार्य हेमचन्द्र को उनके जीवन के कर्तव्यपथ का निर्देश प्रदान कर दिया।

और अपने इस भव की आयु के ८४ वर्ष तक आचार्य हेमचंद्र ने सरस्वती की जितनी कठोर आराधना पूर्ण भक्तिभाव और दृढ़, एकाग्र संकल्पशक्ति से की वह इतिहास बन गया।

× × ×

सिद्धराज जयसिंह की बात अधूरी रह गई क्या ?

नहीं रह सकती।

लिली नामक एक फूल खिलता है, कुछ ही घण्टों के लिए। किन्तु उसकी सुवास दिगन्तव्यापी होती है तथा वातावरण में अमिट रहती है।

विज्ञान भी यही कहता है। कोई विचार, कोई शब्द कभी मरता नहीं।

सिद्धराज जयसिंह एक मनुष्य नहीं, एक विचार था—एक संकल्प था।

तथा किसी विद्वान् ने कहा है—एक विचार, यदि वह मनुष्य के मन में अटल एकाकी हो, तो उसके जैसा शक्तिशाली संसार में अन्य कुछ नहीं होता।

बहुत बड़ी बात है। मनन करने योग्य है।

व्यवहार में उतारने के लिए है।

सिद्धराज ने गिरे हुए गुजरात को उठा दिया था, अपनी तलवार के बल पर, शौर्य की शक्ति से, संकल्प की अडिगता से।

किन्तु उसका संकल्प यहीं तक सीमित नहीं था।

उसका महत् संकल्प था गुजरात को सरस्वतीधाम बनाने का। धर्म का आराधनाधाम बनाने का।

उसकी दृष्टि अहर्निश अपने राज्य को देखती थी। अपनी प्रजा के जन-जन के सुख-दुःख का उसे ज्ञान और भान रहता था।

वह स्वप्न देखा करता था—विक्रमादित्य और भोजराज का। जिनकी सभा में कवि और पण्डित सरस्वती की सरिता प्रवाहित किया करते थे। ऐसा संस्कार था मालवा में। उज्जयिनी का नाम भारतवर्ष की महानगरियों के शीर्ष पर स्थित था। तब""तब उसका अणहिलपुर पाटण इस सरस्वती-सुधामृत से वंचित क्यों था? क्यों? कब तक यह दारुण पीड़ा उसे भोगनी पड़ेगी? क्या गुजरात की उर्वरा भूमि से एक भी ऐसा माई का लाल कभी उत्पन्न नहीं होगा जो उसके इस उदात्त स्वप्न को साकार कर सके।

सिद्धराज दिन-रात छटपटाता रहता था, मन ही मन। उसकी सभा में विद्वान् न हों, पंडित न हों, ऐसा तो नहीं था।

किन्तु कहाँ था वह कोई महापुरुष जो शब्दोच्चारण करे तो देवता फूल बरसाने लगें।

कहाँ था कोई ऐसा आचार्य जो लिखे तो वह न लिखे, स्वयं सरस्वती उसकी लेखनी में अवतरित हो और जिसका एक-एक सूत्र, एक-एक मंत्र एक-एक महाग्रंथ का मूल्य धारण करे।

विक्रमादित्य की भाँति वह वेश बदलकर दिन या रात्रि में अपने

राजमहल की सुविधा को तिलांजलि देकर जनपथ पर निकल पड़ता था और खोजता फिरता था किसी ऐसे दुःखी को जिसका दुःख वह दूर कर सके।

ढूंढ़ता फिरता था किसी महापुरुष को जिसके चरणों में सिर रखकर वह गुहार लगा सके—प्रभो! मेरे गुजरात को विद्या दो, ज्ञान दो, संस्कृति दो, सद्धर्म दो।

इसी भटकन में वह एक बार सुदूर स्तम्भतीर्थ तक भी जा पहुँचा था। उसने सुना था कि वहाँ किसी यवन के साथ किन्हीं अन्य समुदाय के लोगों ने कोई अन्याय किया था। उसका घर जला दिया था। उसे नगर से बाहर खदेड़ दिया था।

यह सुनकर उसके तन-बदन में आग लग गई थी—मानव के साथ ऐसा अत्याचार? क्या फर्क पड़ता है यदि वह यवन था? क्या अन्तर होता है खुदा या शिव या वीतराग भगवन्त में?

क्या कभी उन्होंने कहा कि किसी प्राणी को सताओ, उसकी हत्या करो? क्या उन्होंने नहीं कहा कि सभी प्राणी समान हैं—परस्परोपग्रहो जीवानाम्—

और फिर एक मानव? यवन अथवा जैन अथवा शैव?

आदमी तो आदमी होता है।

जीव जीव होता है।

शरीर से भिन्न होती है आत्मा। और आत्मा में भेदभाव नहीं होता है।

वह अश्वारोही, जिनदत्त, जो योजन पर योजन लाँघता दौड़ते घोड़े से स्तम्भतीर्थ की ओर जा रहा था उसे महाराज सिद्धराज ने ही भेजा था और अपना संदेश देकर कहा था—

"अविलम्ब जाओ और मंत्रीश्वर उदयन को हमारा यह संदेश दो। और कहना कि हम आते हैं।"

तथा स्वयं महाराज सिद्धराज दूसरे ही दिन स्तम्भतीर्थ की ओर चल पड़े थे।

मंत्रीश्वर उदयन की हवेली के द्वार पर जब जिनदत्त पहुँचा तो द्वारपाल ने उसे रोककर कहा—

"लाइये। महाराज का संदेश दीजिए। मैं पहुँचा देता हूँ।"

"क्षमा करें। महाराज की आज्ञा है कि यह संदेश स्वयं मंत्रीश्वर के ही हाथों में दिया जाना है।"

द्वारपाल कुछ झिझका, किन्तु करता क्या ? बोला—

"तब तनिक ठहरिये। मैं मंत्रीश्वर को सूचना देता हूँ।"

उस समय मंत्रीश्वर नगर के कुछ प्रमुख लोगों से वार्तालाप में संलग्न थे। खतीब नामक यवन के साथ जो अत्याचार हुआ था उसी की तहकीकात वे कर रहे थे। उनका चेहरा क्रोध से तमतमाया हुआ था। एक नागरिक से वे कह रहे थे—

"महाराज सिद्धराज जयसिंह के राज्य में और यहाँ खम्भात में, मेरे दण्डनायक होते तुम्हारा यह साहस कैसे हुआ कि तुमने उस गरीब की झौंपड़ी में आग लगाकर उसे नगर से बाहर भागने पर विवश किया ?"

वह आदमी मंत्रीश्वर के तेज के सामने पानी-पानी हो रहा था। वह मंत्रीश्वर के चरणों में लौटकर जैसे-तैसे टूटे-फूटे शब्दों में बोलने का प्रयत्न कर रहा था—

"दण्डनायक महाराज ! मंत्रीश्वर ! क्षमा ! क्षमा, प्रभो ! उस यवन ने····प्रभो····उस यवन ने····।"

"क्या किया था उस यवन ने ?" —मंत्रीश्वर गरजे।

"प्रभो ! मैं बाजार से लौट रहा था। मेरे हाथ में खाने की सामग्री थी। उस यवन ने····उसने मेरे भोजन को स्पर्श कर दिया, प्रभो, मेरा सारा भोजन भ्रष्ट हो गया स्वामी !"

"आदमी के छू लेने से भोजन भ्रष्ट हो गया ? और तुम अपने आपको पंडित कहते हो ? धिक्कार है तुम्हारे ऐसे पांडित्य पर ! जाओ वह यवन जहाँ भी हो, उससे क्षमा याचना करो। उसकी झौंपड़ी सायंकाल तक तैयार हो जानी चाहिए। शेष दण्डविधान के विषय में विचार करूँगा। जा सकते हो।"

प्रणाम तथा पुनः क्षमा याचना के साथ वह पंडित तथा अन्य नागरिक भवन से बाहर जा ही रहे थे कि द्वारपाल ने भीतर प्रविष्ट होकर सूचित किया—

"प्रभो ! कोई एक दूत अणहिलपुर पाटन से आया है।"

"उपस्थित करो।"

दूत ने आकर अपनी कमर के बन्ध में से एक चांदी की नली निकाल कर उसमें से एक वस्त्रलेख निकाला और दोनों हाथों से उसे मंत्रीश्वर के बढ़े हुए दाहिने हाथ में दिया। मंत्रीश्वर एक बार उस वस्त्रलेख पर दृष्टि-

पात किया और उन्हें यह समझने में क्षण मात्र भी नहीं लगा कि वह आज्ञा पत्र स्वयं सिद्धराज जयसिंहदेव का था। वे कुछ चौंक गए। फिर उन्होंने एक प्रहरी को बुलाकर कहा—

"इन दूत महाशय को सम्मान सहित अतिथि गृह में ठहराओ। आगे के आदेश की प्रतीक्षा करो।"

दूत प्रणाम करके प्रहरी के साथ चला गया।

उदयन ने उस वस्त्रलेख को खोला और पढ़ा—

"लाट के दण्डनायक मंत्री उदयन को राजराजेश्वर सिद्धराज जयसिंह का जुहार। हमें सूचना मिली है कि स्तम्भतीर्थ में कुछ यवनों के साथ अत्याचार हुआ है। इस सूचना से हमारे हृदय को आघात पहुंचा है। आप जानते हैं कि हमें अपने राज्य में किसी भी प्रकार का अन्याय सह्य नहीं है। हम यह भी जानते हैं कि आप स्वयं एक धर्मात्मा राजनीतिज्ञ हैं। हमें आपको न धर्म की शिक्षा देने की आवश्यकता है और न ही राजनीति की। जबकि यह अन्याय धर्म तथा राजनीति दोनों ही दृष्टियों से अनुचित है, शायद अक्षम्य भी।

"किन्तु हम यह भी जानते हैं कि जो कुछ भी हुआ है वह किसी न किसी कारण आपकी जानकारी के विरुद्ध ही हुआ होगा।

"लेकिन इस आदेश के आपके पास पहुंचने तक हमें यह भी भरोसा है कि आपने इस सम्बन्ध में समुचित कार्यवाही की होगी तथा अपराधियों को योग्य दण्ड दिया होगा।

"फिर भी हम अपनी आँख से यह देखना और देखकर जानना चाहते हैं कि स्तम्भतीर्थ में ऐसे कौन से तत्व अब भी मौजद हैं जो इस प्रकार का दुस्साहस करने की धृष्टता हमारे राज्य में और आपके दण्ड-नायकत्व में कर सकते हैं।

"अतः हम स्वयं स्तम्भतीर्थ आ रहे हैं....।'

यह वाक्य पढ़ते-पढ़ते मंत्रीश्वर उदयन अपने आसन से उठ खड़े हुए और कक्ष में आतुरता के साथ चक्कर काटने लगे—महाराज स्वयं पधार रहे हैं....उनके स्वागत की तैयारी....अरे कोई है ?

इसके पूर्व कि प्रहरी द्वार में से प्रविष्ट होता, उदयन ने पत्र का आगे का अंश भी पढ़ डाला। लिखा था—

"हम किसी भी समय स्तम्भतीर्थ पहुँच सकते हैं। और हम अकेले ही आ रहे हैं।"

लेख समाप्त हुआ। नीचे सिद्धराज जयसिंहदेव के हस्ताक्षर सहित राजमुद्रा अंकित थी।

जिनके नाम श्रवण मात्र से शत्रु काँप जाते थे वे मंत्रीश्वर उदयन स्वयं भी इस घड़ी कांप उठे—महाराज आ रहे हैं और वह भी अकेले? राजा का यह कैसा दुस्साहस है? चारों ओर शत्रुओं के गुप्तचरों का जाल बिछा हुआ है। कहीं किसी गुप्तचर ने राजा को पहचान लिया तो? लेने के देने पड़ सकते हैं। गुजरात की एक मात्र आशा, उसका प्रतापी राजा यदि धोखे से शत्रुओं के हाथ में पड़ गया तो····तो क्या होगा? उदयन पर कलंक लग जायगा। गुजरात अनाथ हो जायगा। हे जिनदेव! राजा को कभी-कभी यह क्या सूझती है? अरे कोई है····?

प्रहरी तो हाथ जोड़े सामने ही खड़ा था। झुककर उसने कहा—

"आज्ञा, प्रभो!"

"सेनापति को इसी घड़ी उपस्थित करो।"

प्रहरी तेजी से लौट पड़ा। वह भी जान गया कि कुछ अनहोनी घटित हुई है।

सेनापति के उपस्थित होने पर मंत्रीश्वर ने आज्ञा दी—

"पचास चुनिन्दा सुभटों को लेकर भवन के बाहर प्रतीक्षा कीजिए। एक क्षण का भी विलम्ब न हो। मैं आ रहा हूँ।"

उदयन ने दीवार पर टँगे अपने शस्त्र सजाए और त्वरित गति से भवन के बाहर जा पहुंचे।

सेनापति और सुभट प्रस्तुत थे। उनके चंचल अश्व किसी अभियान के अनुमान से अपने खुरों से भूमि कुरेद रहे थे।

उदयन ने एक शब्द भी नहीं बोला। उन्होंने अपना अश्व पाटन-पोल की ओर दौड़ा दिया। उनके पीछे-पीछे वह सैनिकों की टुकड़ी दौड़ पड़ी। चिंतित, चकित, मौन!

× × ×

मंत्रीश्वर को यह आशंका नहीं थी कि महाराज उनसे रुष्ट होंगे। वे महाराज को जानते थे और महाराज उनको, उनके उज्ज्वल चरित्र को, उनकी न्यायप्रियता को, उनकी कुशल प्रशासन क्षमता को।

रोक दिया। इस प्रकार एकाएक लगाम खींच दिए जाने और रोक दिए जाने से वेगवान अश्व अपने दोनों आगे के पैरों पर उछल-सा गया। किन्तु स्वामी के प्रत्येक संकेत को, मात्र एक सूक्ष्मतम कंपन से भी समझने वाला स्वामिभक्त अश्व उस स्थान से एक इंच भी आगे नहीं बढ़ा।

सैनिक कुछ पीछे रह गये थे। मंत्रीश्वर के चपल और वेगवान अश्व की गति की समानता कर सके ऐसा कोई अश्व सारे लाट प्रदेश में नहीं था। अतः उनका पीछे रह जाना स्वाभाविक था। किन्तु कुछ ही क्षणों में सेनानायक सहित वह सैनिकों की सारी टुकड़ी वहाँ आ पहुची।

मंत्रीश्वर ने सेनानायक से कहा—

"देखते हो वह धूलि ? क्या हो सकता है ? कौन हो सकता है ?"

"प्रभु ! वह जो कुछ भी हो विलम्ब नहीं करना चाहिए। चलकर देख लेना ही ठीक होगा।"

"हाँ, ठीक कहते हो। किन्तु कुछ सावधानी भी रखनी चाहिए। ऐसा करो, तुम थोड़े-से सैनिकों के साथ चक्कर काटकर उस पहाड़ी के पीछे पहुँचो। शेष सैनिकों के साथ मैं सीधा आगे बढ़ता हूँ। चल वायुदूत ! जल्दी चल मेरे बेटे !"

यह अन्तिम बात उदयन ने अपने अश्व से कही थी। और शब्द मंत्रीश्वर के मुख से निकलें न निकलें, 'वायुदूत' दौड़ पड़ा।

दूरी अधिक नहीं थी। एक या दो योजन का फासला रहा होगा। वह धूल का गुबार समीप से समीपतर आता जा रहा था। वायुदूत भी जान की बाजी लगाकर दौड़ रहा था। कुछ ही समय में मंत्रीश्वर को सामने से आता हुआ एक अश्वारोही दिखाई दे गया।

वह अकेला ही था। यह देखकर मंत्रीश्वर को थोड़ा धीरज बाँधा। वह जो कोई भी हो, संघर्ष की स्थिति तो नहीं थी। केवल··· केवल गुजरात का नाथ कहाँ है···

आमने-सामने आने पर दोनों अश्वारोही ठहर गए। आगन्तुक अश्वारोही ने मंत्रीश्वर को पहचान लिया।

किन्तु मंत्रीश्वर को चैन कहाँ था ? उन्होंने अपने अश्व को उस अश्वारोही के अश्व से सटाकर अपना भीषण खड्ग उसके सिर पर तान कर कहा—

"कौन हो तुम ? किधर से आए हो ? उत्तर दो।"

वह अश्वारोही हलके से मुस्कराया। उसने ग्रामीण गुजराती खेड़तों

की भाँति सिर पर सफेद पाग और बगलबंडी पहिन रखी थी। मोटी धोती उसके बस घुटनों तक ही थी। हाँ, उसकी कटि से एक तलवार अवश्य लटक रही थी—जो लगभग भूमि को छू रही थी।

उस अश्वारोही को कोई उत्तर देना नहीं पड़ा।

उसकी वह दिव्य मुस्कुराहट ही सब कुछ बता गई। और उसके मुखमंडल का तेज मंत्रीश्वर उदयन से रहस्य का उद्घाटन कर गया।

मंत्रीश्वर उदयन उछलकर अपने अश्व पर से कूदे और उस अश्वारोही के चरण पकड़कर बोले—

"महाराज ! महाराज ! धन्य भाग्य ! किन्तु आपने यह क्या किया ? उदयन पर भरोसा नहीं था प्रभु ! इस प्रकार आप अकेले चल पड़े प्रभु ! प्रभु ! कहीं कुछ हो जाता तो ?"

वह अश्वारोही अन्य कोई नहीं—गुजरात का स्वामी, सिद्धराज जयसिंह ही था। उसने कहा—

"उदयन ! सब ठीक है। चिन्ता न करो। मैं तो आ ही रहा था। तुम क्यों भागते चले आए ?"

"प्रभु ! मेरे जीवन की सन्ध्या बेला है। आजीवन आपका नमक खाया है। गुजरात के लिए रात-दिन एक किया है। चिन्ता न करता तो क्या करता ? आप, प्रभु, इस प्रकार अकेले चल पड़े ? कोई अंगरक्षक भी आपने नहीं लिए। यह मुझ पर कैसा अत्याचार किया आपने ? कुछ हो जाता तो मेरे श्वेत बालों पर धूलि न पड़ जातो ?"

गुजरात का नाथ फिर मुस्कुराया, बोला—

"उदयन ! जब तक तुम जैसे सहायक जयसिंह के साथ हैं तब तक उसे भला क्या होना है ? चलो, अपने अश्व पर बैठो। रात्रि होने से पूर्व स्तम्भतीर्थ पहुँच जाना ठीक होगा। और भूख भी तो लग आई है।"

"पधारिये, प्रभु ! पधारिये।"

मंत्रीश्वर वायुद्रुत पर बैठ गए। और वह छोटा-सा काफिला पुनः स्तम्भतीर्थ के मार्ग पर लौट पड़ा।

मंत्रीश्वर के साथ आए हुए सैनिक हतप्रभ थे। अब तक वे भी अपने राजा को पहचान चुके थे। शायद वे सोच रहे थे कि जिस भूमि का भूपति ऐसा प्रतापी है, और जिसकी सेवा में मंत्रीश्वर जैसे विकट पुरुष हैं, उस भूमि से यदि देवता भी ईर्ष्या करें तो क्या आश्चर्य ?

× × ×

चलते-चलते सिद्धराज ने उदयन से कहा—

"अपने सैनिकों से कह दो कि मौन रहें। मुझे विश्वास है कि मंत्रीश्वर उदयन के सेवक मौन रहना जानते हैं।"

"अवश्य, प्रभु ! लाट का सैनिक, उदयन का सेवक, अपने शरीर की चमड़ी कतरा-कतरा करके उधड़वा सकता है किन्तु जो नहीं कहा जाना है वह कभी नहीं कहेगा।"

लाट का सेनानायक पहाड़ी का चक्कर काटकर तब तक उस स्थल तक अपने सैनिकों के साथ पहुँच चुका था और वह भी उतना ही विस्मय-विमुग्ध और राजा के सान्निध्य से हर्षित था जितना कि शेष सैनिक। उसे संकेत द्वारा मंत्रीश्वर ने अपने पास बुलाकर कहा—

"सेनापति ! जान गए न कि कौन आया है ?"

"हां, मंत्रीश्वर, गुजरात के और हमारे नाथ को कौन नहीं जानता।"

"ठीक। सैनिकों से कह दो कि यह सब गुप्त रहेगा। एक शब्द भी····।"

"इतना आदेश पर्याप्त है मंत्रिवर !"

"शाबाश ! ध्यान रहे।"

शीष झुकाकर सेनापति पीछे हट गया।

स्तम्भतीर्थ के नागरिकों ने केवल यह देखा था कि मंत्रीश्वर एक सैनिक टुकड़ी के साथ कुछ त्वरित गति से पाटनपोल से बाहर निकल गए थे। उन्होंने अधिक से अधिक यही सोचा होगा कि किसी शत्रु का कोई सुराग लगा है। इससे अधिक वे सोच भी क्या सकते थे ?

उनकी कल्पना में यह बात तो आ भी कैसे सकती थी कि स्तम्भतीर्थ में उस दिन गुर्जराधिपति का पदार्पण हो रहा है ?

पाटनपोल द्वार से जब उस सैनिक टुकड़ी ने प्रवेश किया तब कुछ-कुछ आश्चर्य राह चलते लोगों को अवश्य हुआ। क्योंकि उन्होंने देखा कि आगे-आगे मंत्रीश्वर और उनके साथ एक खेड़त, एक मामूली-सा किसान, एक अद्वितीय अश्व पर सवार होकर चले जा रहे हैं और मंत्रीश्वर स्वयं उस खेड़ूत के प्रति अत्यन्त विनयभाव से व्यवहार कर रहे हैं।

किन्तु महाविचक्षण अपने मंत्रीश्वर की गहरी बातों को समझ सकने की बुद्धि उन बेचारों में कहां थी ? देख-देखकर वे यही सोचते रहे कि होगा, भाई, मंत्रीश्वर है, राज्यभर का शासन करते हैं, उनकी माया वे ही जानें।

उस खेड़ूत की वेशभूषा तो एक सामान्य ग्रामीण किसान के जैसी ही थी। किन्तु उसके दैदीप्यमान चेहरे से फूट-फूटकर बहता-बिखरता तेज किससे छिपा रह सकता था ? उसके विशाल, आकर्ण नेत्रों से झरता हुआ बिजली की चमक जैसा दर्प तो असह्य ही प्रतीत होता था। उसके आजानुभुज प्रकट करते थे कि यह किसान जैसा दीखता आदमी कोई सामान्य व्यक्ति नहीं हो सकता।

फिर कौन होगा वह ?

यही विचार स्तम्भतीर्थ की प्रजा के मन-मस्तिष्क में कौंध रहे थे।

जब वह छोटा-सा काफिला कुछ आगे निकल जाता तो दबी जुबान से आपस में बात करते—

"भैया, तुमने कुछ देखा ?"

"देख तो रहे हैं, किन्तु समझ में कुछ आ नहीं रहा।"

"यही तो। आज मंत्रीश्वर हवा की तरह गए और आँधी के समान लौट आए तथा अपने साथ लाए हैं इस किसान को....।"

"किसान को ? तुझे यह कोई किसान दिखाई देता है ? कभी देखा है तूने कोई ऐसा किसान ?"

"तो और कौन है यह ? तू ही बता।"

"मैं ही बता सकता तो तुझसे पूछता भला ?"

"तब मैं ही कैसे बताऊँ ? मैं क्या कोई ज्योतिषी हूँ।"

एक ज्योतिषी महाराज भी उस भीड़ में कहीं दुबके खड़े थे। अपनी अँगुलियों पर ये कुछ गणना जल्दी-जल्दी से कर रहे थे। कभी आकाश की ओर देखते, कभी अपना पत्रा निकालकर टटोलते और फिर गणना करने लगते। सहसा वह खिलखिलाकर हँस पड़े।

उनकी उस हँसी ने आसपास के लोगों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर लिया। पहले तो लोगों ने सोचा कि कोई पागल होगा। किन्तु फिर कुछ ध्यान से देखा तो माथे पर त्रिपुण्ड, बगल में पत्रा और गणना करती उनकी अंगुलियों को देखकर वे जान गए कि कोई पंडित महाराज हैं। तब भीड़ में से एक व्यक्ति ने उनसे पूछा—

"पंडितजी, बड़े प्रसन्न दिखाई दे रहे हैं आप ? क्या किसी खजाने का पता मिल गया है आपको ? इस प्रकार एकाएक हँस कैसे पड़े ?"

पंडितजी ने अपनी हँसी को रोककर कहा—

"भाइयो ! तुम कुछ नहीं जानते। शुभ घड़ी है। इस शुभ घड़ी में हमारी नगरी में किसी महान व्यक्ति के पदार्पण का सुयोग स्पष्ट अंकित है। मैं तो तुम्हें सब कुछ बता सकता हूँ किन्तु बताऊँगा नहीं।"

"दक्षिणा मिल जायेगी तब भी ?"

"दक्षिणा मनुष्य के प्राणों से अधिक मूल्यवान नहीं होती, भाइयो ! मैं चला !"

"अरे नहीं नहीं, पंडितजी, दक्षिणा के लोभ से नहीं, हम पर कृपा करके, हमारी जिज्ञासा की शान्ति के लिए ही कुछ तो बताइये। हम आपको जाने नहीं देंगे।"

यह कहकर भीड़ ने पंडित प्रवर को चारों ओर से घेर लिया।

किन्तु 'बचाओ, बचाओ' की आवाज लगाकर पंडितजी भीड़ में से मार्ग खोजने लगे। उनकी चिल्लाहट सुनकर एक सुभट वहां आ पहुँचा। उसने डाँट-डपटकर भीड़ को अलग हटाकर कहा—

"यह क्या हो रहा है ? कौन चिल्ला रहा था ?"

पंडितजी ने उस सुभट से कहा—"मुझे इन लोगों से बचाइये। यह लोग मुझसे एक महान रहस्य उगलवा लेना चाहते हैं। मैं नहीं बता सकता।"

"नहीं बताना चाहते तो न बताइये। चिल्ला क्यों रहे हैं ? जाइये, अपना रास्ता पकड़िये। हटो, हटो तुम लोग यहां से।"—कहकर सुभट ने लोगों को दूर हटा दिया। पण्डितजी ने अपने घर की राह पकड़ी।

घर पहुँचकर पण्डितजी ने पहले कुछ साँस ली। फिर पंडिताइन को आवाज लगाई—

"अरी भागवान् ! सुनती हो ? राजयोग उपस्थित हुआ है।"

आटे-सने हाथ मलती पंडिताइन रसोई में से निकलकर आई और उसने देखा कि 'राजयोग, राजयोग' करते पंडित महोदय अपनी अँगुलियों को घिसे डाल रहे हैं। उसने सोचा कि आज पंडितजी ने विजया भवानी की मात्रा शायद कुछ अधिक ही चढ़ाली है। वह बोली—

"त्रिकालदर्शी देवता ! हाथ-मुँह धो लीजिए। भोजन परोसे देती हूँ।"

"अरी भागवान्, तुझे भोजन की पड़ी है, यहाँ राजयोग उपस्थित हुआ है।"

"क्या बकते हो ? कैसा राजयोग ? राजयोग ही होने होते तो तुम्हारे पल्ले पड़ती ? चलो, उठो अब ।"

"अरी भागवान, कुछ सुनेगी भी कि अपनी ही कहे चले जायगी ? देख, तुझे एक रहस्य की बात बताता हूँ·····लेकिन नहीं, ये राजाओं की बातें हैं। किसी से कहना नहीं चाहिए। तुझे भी नहीं कह सकता। तुझे कहने का मतलब है सारे मुहल्ले में बात का फैल जाना और मुहल्ले से सारी नगरी में। इसलिए तू जा, भोजन ही तैयार कर।"

अब तक पंडितानी की स्त्रियोचित जिज्ञासा जाग चुकी थी। वह पंडितजी के समीप आई, आँचल से आटे-सने हाथ पौंछ डाले और स्नेह से पगे शब्दों से बोली—

"क्या बात है स्वामी ! कुछ न कुछ बात तो आज अवश्य है, ऐसा लगता है। मुझे भी नहीं बताएँगे ? अपनी लाड़ो को भी ?"

"देख लाड़ो! लाड़ की बात अलग है और राजकाज अलग। बोल है कि नहीं ?"

"सो तो है ही। लेकिन आपका और राजकाज का क्या सम्बन्ध ? जजमानों से दक्षिणा पाते हैं और आटे-दाल की व्यवस्था करते हैं। आप भले, आपके ये पोथी-पानड़े भले। पर बात है क्या आखिर ?"

"देख धन्नो·····।"

"मैं धन्नो नहीं, लाड़ो हूँ।"

"अच्छा मेरी लाड़ो, तू कुछ किसी से कहेगी तो नहीं ?"

"मुझे तुम्हारे सिर की कसम यदि किसी से कुछ कहूँ तो।"

"हूँ। तो सुन। आज हमारी नगरी में कोई राजा आया है।"

"राजा ? हमारी नगरी में ? पागल हुए हो क्या ? राजा आता तो धूमधाम न होती ? सारे नगर में उत्सव न मन जाता ? तुम भी पण्डित महाराज कभी-कभी बेपर की हांकते हो।"

"हाँक नहीं रहा हूँ भागवान्, सत्य उद्घाटित कर रहा हूँ। किन्तु देख, किसी से कहना नहीं। वरना तेरे और मेरे सिर की सलामती भगवान ही रखें।"

"पर कौन आया है ? कौन सा राजा आया है ? कैसे आया है ? क्यों आया है ? कब आया है ? कितनी सेना लेकर आया है ? अब हमारा क्या होगा ? हमारी नगरी लुट जायगी क्या····?"

"घबरा गई ? अरे पगली, जो आया है वह हमारी नगरी को लूटने नहीं, उसके गौरव की रक्षा करने आया है। वह राजा है ही ऐसा। प्रजा को लूटता नहीं, प्रजा का पालन अपने पुत्रवत् करता है। वह जब जहाँ जाता है तब अपने साथ मंगल और समृद्धि लेकर ही जाता है। जहाँ उस की छाया मात्र पड़ती है वहां से अन्याय और अनीति कोसों दूर भाग जाती हैं। वह जहाँ जाता है वहाँ आनन्द की वर्षा होती है....."

"तुम तो कोई कवि होते तो शायद दो रोटी आराम से कमा लेते। अब यह कविता छोड़ो और ठीक ठीक बताओ कि बात क्या है ?"

यह सुनकर पंडित महाराज कुछ पल के लिए चुप रहे और फिर बोले—

"तो तू कहतो है कि तुझे बता ही दूं ?"

"और क्या झींक रही हूँ इतनी देर से ?"

"तो सुन, आज अपनी नगरी में गुजरात का राजा आया है.....।"

"हैं ? क्या कहते हो ? गुजरात का राजा ? सिद्धराज....।"

"अरी धीरे बोल। दीवारों के भी कान होते हैं।"

"तो इसमें धीरे बोलने की क्या बात है ? गुजरात का राजा यहाँ आया है तो क्या उसने कोई चोरी की है ? वह आया है तो उसका स्वागत करना चाहिए।"

"रही न तेरी मोटी काया में मोटी अकल ? अरे,कभी कुछ सोचा भी कर। राजा जब वेश बदलकर आया है तो उसका कोई कारण भी होगा कि नहीं ? अवश्य होगा। और जब कोई कारण है तथा उसे राजा गुप्त रखना चाहता है तो उसे गुप्त रखना चाहिए कि नहीं ? यह तो मैं हूँ, ज्योतिषाचार्य, पंडित शिरोमणि चक्रधर न्यायवाचस्पति, जो अपनो अचूक गणना के आधार पर और स्वयं अपनी आँखों से उसके देवतारूप को देख-कर, जो कि जान गया हूँ कि वह गुर्जर नरेश ही हैं, अन्यथा और किसने जाना ? केवल मंत्रीश्वर ही जानते हैं। तो अब तू बता, राजा के इस प्रकार चुपचाप आने में कोई राज/रहस्य होगा कि नहीं ?

"होगा ? होगा। दिमाग में कोई बात बैठे या नहीं, जुबान तो चलनी ही चाहिए। क्यों ? अरे, होगा नहीं—है। अवश्य है। इसीलिए कहता हूँ कि लगाम लगाए रखना। खबरदार, किसी से कुछ कहना नहीं।"

"ठीक है बाबा, नहीं कहूँगी। और कुछ ? अब उठो, भोजन कर लो।"

"उठ ही तो रहा हूँ। किन्तु उठा नहीं जा रहा।"

"क्यों भला ?"

"सोचता हूँ कि यदि किसी प्रकार राजा को आशीर्वाद दे आऊँ तो कैसा रहे ? शायद प्रसन्न होकर कुछ दक्षिणा ही दे डालें....।"

"उस दक्षिणा में फांसी मिल गई तो ? ऊलजलूल विचार छोड़ो और चुपचाप खाना खाकर लेट रहो। सबेरे तक देखा जायगा कि क्या होता है और क्या नहीं होता।"

पंडित चक्रधर न्यायवाचस्पति के पेट में चूहे भी कूद रहे थे और उथल पुथल भी मची थी। पहले उन्होंने पेट में धमाचौकड़ी मचाए चूहों से ही निपट लेना ठीक समझा।

भोजनोपरान्त घर के बाहर चबूतरे पर बैठकर पंडित जी तमाखू फकियाने लगे।

\+ \+ \+ \+

राजाधिराज सिद्धराज जयसिंहदेव जब मंत्रीश्वर उदयन के प्रासाद के सुसज्जित कक्ष में सुखासन पर विराजमान हो गए तब उदयन ने पहला प्रश्न पुनः यही किया—

"प्रभो ! यह आपने क्या किया ? चारों दिशाओं से शत्रु गुजरात पर आंख गड़ाए बैठे हैं। उनके गुप्तचर अनेक प्रकार के वेशों में इधर-उधर घूमते फिरते हैं और टोह लेते रहते हैं। कोई मदारी, कोई व्यापारी, कोई तीर्थयात्री, कोई नट, कोई साधु या योगी अथवा फिर कोई राजसेवा में स्थान पाने हेतु सैनिक के वेश में। यदि किसी ने आपको पहचान लिया होता तो ?"

राजा जयसिंह अपनी मधुर किन्तु तेजस्वी मुस्कान बिखेरते हुए बोले—

"उदयन ! तुम्हारी चिन्ता स्वाभाविक तो है, किन्तु व्यर्थ भी है। कोई मुझे पहचान भी लेता तो क्या था ? अम्बा भवानी की दी हुई यह असि मेरे हाथ में जो है। और फिर मैं तो चाहता हूँ कि मुझे जाना जाय, पहचाना जाय। शत्रु ही नहीं, मित्र भी मुझे जानें। केवल मेरा गुजरात ही नहीं, सारा भारतवर्ष जान जाय कि सिद्धराज जयसिंह कौन है ?"

"महाराज ! यह तो आप ठीक कहते हैं। किन्तु महान् उद्देश्य की पूर्ति तक मनुष्य को प्रतिपल प्रतिक्षण सावधान भी तो रहना चाहिए। कोई एक छोटी-सी चूक भी अनर्थ कर सकती है। प्रभो, मुझ सेवक की बिनती पर ध्यान दीजिए, कृपा कीजिए ! भविष्य में ऐसा दुस्साहस कभी न करने का वचन दीजिए महाराज।"

"अच्छा भाई, ठीक है। देखूँगा। किन्तु अब मेरे यहाँ आने का प्रयोजन भी तो जान लो।"

"मुझे अनुमान है, प्रभो ! आप निश्चय ही दो प्रयोजन लेकर यहाँ पधारे हैं। एक तो उस यवन के साथ हुए अत्याचार पर आपको आक्रोश है कि मेरे यहाँ रहते आपके राज्य में ऐसी घटनाएँ यदा-कदा क्यों होती हैं। तथा आपका दूसरा उद्देश्य भी मैं जानता हूँ।"

"अच्छा ? वह क्या ?"

"आपको अपने गुजरात में सरस्वती कंठाभरण को साकार करना है। और उसके लिए आपको किसी अद्वितीय महापंडित की खोज है।"

"बिलकुल ठीक। उदयन, तुम निश्चय ही विलक्षण पुरुष हो। इसी-लिए मैंने तुम्हें स्तम्भतीर्थ और लाट का यह समूचा प्रदेश सौंप रखा है। यह प्रदेश गुर्जरभूमि का प्रवेशद्वार है। इसकी रक्षा, इसकी समृद्धि पर ही गुजरात का अस्तित्व निर्भर है। वहाँ अणहिलपुर में मुंजाल बैठा है। माता मीनलदेवी हैं। केशव सेनापति हैं। और भी लोग हैं। उधर की वह सम्हाल लेंगे। किन्तु स्तम्भतीर्थ की रक्षा सर्वप्रथम है। और वह तुम पूर्ण कुशलतापूर्वक कर रहे हो।

"हाँ, तो अब यह बताओ कि उस यवन का नाम क्या है ? किन लोगों ने उसके साथ यह अन्याय किया है ?"

"प्रभु ! सामान्य रूप से स्तम्भतीर्थ में शान्ति है। यहाँ सर्वधर्म-समन्वय है। प्रजा आपस में हिल-मिलकर रहती है। अपनी-अपनी भावना के अनुसार सभी को अपने आराध्य की पूजा-प्रार्थना करने की पूर्ण स्वतन्त्रता है। कोई किसी के मार्ग में अवरोध खड़ा नहीं करता। किन्तु..।"

"किन्तु क्या ?"

"किन्तु मानव स्वभाव विचित्र है, महाराज ! कभी-कभी मनुष्य की पाशविक वृत्ति उभरकर आगे आ जाती है। और ऐसे अवसरों पर यदा-कदा आदमी आदमी के साथ अन्याय कर बैठता है।"

"उदयन ! मेरा एक स्वप्न है। तुम उससे परिचित हो। मैं चाहता हूँ कि भारतभूमि से मनुष्य के भीतर की यह पाशविक वृत्ति सदा-सदा के लिए समूल नष्ट हो जाय। कम से कम अपने गुजरात में मैं सर्वधर्मसमन्वय की मंगल-पताका फहराती हुई देखना चाहता हूँ।"

कहते-कहते सिद्धराज जयसिंहदेव किसी स्वप्न में खो गए हों ऐसा प्रतीत हुआ।

उदयन ने अपने राजा की उस महान् उदात्त भावना का आदर किया और वह कुछ पल बोले नहीं।

फिर सिद्धराज धरती पर लौट आए। तब उन्होंने पूछा—

"मैं क्या कह रहा था उदयन ?"

"प्रभु ! आपके महास्वप्न को साकार करने के लिए यह सेवक तन-मन और धन से प्रयत्नशील है। और मुझे लगता है कि वह दिन अब अधिक दूर नहीं है जबकि एक महापुरुष की अमोघ वाणी समस्त गुर्जरभूमि को प्रेम, करुणा तथा सौहार्द के अमृत से सिंचित कर देगी। जब उसकी लेखनी से प्रसूत शब्द-शब्द मंत्रों का स्वरूप धारण करेगा। जब गुजरात की धरती पर सरस्वती छलछलाती हुई प्रवाहित होगी·····।"

ऐसा लगा कि राजा और मंत्री दोनों ही उस घड़ी स्वप्नदर्शी हो गए थे।

स्वप्न देखना तो स्वाभाविक है।

किन्तु संसार में कुछ ऐसे संकल्पवान पुरुष भी होते है जो अपने मंगल-स्वप्नों को भूतल पर मूर्त्त किए बिना चैन नहीं लेते।

गुजरात का राजा सिद्धराज जयसिंहदेव तथा मंत्रीश्वर उदयन ऐसे ही विशिष्ट पुरुषों की कोटि में थे।

थोड़े पलों के पश्चात् सिद्धराज जयसिंह ने उदयन से पूछा—

"अच्छा, तुमने उस यवन और उसके परिवार के लिए समुचित व्यवस्था तो कर ही दी होगी। और अपराधियों को यथायोग्य दण्ड भी दिया ही होगा ?"

"जी, प्रभु ! इतना ही नहीं, ऐसी व्यवस्था भी हो गई है कि भविष्य में स्तम्भतीर्थ में धर्म, जाति, भाषा, रंग, व्यवसाय, अथवा फिर किसी भी भेद के कारण कभी किसी निर्धन या धनवान, स्त्री अथवा पुरुष, देशी

अथवा विदेशी के साथ कोई अन्याय, किसी प्रकार का अत्याचार न हो पाय।"

"मुझे तुम पर विश्वास है। फिर भी आज रात्रि को मैं वेश परिवर्तन के साथ कुछ देर नगर में घूमना चाहूँगा।"

"फिर वही आग्रह, स्वामी ! लगता है आपको मुझ पर अब भी पूरा विश्वास नहीं है।"

"अरे नहीं नहीं, उदयन, ऐसी बात नहीं है। किन्तु तुम तो जानते हो यह मेरी पुरानी आदत है। मुझे उससे आत्म--सन्तोष मिलता है कि मैं स्वयं अपनी आँख से अपनी प्रजा के जीवन-व्यवहार को देख रहा हूँ। तुमने भी तो अभी कहा न कि मानव स्वभाव विचित्र है। कभी-कभी न जाने किस दुर्घड़ी में मनुष्य की मति मारी जाती है और वह अनीति का आश्रय ले लेता है। अब मैं यहाँ आ ही गया हूँ तो स्वयं भी कुछ देखता ही जाऊँ।"

उदयन जानते थे कि राजा हठी है। एक बार कोई बात मन में ठान ली तो ब्रह्मा भी उन्हें डिगाने में असमर्थ थे। अतः उन्होंने यही कहा—

"तो फिर जैसी प्रभु की इच्छा। व्यवस्था हो जायगी।"

"कोई व्यवस्था नहीं चाहिए, उदयन मंत्रीश्वर ! बस, मैं हूँ, मेरी असि है।"

"नहीं स्वामी ! यह तो कदापि नहीं होगा। यह शीष उपस्थित है। इसे इसी घड़ी आप उतार कर रख दीजिए। किन्तु आप अकेले तो इस कोलाहल और रहस्यों भरे नगर में नहीं ही जायँगे।"

"तब ?"

"मैं भी चलूंगा। एक से दो भले। हमारे वेश सामान्य नागरिकों जैसे होंगे। फिर आपको बाधा क्या है ?"

इन शब्दों, इस आग्रह के पीछे उदयन मंत्रीश्वर की अपने राजा के प्रति कैसी अटूट भक्ति थी, कितना प्रेम था, यह देखकर सिद्धराज मन ही मन धन्य हो गए। बोले—

"अच्छा भाई, जैसी तुम्हारी इच्छा। ठीक है। तब अब यह बताओ कि तुमने जिन महापुरुष की चर्चा अभी की थी वे कौन हैं ?"

"महाराज ! आप उनके दर्शन एक बार कर चुके हैं, जब आप कुछ वर्ष पूर्व यहाँ पधारे थे। तब आप अल्पायु ही थे। तब आप भी बालक

ही थे और वे महापुरुष भी उस समय बाल्यावस्था में ही थे। आपको उन बालमुनि का कुछ स्मरण तो होगा ?"

सिद्धराज को यह स्मरण करते विलम्ब नहीं लगा। उन्होंने कहा—"आचार्य देवचंद्रसूरि के वह पट्टशिष्य····सोमचंद्र ही न ?"

"हाँ, प्रभु ! वे ही। अब वे युवा हो चुके हैं, आपकी भाँति। और आप आज जिन बत्तीस लक्षणों सहित गुजरात की बागडोर सम्हाले हुए हैं, उसी प्रकार उन बाल मुनि ने युवा होकर धर्म की ध्वजा अपने वज्रहस्तों में धारण कर ली है।

"अब वे आचार्य हेमचंद्र हैं, प्रभु !"

"हाँ,हाँ, तुमने अनेक बार मुझे उनके विषय में सन्देश भेजे हैं। मुझे ठीक से स्मरण है। अरे, मुझे तो आज भी, इतने वर्षों पश्चात् भी उन बालमुनि के अद्भुत रूप से दैदीप्यमान मुखमंडल का खूब ध्यान है। उसी समय मुझे लगा भी था कि यह बालमुनि कोई असाधारण पुरुष है।तो··· तो क्या अब वे आचार्य हो गए हैं ?"

"आचार्यत्व ने उन्हीं को स्वयं वरण कर लिया है, प्रभु ! सरस्वती उनकी देह में समाई हुई हैं। यदि सृष्टि में कहीं विद्या का सागर लहराता हो तो वह निश्चय ही आचार्य हेमचंद्र के मस्तिष्क में से ही प्रवाहित होता है। महाराज ! उन महापुरुष की अमोघ शक्ति के विषय में पर्याप्त रूप से कुछ भी कहना असम्भव है।"

"ओह ! तब तो लगता है कि गुजरात के दिन फिरने वाले हैं। उदयन ! तब तो हेमचंद्राचार्य को अणहिलपुर पाटन आना ही चाहिए।"

"मैं भी इसी प्रयत्न में हूँ, महाराज ! और मैंने अपना एक विशेष दूत यही सूचना देते हुए आपकी सेवा में प्रेषित कर भी दिया है। वह पहुंच चुका होगा और आपकी प्रतीक्षा में होगा। आपके पाटन पहुँचने पर वह आपके दर्शन करेगा।"

"आचार्य अणहिलपुर पाटन कब तक आ पहुँचेंगे उदयन ?"

"यह तो ठीक कहा नहीं जा सकता, प्रभु ! जैन मुनि पैदल बिहार करते हैं। वे किसी वाहन का प्रयोग नहीं करते। यह तो आपको विदित ही है। फिर मार्ग में, ग्राम-ग्राम और नगर-नगर में उनके दर्शन तथा उपदेश श्रवण के लिए जनता पलक-पाँवड़े बिछाये बैठी है। इस स्थिति में कुछ समय लग जाना स्वाभाविक है।"

"उदयन ! स्तम्भतीर्थ छोड़ने से पूर्व मैं एक बार उनके दर्शन करना चाहता हूँ।"

"यह तो शुभ है। दो महापुरुषों का सम्मिलन सदैव ही कल्याण-कारी होता है।"

"ठीक है, मैं कल उनके प्रवचन के समय वहाँ जाऊँगा।"

"जैसी आज्ञा महाराज ! व्यवस्था हो जायगी।"

"किन्तु उदयन ! अब ध्यान आता है कि मेरे गुप्तचरों ने मुझे बताया था कि आचार्य गुर्जर भूमि से बाहर मालवा, कश्मीर आदि देशों की ओर विहार करने का विचार रखते हैं। क्या यह ठीक है ?"

"हाँ महाराज ! आचार्यश्री का ऐसा ही विचार था। उनके मन में यह था कि वे समस्त भारतवर्ष का एक बार पर्यटन करें तथा विशेष रूप से मालवा, काशी और कश्मीर के महापंडितों का सान्निध्य भी प्राप्त करें। उनकी ज्ञान पिपासा अगाध है राजाधिराज !"

"तब ? यदि वे गुजरात से बाहर निकल गये तो फिर जाने कितनी लम्बी अवधि तक हमें प्रतीक्षा करनी होगी ?"

महाराज जयसिंह ने कुछ चिन्ता के साथ कहा।

उदयन ने समाधान किया—

"प्रभु ! आचार्यश्री का विचार तो यही था। किन्तु गुरुदेव श्री देवचंद्रसूरि ने उन्हें कहा, गुरु का कथन तो आज्ञा ही होता है न ? गुरुदेव ने कहा कि आचार्य हेम ! तुम ज्ञान के सागर हो। समस्त कलाएँ तथा विद्याएँ तुम्हें हस्तामलकवत् हो चुकी हैं। अतः तुम्हें इधर-उधर भटकने की अब कोई आवश्यकता नहीं रही। तुम्हारी गुर्जर भूमि सरस्वती के अभाव में किसी सजीली निर्जीव देह की भाँति हो रही है। तुम इसी में प्राण-संचार करो। इस भूमि को सरस्वती का वरदान दो। भगीरथ के समान अपनी साधना और तपस्या से यहाँ ज्ञान की गंगा प्रवाहित करो। यही श्रेयस्कर होगा। यही तुम्हारा कर्तव्य है।"

"अच्छा ? आचार्य ने गुरुदेव के आदेश को स्वीकार कर लिया क्या ? किया ही होगा।"

"हाँ महाराज ! आचार्य हेमचंद्राचार्य ने निश्चय कर लिया है कि वे अधिकांशतः गुर्जरभूमि में ही विहार करेंगे। अणहिलपुर पाटन को केन्द्र

बनाकर साहित्य-सृजन के एक नए इतिहास-काल का निर्माण करेंगे।"

"धन्य है। अब मैं आश्वस्त हुआ उदयन !"

"और अब मेरे जीवन भर की साधना या श्रम के सफल होने का समय आया है, महाराज ! हेमचंद्राचार्य जब बालक ही थे, तब धंधूका से गुरुदेव के साथ यहाँ आए थे। मैंने उस बालक की प्रतिभा को पहचान लिया था। और इसीलिए उसके माता-पिता से उसे गुजरात तथा धर्म के लिए माँग लिया था। आज वह बाल-सूर्य मध्यान्ह के तेजोमय भुवन-भास्कर की भाँति जगमगा रहा है। उसके इस ताप में कितनी शक्ति है, कितना मंगल है, यह तो केवल अनुभवगम्य ही है महाराज !"

"बहुत शुभ, उदयन ! तुमने गुजरात पर बड़ा उपकार किया है।"

"उपकार कैसा, प्रभु ! यह तो प्रत्येक गुजराती का पुनीत कर्तव्य है कि वह अपनी मातृभूमि के शृंगार के लिए अपना सर्वस्व तक न्योछावर करके अपने जीवन को धन्य करे।"

"अरे उदयन ! तुमने आम्रभट्ट और वाग्भट्ट जैसे प्रतापी पुत्ररत्न गुर्जरभूमि को प्रदान किए हैं, और अब ये आचार्य भी। तुम्हारा यह उपकार-सिद्धराज कभी भूलेगा नहीं।"

"यह तो आपकी महानता है महाराज ! महापुरुषों को ऐसे ही वचन शोभा देते हैं। मैं क्या हूँ ? एक वणिक। अधिक से अधिक एक मन्त्री। मेरे जैसे तो लक्ष-लक्ष मनुष्य हेमचंद्राचार्य जैसे परमपुरुषों की चरणधूलि में लौटने योग्य हैं।"

"अच्छा भाई, अब तुम जो कहो वही ठीक। अब कल आचार्य के दर्शनोपरान्त मुझे अणहिलपुर की दौड़ लगानी है। वहाँ चिन्ता हो रही होगी।"

"सुख से पधारें प्रभु ! किन्तु जैसे आए, वैसे जाने नहीं दूंगा। कभी कभी स्वामी पर सेवक का भी कुछ अधिकार होता है।"

सिद्धराज हँस पड़े। बोले—

"जाने नहीं दोगे, अर्थात् मुझे बन्दी बनाकर रखोगे या बन्दी के रूप में भेजोगे !"

"हे प्रभु ! यह आप क्या कहते हैं ? आप पधारेंगे और राजा के गौरव को शोभा दे, इस रूप में पधारेंगे। मेरा सेनानायक अपने सैनिकों सहित

आपका अंगरक्षक बनकर जायेगा, प्रभु ! इस विषय में मैं आपकी अब एक भी सुनने वाला नहीं हूँ ।"

उदयन का स्वामिभक्ति से विभोर सिद्धराज जयसिंह हँसते-हँसते ही उठ खड़े हुए और अपने मन्त्री के कन्धे पर हाथ रखते हुए बोले—

"अच्छा भाई, अब बस भी करो । कुछ विश्राम भी करने दोगे कि नहीं ! एक चक्कर नगर का भी लगाना है ।" फिर उस रात सिद्धराज सुख से सोए ।

सरस्वती की वीणा की मधुर झंकार उन्हें लोरियाँ सुनाती रही ।

उनकी आत्मा में अमृत झरता रहा ।

❋

(पांच)

समस्या 'शब्द' की नहीं—'अर्थ' की है।

शब्द बोले चले जाते हैं, अर्थ कुछ निकलता नहीं।

'इतिहास' शब्द का अर्थ भी कितनों ने जाना ?

राजा तो अनगिन हुए। राजाधिराज हुए। सम्राट् हुए। शहंशाह हुए—विश्व विजेता का विरुद धारण करते सिकन्दर हुए।

किन्तु जो अपनी प्रजा का पालन न करे वह राजा कैसा ?

सिद्धराज जयसिंह और जो कुछ भी था, वह रहा होगा। किन्तु उसकी एक विशेषता तो यह थी ही, कि वह अपने गुजरात को प्यार करता था। अपनी प्रजा को सुखी देखना चाहता था। वह अपनी गुर्जरभूमि को असंस्कारवान कहा जाना सहन नहीं कर सकता था।

उसने मालवा को भी जीत लेने की शक्ति बटोर ली थी। अर्थात् अब भारतवर्ष में किसी का साहस नहीं था कि वह सिद्धराज के गुर्जर देश पर चढ़ आए और जीवित लौट जाए—

किन्तु उसे तो अपनी गुर्जर भूमि को माता सरस्वती के वरदान से अलंकृत करना था।

और राजा को सब कुछ जानना चाहिए। अन्यथा वह राज्य करेगा कैसे ?

उस जयसिंह को भी हेमचन्द्राचार्य के विषय में बहुत कुछ ज्ञात हो चुका था। एक बार तो वह स्वयं स्तम्भतीर्थ आकर उन्हें देखकर जा भी चुका था।

किन्तु तब वय छोटी थी।

राजा की भी।

आचार्य की भी।

लेकिन उसी दिन क्या गुजरात के राजा ने जान नहीं लिया होगा कि यह मुनि किसी दिन गुजरात के इतिहास को बदल देगा—या कि गुजरात के एक नये इतिहास को लिख देगा, या कि एक नए गुजरात का निर्माण करेगा ?

कौन जाने ?

किन्तु मन्त्रीश्वर उदयन के साथ जब वह प्रातःकाल आचार्यश्री के प्रवचन स्थल पर पहुँचा, तब उसने अपना छद्मवेश त्याग दिया था। उस दिन वह अपने वास्तविक, राजवेश में ही वहाँ गया था।

उस राजवेश में उसका कहीं कोई अभिमान नहीं था—ईमानदारी थी।

उसका साहस नहीं था कि वह आचार्य के समक्ष छद्म वेश में उपस्थित हो।

उसका अपना आत्मगौरव यह स्वीकार नहीं कर सकता था कि वह जो कुछ भी है; वैसा ही प्रकट न हो।

वह जयसिंह था। गुजरात का राजा था।

तो उसमें उसका कुछ अपराध था क्या ?

वह राजा था तो उसे राज करना था—

उसे गुर्जर देश के जन-जन के सुख-दुःख की चिन्ता करनी थी।

उसे देखना था कि गुजरात में कहीं, कोई भूखा न सोए, कहीं कोई दुःखी न हो।

इतना देखना उसका कर्त्तव्य था।

क्योंकि वह राजा था ! गुजरात का राजा।

राजा और भी थे—उनकी तो कमी ही कहाँ थी ?

जिस लुटेरे ने जितनी भूमि, जहाँ हथिया ली, वहीं का वह राजा हो गया।

एक ही राज्य में ऐसे कितने-कितने 'राजा' अपनी मूंछें ऐंठते बैठे थे।

आश्चर्य होता है ऐसे समय पर, ऐसे देश पर, ऐसे मनुष्यों पर, जिनके होते ऐसा सब कुछ हो सका।

किन्तु जो था, वह था, जो है, वह है।

यहीं से फिर वही सूत्र पकड़ में आता है—

वह जयसिंह, जिसकी आयु अभी, लगभग बीस-बाईस वर्ष की ही थी, आखिर हेमचन्द्राचार्य की प्रवचन-सभा में फिर से पहुँच ही गया। और वह सम्पूर्ण राज-गौरव के अनुसार ही वहाँ गया। अर्थात्, राजा वह था तो राजा के रूप में ही गया। किसी छद्म वेश में नहीं। बाकी राजगौरव का अन्य अभिप्राय क्या ? क्या अन्य कोई भी गौरव अथवा अभिमान लेकर किसी भी व्यक्ति का साहस था, शक्ति थी कि वह आचार्य हेमचन्द्र के समक्ष उपस्थित हो सके।

जयसिंह साहस नहीं कर सका कि वह छद्मवेश धारण करके आचार्य के समक्ष जाए।

उसे भय था, और सत्य था, कि यदि वह ऐसा करने की भूल कर बैठा होता तो इतिहास अब जो है वह नहीं होता।

तब वह सिद्धराज न होता। तब उसे संसार के इतिहास ने उसी प्रकार भुला दिया होता जैसे कि अन्य अनगिन नरेशों को उसने भुला दिया है, अथवा कि जिनका स्मरण ही इतिहास को अभीष्ट नहीं है।

लगता है कि कोई शुभ घड़ी थी, जब गुर्जरधरा पर, एक ही साथ दो सूर्य उदित हुए थे—

एक आचार्य—हेमचन्द्राचार्य !

दूसरा जयसिंह—सिद्धराज जयसिंह !

ऐसे दुर्लभ शुभ संयोग शायद इतिहास में कभी-कभी ही घटित होते हैं। तभी तो कुछ काल सुख का बीतता है—और फिर छा जाता है अँधेरा। बड़ा सघन, बड़ा दम घोंटता अँधेरा।

तो, गुजरात का राजा जयसिंह जब आचार्य की प्रवचन-सभा में पहुँचा तब गुरुदेव देवचन्द्रसूरि कह रहे थे—

"अवस्था, आयु, सांसारिक स्थितियाँ। इनसे परे, इनसे अलग-आत्मा। जीव की।

"तो मैं जो एक जीवात्मा हूँ, वह तो अब जाने को है। यह आचार्य पद मैंने तुम्हें दे दिया—हेमचन्द्र—"

गुरुदेव देवचन्द्रसूरि ने जब इतना कहा तब वहां उपस्थित सहस्र-सहस्र जनसमुदाय ने घोष किया—

"आचार्य हेमचन्द्र की जय—"

"हेमचन्द्राचार्य की जय—विजय !"

प्रमुख पाट पर गुरुदेव विराजमान थे। समीप ही हेमचन्द्राचार्य थे। अन्य मुनिगण थे।

मंत्रीश्वर उदयन तो पुराने घाघ थे। राजनीति के धुरंधर थे। धर्म के ध्वजाधारी थे। उन्होंने राजा से कहा—

"राजन ! यदि यह अवसर गुजरात चूक गया तो इतिहास बदल जाएगा और आपश्री को यह इतिहास किसी और नाम से जानेगा।

"प्रभु ! मैंने दूत भेजे हैं। आपको सूचना दी है। किन्तु अब जब आप स्वयं ही यहाँ पधार गए हैं तो विनय करना चाहता हूँ···।"

पुराना राजनीति का खिलाड़ी इतना कहकर मानो सांस लेने के लिए ही ठहर गया। राजा जयसिंह ने मंत्रीश्वर के कथन के मर्म को ग्रहण करने के लिए कुछ पल लिए। फिर उसने पूछा—

"कहिए, मंत्रीश्वर, आपका आशय क्या है ?"

"मेरे जीवन और मेरे समस्त कार्यों का आशय एक ही है, प्रभु ! क्या वह भी मुझे अपने ही मुख से कहना होगा ?"

स्थिति आचार्य हेमचन्द्र तथा गुरुदेव देवचन्द्रसूरि के सम्मुख थी। अतः विशेष वार्त्तालाप के लिए अवकाश नहीं था। राजा जयसिंह ने कहा—

"मंत्रीश्वर ! आपकी राजभक्ति विश्रुत है। किन्तु फिर भी आपके आशय का मैं अनुमान करते हुए भी आप ही से सुन लेना चाहूँगा....।"

"अभी तो इतना ही, प्रभु ! कि सभा समाप्ति पर आप स्वयं आचार्य हेमचन्द्र से अणहिलपुर पाटन पधारने की प्रार्थना करें।"

"अवश्य। वह तो मैंने सोचा ही था। किन्तु मंत्रीश्वर फिर आपने जो दूत भेजे हैं वे किस हेतु से ?"

"इसी सूचना के लिए कि आचार्य का विचार अणहिलपुर पाटन की ओर आने का है। किन्तु यदि महाराज स्वयं भी उनसे ऐसी ही अभ्यर्थना करते तो शुभ होता।"

"ठीक। तब तो अच्छा ही हुआ कि मैं यहां आ गया। आचार्य से मैं प्रार्थना करूंगा।"

"प्रभु ! क्षमा करें। गुजरात का राजा किसी से प्रार्थना नहीं करता। केवल आदेश प्रदान करता है। किन्तु कोई एक स्थान तो ऐसा होता ही है जहाँ राजा भी मात्र एक मानव ही होता है। और वह स्थान यही है, स्वामी ! इन आचार्य हेमचन्द्र के समक्ष उपस्थित होने पर राजाधिराजों का राजत्व शून्य सा प्रतीत होने लगता है। अदभुत हैं, विलक्षण हैं ये आचार्य....।"

"उदयन ! तुम जो कुछ शब्दों से कह रहे हो, उसे मैं हृदय में अनुभव कर रहा हूँ....।"

"मुझ विश्वास था, मैं जानता था प्रभु, कि मेरा गुजरात का नाथ ऐसा ही देखेगा; ऐसा ही सोचेगा, ऐसा ही करेगा। और अब मुझे वह भी सुनिश्चित दिखाई देता है कि गुजरात के दिन फिर गए—"

इतना कहकर मंत्रीश्वर ने सहजभाव से आंखें मूंद लीं।

अपने विशिष्ट व्यक्तित्व के तेज की आभा से दीप्तिमान राजा जयसिंह भी मौन होकर आचार्य हेमचन्द्र की ओर देखने लगा।

किन्तु देखने के लिए वहां था क्या ?

एक अलौकिक आभा से दीप्त-प्रदीप्त सौम्य सुन्दर मुख-मण्डल।

और उस दिशा से झर-झर कर आती ज्ञान रश्मियाँ।

अभेद्य को भी भेदकर भीतर तक को एकाशित करती वे दो आँखें—

कलिकाल सर्वज्ञ की वे दो आंखें !

दो और दो, वे आँखें मिलीं और चार हो गई।

देखने वाली दो आंखें सहज ही नमन में नत हो गईं।

दर्शनीय वे दो आंखें अपने देखने वाले के आर-पार कहीं किसी भविष्यत् तक पैरती चली गई।

फिर समारोह समाप्त हो गया। गुजरात का नाथ तब उठकर जब हाथ जोड़कर आचार्य हेमचन्द्र के सामने खड़ा हुआ तब आचार्य का धर्म लाभ प्रदान करता दाहिना हाथ किसी स्वर्गंगा में खिले अलौकिक कमल सा प्रतीत हुआ।

शब्द निरर्थक रह गए।

एक राजा के दो जुड़े हुए हाथ—

और एक संसार-त्यागी साधु का अभय संकेत करता वरदहस्त।

फिर भी लोकाचार को तो होना हो था। राजा को राजधर्म का निर्वाह करना था। अपने समवयस्क किन्तु अपने से कहीं बहुत-बहुत ऊँचे आचार्य हेमचन्द्र से राजा जयसिंह ने प्रार्थना की—

"आचार्य श्री ! गुजरात की ओर से एक प्रार्थना है आपसे।"

हेमचन्द्राचार्य मधुर मुस्कुराए। बोले—

"राजा ! गुजरात की ओर से कुछ कहने वाले तुम कौन ?"

"मैं ?····आचार्यश्री····मैं····गुजरात का राजा····।"

"यह तो सभी जानते हैं, राजन ! कि तुम गुजरात के राजा हो। तुम्हारा तो बहुत नाम हो चुका है। शुभ है। किन्तु गुजरात की ओर से, गुजरात के लिए, कुछ कहने अथवा करने के लिए तुम्हें एक बात हमेशा याद रखनी पड़ेगी।"

"वह क्या, आचार्यवर ?"

"यह, कि तुम भूल जाओ कि तुम राजा हो।"

अब जयसिंह गुजरात का राजा भी था और असामान्य वीर पुरुष

भी था। उसका वीरत्व मात्र शारीरिक ही नहीं था अपितु उसकी अन्तरात्मा तक को भी छूता था। अतः पल भर वह कुछ चकित सा दीखा आचार्य के इस कथन को सुनकर। किन्तु फिर स्वयं ही मानो बोधित हो गया हो इस प्रकार सौम्य मुस्कुराहट बिखेरता सा बोला—

"आचार्य का आदेश सदैव शिरोधार्य रहेगा।"

"शुभ होगा। किन्तु जो भुलाए रखना है उसे याद भी रख सकोगे न ?"

अब तो मंत्रीश्वर उदयन को बीच में पड़ना ही पड़ा। क्योंकि आचार्य के कथन के मर्म को युवक राजा जयसिंह पकड़ पाएगा कि नहीं, इस विषय में उन्हें यदि कोई शंका नहीं तो पूर्ण आश्वस्ति भी नहीं थी—जो भुलाए रखना है, उसे याद भी रखना है—यह विरोधाभास देता आचार्य का संक्षिप्त, गूढ कथन यदि राजा समझ न पाया तो कठिनाई होगी। यह सोचकर उन्होंने करबद्ध निवेदन किया—

"आचार्यवर ! आपश्री का प्रबुद्ध दर्शन जहाँ होगा, वहाँ कोई भूल कैसे होगी ? गुर्जर नरेश के वीरत्व तथा उनकी विचारशीलता के साथ आपश्री का विवेक जब मिल जायगा तब गुजरात का एक नया ही इतिहास लिखा जायगा। मानवता एक नए युग में प्रवेश करेगी आचार्यश्री ! तब गुर्जरनरेश आपश्री के आदेशानुसार जो भूल जाना है उसे भूले रहेंगे तथा जो याद रखना है उसे कभी भूलेंगे भी नहीं।"

यह कहकर मंत्रीश्वर उदयन ने अपनी दृष्टि झुकाली। वे विनय की मूर्त्ति से स्थिर हो गए।

राजा जयसिंह ने सूत्र को समझा, उसकी अवधारणा की और फिर उसे आगे बढ़ाया—

"आचार्यश्री ! अविनय क्षमा हो, किन्तु पूर्ण आश्वस्तिपूर्वक कह सकता हूँ कि मंत्रीश्वर उदयन तथा महामात्य मुंजाल जैसे दिग्गज देशभक्तों की छाया में पला बढ़ा यह जयसिंह राजधर्म के निर्वाह हेतु यदि राजा रहेगा तो धर्म की प्राप्ति हेतु रंक भी। मेरा गुजरात....अपना गुजरात पुकार लगा रहा है आचार्यवर ! उसे ज्ञान का वरदान चाहिए। अपने गुजरात की ओर से आपश्री से विनय करता हूँ कि आप अणहिलपुर पाटन पधारें और उस केन्द्र से समस्त गुजरात में सरस्वती की सरिता की सहस्र-सहस्र धाराएं प्रवाहित कर दें। मेरी प्रार्थना स्वीकार करेंगे न आचार्यश्री ?"

"प्रार्थना प्रभु से की जाती है, राजन् ! किन्तु मैं आऊँगा। मुझे लगता है कि आना अनिवार्य है। दृष्टि के दोषों से दीवारें खड़ी दिखाई देती हैं। उन दीवारों के आर-पार देखना-दिखाना तो होगा ही....।"

राजा और मंत्री प्रसन्न-प्रसन्न हो गए।

स्वीकृति प्राप्त हो गई थी।

उदयन मंत्रीश्वर ने आगे बढ़कर हेमचन्द्राचार्य के चरण-स्पर्श करते हुए कहा—

"इस आयु में यह पुण्यलाभ भी मेरे भाग्य में था।"

"धर्मलाभ !" कहते हुए हेमचन्द्राचार्य उठ खड़े हुए। राजा जयसिंह का विनत मस्तक उनके पाद-पद्मों में झुका हुआ था। चलते-चलते वे क्षण भर ठहरे और बोले—

"मंत्रीश्वर ! आप तो धर्मज्ञ हैं, अनुभवी हैं। ये राजा भी ज्ञानी हैं। विचार को सर्वोपरि रखिएगा। विचार विवेक का जन्मदाता होता है।"

नीति और राजनीति में समान गति रखने वाले मंत्री उदयन को आचार्य के कथन के मर्म को समझने में समय नहीं लगा। उन्होंने कहा—

"आचार्यवर ! आपकी कृपादृष्टि रहते, मेरे जीवित होते, तथा गुजरात के नाथ सिद्धराज जयसिंहदेव के होते कहीं अन्याय नहीं होगा। यदा-कदा कुछ भूले-भटके लोग अप्रिय कार्य कर बैठते हैं। उन्हें समुचित शिक्षा दी जाती है।"

हेमचन्द्राचार्य मंत्रीश्वर उदयन के इस कथन को सुनकर कुछ गंभीर दिखाई पड़े। उन्होंने कहा—

"शिक्षा ? कैसी शिक्षा मंत्रीश्वर ?"

"यही कि....आचार्यवर....राजधर्म कठोर है। अपराध करने वालों को दण्ड तो देना ही होता है....।"

"राजदण्ड राजा के हाथ में शोभा देता है, मंत्रीश्वर ! प्रजा की छाती पर नहीं। शिक्षण हो तो फिर अपराध आए कहाँ से ?"—बस, इतना कहकर, अथवा कहें कि यह एक जलता हुआ प्रश्न गुजरात के राजा और मन्त्री के सामने रखकर हेमचन्द्राचार्य लौट पड़े।

× × +

इतिहास का एक नया अध्याय।

स्तम्भतीर्थ छूटा। आचार्य विहार करते चले। डगर-डगर, ग्राम-ग्राम, नगर-नगर।

किसी एक दिन आचार्य किसी एक ग्राम में ठहरे थे। छोटे-से ग्राम के दस-बीस लोग जब उन्हें विदा करने आए थे तब उस समुदाय में चुपचाप चलता एक आदमी ऐसा भी था जिस पर यदि दृष्टि पड़े तो वहीं ठहर ही जाए। यकायक वह दृष्टि अन्यत्र जा न सके।

वह आदमी उस ग्राम का वासी हो, ऐसा प्रतीत नहीं होता था।

कोई यात्री होगा।

हां, वह एक ऐसा यात्री था जिसने सिर हथेली पर रखकर यात्राएँ की थीं।

वह कुछ आगे की बात है।

आज तो वह अन्य ग्रामवासियों की भाँति आचार्यश्री को विदा करने आया था। उसकी वेश भूषा अन्य सभी सामान्य ग्रामीणों जैसी ही थी।

किन्तु चरित्र तथा व्यक्तित्व क्या कभी किसी वेश से छिप सके हैं?

सहजभाव से आचार्य ने उपस्थित समुदाय पर दृष्टिपात किया और कहा—

"आप लोग अब लौट जाइये।"

तभी आचार्य की सर्वदर्शी दृष्टि उस आदमी पर पड़ी।

एक विचित्र क्षण आ उपस्थित हुआ।

इतिहास का एक विलक्षण दुर्लभ क्षण।

आचार्य ने उस आदमी को देखा, कुछ पल देखते रहे, फिर कहा—

"तुम चाहो तो कुछ दूर मेरे साथ चल सकते हो।"

उस आदमी ने शीष झुकाकर उत्तर दिया—

"आचार्यवर! मैं धन्य हो गया। आपश्री की यह शुभ दृष्टि मेरा वरदान बन गई। पधारिए मुनिवर!"

आगे-आगे आचार्य हेमचन्द्र।

पीछे-पीछे वह आदमी।

जब कुछ एकान्त स्थिति बनी तब आचार्य हेमचन्द्र ने कहा—

"समय-समय की बात है। समय का सदुपयोग कर लोगे तो सुख होगा। तुम्हें भी और गुजरात को भी।"

न कुछ पहले की बात, न कुछ पीछे की। अर्थात् संदर्भ कहीं दिखाई नहीं दिया था। फिर, आचार्य ने यह क्या कहा? क्यों कहा?

वह आचार्य कलिकालसर्वज्ञ था।

उसने गुजरात का भविष्य देख लिया था। उसकी त्रिकालदर्शी

दृष्टि में भूत, वर्तमान तथा भविष्य सहज ही, स्वतः ही प्रगट होता चला जाता था। उसे देखना नहीं पड़ता था। दृश्यमान जो कुछ भी सृष्टि में है वह स्वतः ही उसके समक्ष मूर्त्त होता चलता था।

आचार्य का वचन सुनकर उस आदमी ने कहा—

"वंदन स्वीकार हो, आचार्यवर! मुझे आश्चर्य भी नहीं है। आपश्री को देखकर ही मैं जान गया था कि ज्ञान साकार होकर गतिवान हुआ है। आपका आशीर्वाद पाकर तो धन्य हो गया। प्रतीत होता है कि तपस्या व्यर्थ नहीं जायगी।"

"तपस्या कभी व्यर्थ हो कैसे सकती है? यह तो तप का धर्म ही नहीं है। है क्या?

"नहीं, आचार्यवर! आपने ठीक ही कहा। तप व्यर्थ तो हो नहीं सकता।"

उसके बाद कुछ दूर तक, कुछ देर तक, कोई कुछ नहीं बोला।

आगे-आगे आचार्य।

पीछे वह आदमी।

यात्रा।

फिर आचार्य ने कहा—

"कुमारपाल! जीवन एक समर है। समर में से भागा नहीं जाता।"

कुमारपाल आचार्य का यह कथन सुनकर क्षणभर को विस्मित-सा हुआ—आचार्य को मेरा नाम भी ज्ञात है? कहीं किसी अन्य व्यक्ति ने जान लिया तो संकट उपस्थित हो जायगा....

उसके विस्मय, भय को जानकर आचार्य ने आगे कहा—

"कुमारपाल! तुम्हें गुजरात को नया जीवन देना है। नया संस्कार देना है। अभी राजा जयसिंह है। श्रेष्ठ पुरुष है। वह नींव रख रहा है। शिखर तुम्हें सजाना है। मैंने कहा कि वह उत्तम पुरुष है, किन्तु मनुष्य ही है न? भूल मनुष्य से हो ही जाती है। जाओ, समय की महिमा को जानो। और तब तक अपनी शक्ति और भक्ति का संग्रह करो। अब जाओ।"

आचार्य और उस आदमी के बीच की यह संक्षिप्त वार्ता किसी अन्य ने नहीं सुनी।

वह आदमी, कुमारपाल, गुजरात का भावी भाग्य-विधाता आचार्य के चरणों में मौन नमन करके लौट पड़ा।

\+ \+ \+

गुजरात का वह भावी भाग्यविधाता, वह भावी गुर्जरपति, वह राजा—जंगल-जंगल भटक रहा था।

काल अपनी गति से गतिमान था।

कलिकालसर्वज्ञ को सब ज्ञात था—भविष्य उनके लिए हस्तामलकवत् था।

卐

(छह)

६ ६

आचार्य हेमचन्द्र अणहिलपुर-पाटन पहुँच रहे थे।

उस समय अणहिलपुर पाटन भारतवर्ष की महान् नगरियों में से एक तो था ही, किन्तु यदि उसे महान् नगरियों की मणिमाला का शीर्ष मणि भी कहा जाय तो अतिशयोक्ति दोष नहीं होगा। एक नगरी थी उज्जयिनी। कौन नहीं जानता कि उज्जयिनी महान् थी? उसे वीर विक्रमादित्य का उत्तराधिकार प्राप्त था। सारा संसार विक्रमादित्य और उसकी उज्जयिनी के समक्ष नतमस्तक हुआ था। यह ठीक है।

किन्तु भारतवर्ष में अब एक अणहिलपुर पाटन भी था। पाटन में अब महालय थे, महामंदिर थे, महापुरुष थे। श्री, राजनीति तथा धर्म—इन तीनों का केन्द्र पाटन अपनी एक निराली ही छवि से शोभायमान था। पाटन के मंत्रिगण महा-विचक्षण थे। उनके राजनीतिक कौशल्य का लोहा सारा भारतवर्ष मानने लगा था। स्तम्भतीर्थ में तो मंत्रीश्वर उदयन बैठे ही थे, किन्तु पाटन में महामात्य मुंजाल थे। मुंजाल के नाम से ही भारत के नृपति काँप-काँप उठते थे—कि पाटन का मुंजाल मेहता? हे प्रभु, उस मुंजाल से हमें बचाकर रखना। कहीं उसकी दृष्टि हम पर पड़ गई, उसकी भृकुटि में यदि कोई भंग आ गया तो फिर हमारा क्या होगा? त्राहिमाम्!

ऐसा था पाटन। शिव के मस्तक पर शोभायमान चन्द्रकला के समान निष्कलंक गुणवान व्यक्ति उस पाटन में निवास करते थे। शुभ कर्म वाले व्यक्तियों के पास सम्पत्ति स्वयं दौड़ती चली आती है। अतः भारतवर्ष की लक्ष्मी पाटन के नागरिकों के चरणों में लोटा करती थी।

सबसे बड़ी बात जो पाटन में थी वह थी धार्मिक समन्वय की भावना। पाटन के मंत्रिगण समन्वय भाव को लेकर चलते थे। अतः पाटन में किसी को कष्ट नहीं था, किसी को शिकायत नहीं थी।

अन्याय नहीं था पाटन में।

पाटन का राजा शिव भक्त था। अवश्य। किन्तु उसे यह विचार भी था कि शिव जो है वह कहाँ नहीं है? वह तो सर्वत्र है। कण-कण में

वह है, घट-घट में वह व्यापक है। ऐसे शिव को नाम से क्या काम? नाम देना तो आदमी के मन और विचार की बात है। जो है, वह तो शिव है। आत्मा। जीवात्मा। वीतराग परमात्मा।

आप उसे कोई भी नाम दे दीजिए।

आप उसे किसी भी रूप में याद कीजिए।

आप अपने 'आत्मा' को, बस, जानिये। पहचानिये।

पाटन का राजा जयसिंह इसी उधेड़बुन में लगा था। उसे चैन नहीं था। उसके पाटन, उसके गुजरात में सब कुछ था। उसकी कीर्ति दिगन्त-व्यापी हो चुकी थी। उसका शौर्य असाधारण माना जाने लगा था। उसकी राजनीति अकाट्य समझी जाने लगी थी। वह स्वयं भी विद्वान् था और विद्वानों की पूजा करता था। बस, एक बात जो वह सुन नहीं सकता था, सहन नहीं कर सकता था, वह यह थी कि कोई भी कहे कि पाटन में और सब कुछ तो है, यह नहीं है।

पाटन में क्या नहीं है?

जयसिंह के पाटन में, जयसिंह के 'गुर्जरदेश' में यह नहीं है—यह सुनना जयसिंह को सह्य नहीं था। वह अपने गुर्जर देश को महान् देखना चाहता था। उस महान् गुर्जरदेश का प्रत्येक सुभट, साधु, सरस्वतीपुत्र महान् ही हो, यह स्वप्न था जयसिंह का। उस स्वप्न को साकार करने के लिए वह कटिबद्ध भी था।

इसीलिए तो खोजता-भटकता वह गया था स्तम्भतीर्थ और प्रार्थना की थी उसने आचार्य हेमचन्द्र से कि वे पाटन पधारने का अनुग्रह करें।

आचार्य आ रहे थे।

पाटन में यदि कुछ अभाव था तो उसे भरने।

पाटन की तलवार को तत्वज्ञान प्रदान करने।

पाटन की श्री को साहित्य से समन्वित करने।

× × ×

धर्म का धाम, नय का स्थान, श्री तथा लक्ष्मी से सदैव सेवित पाटन, भूमि के स्वस्तिक के समान सुशोभित था।

उस पाटन का राजा जयसिंह दर्शन तथा तत्त्वज्ञान की चर्चा में रस लेता था। वह जीवन के समस्त अंगोपांगों की छानबीन कर लेना चाहता

था। अतः वह तलवार, तुरंग तथा तत्त्वज्ञान के साथ-साथ साहित्य, शिल्प, सौंदर्य—सभी विषयों में रस लेकर अमृत की खोज कर रहा था।

वह अमृत उसे प्रदान करने आ रहे थे आचार्य हेमचन्द्र।

उज्जयिनी में विक्रमादित्य हुए थे।

विक्रमादित्य के पास कालिदास थे।

सिद्धराज जयसिंह अपने पाटन को वही गौरव प्रदान करना चाहता था। विक्रमादित्य की भाँति वह आठों याम अपनी प्रजा के सुख-दुःख की चिन्ता में लीन, प्रकट तथा अप्रकट भटकता ही रहता था।

उसे किसी कालिदास की प्रतीक्षा थी।

कालिदास तो महाकवि थे। महान् थे।

किन्तु जयसिंह के पास जो आ रहे थे वे थे आचार्य हेमचन्द्र। कलिकालसर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र—जिनका मात्र एक दृष्टिपात भी असीम कल्याण का कारण था।

शुभ संयोग देखिये—

आचार्य हेमचन्द्र पाटन में प्रविष्ट हो चुके थे। उनके पावन चरण धरती पर सहस्र-सहस्र कमल-दल खिलाते-से मन्द गति से स्थानक की ओर बढ़ रहे थे। किसी को खबर थी कि नहीं, किन्तु उनके पीछे एक जन-मेदिनी सहज ही उमड़ पड़ी थी। राह चलता आदमी जाने कहाँ तो जा रहा था, जाने उसे कितना आवश्यक कार्य था, किन्तु आचार्य पर एक दृष्टि क्या पड़ी कि वह तो अपनी राह ही भूल गया····।

अर्थात् वह रास्ते पर आ लगा।

राह तो वह भूला हुआ था। अब आचार्य को देखा तो जैसे उसके चिन्तन के तमाम मार्ग एक उसी मार्ग में सिमट गए जिस मार्ग पर आचार्य के चरण अग्रसर हो रहे थे।

जिन्हें सूचना थी, वे भी, और जिन्हें ज्ञान नहीं था, वे भी, आचार्य के पीछे-पीछे चल पड़े थे और पाटन का आकाश गूंज उठा था—

"आचार्य हेमचन्द्र की जय! जैन धर्म की जय।"

उसी समय भारतवर्ष के भविष्य को रेखांकित-सी करती हुई एक घटना घटित हुई—

राजा जयसिंह राजहस्ती पर सवार कहीं जा रहा था।

आचार्य हेमचन्द्र आ रहे थे।

गुजरात का गौरवमय काल अपने एक-एक चरण धरता आगे बढ़ रहा था।

राजा ने जब राजाओं के राजा आचार्य को पधारते देखा तो वह कूदकर हाथी पर से नीचे आ गया और हाथ जोड़कर बोला—

"शत-शत वन्दन! पाटन और पाटन का राजा, पाटन की प्रजा धन्य हो गई, आप पधार गए, मुझे सूचना क्यों नहीं मिली? मुंजाल···· ?"

महामात्य मुंजाल ने तब पहले आचार्य को वन्दन किया और फिर कहा—

"महाराज! यह मैंने जानबूझकर ही किया है।"

"आपका अभिप्राय ?"

"यही पाटनपति, कि मैं देखना चाहता था कि सूर्य जब उदित होता है तो कौन-सा स्थल है जो अँधेरा ही रह सकता है।"

"मैं फिर भी समझा नहीं महामात्य!"

"प्रभु! यह तो आपकी महानता ही है जो ऐसा कह रहे हैं, किन्तु मैं जानता हूँ कि आप जानते हैं। आप देख रहे हैं न इस जनमेदिनी को? पाटन के इन धर्मप्रेमी नागरिकों को? कैसे उमड़ पड़े हैं आचार्यश्री के पीछे-पीछे!"

"हां, यह तो है।"

"प्रभु! सूर्य जब उदित होता है तो समग्र सृष्टि जाग उठती है। प्रकाशित हो जाती है। और जब चन्द्रोदय होता है तो समुद्र की लहर-लहर आन्दोलित हो जाती है। स्वयमेव। मैं ऐसे अद्भुत दृश्य अपनी आँखों से आज पाटन में एक साथ देखना चाहता था महाराज! इसीलिए मैंने जान-बूझकर सूचना नहीं की थी। अपराध क्षमा हो।"

राजा और राजाओं के राजा आचार्य दोनों ही मन्द-मन्द मुस्कुरा उठे—यह मुंजाल मेहता बहुत गहरा आदमी है। इसके कार्य भी अद्भुत हैं और कल्पना भी।

राजा जयसिंह ने पुनः हाथ जोड़कर आचार्य को नमन करते हुए कहा—

"पधारिये आचार्य! और मेहताजी, अब मैं कहीं जाऊंगा नहीं। आचार्यश्री के साथ मुझे स्थानक जाना है।"

हेमचन्द्राचार्य ने दाहिना हाथ उठाकर राजा और मन्त्री को धर्म लाभ का शुभाशीर्वाद प्रदान करते हुए कहा—

"राजन ! आप यशस्वी बनें। प्रजा आपके छत्र की छाया में सुख से निर्वाह करें। किन्तु आप किसी कार्य विशेष से कहीं जा रहे थे न ?'

"जा तो रहा था आचार्यवर ! किन्तु अब नहीं जाऊँगा....।"

"नहीं नहीं, राजन ! यह उचित नहीं। अपने गंतव्य की ओर आगे बढ़ें—

कारय प्रसरं सिद्ध ! हस्तिराजमशंकितम् ।
त्रस्यन्तु दिग्गजाः किं तैर्भूः स्वयंबोढता यतः ॥

सिद्धराज राजा जयसिंह आचार्य हेमचन्द्र के स्वागतार्थ उनके साथ साथ स्थानक तक जाना चाहता था, उनके पीछे पीछे पैदल। किन्तु आचार्य ने उसे अपना कर्तव्य बोध कराते हुए कहा—तुम अपने गंतव्य की ओर जाओ, राजन् ! अपने हाथी को अशंकित भाव से आगे बढ़ने दो। दिग्गज यदि काँपते हैं तो उन्हें काँपने दो। यह चिन्ता तुम्हें नहीं करनी है। क्योंकि राजन् ! तुम पृथ्वी का भार धारण करते हो।

राजा ने, महामात्य मुंजाल मेहता ने, तथा विशाल जनमेदिनी ने आचार्य का यह कथन सुना और प्रसन्न-प्रसन्न जनसमुदाय में से जयघोष उठा—'आचार्य हेमचन्द्र की जय ! महाराज सिद्धराज जयसिंहदेव की जय !'

"किन्तु आचार्यवर, मेरा काम बाद में भी हो सकता है.... ।"

"नहीं राजन् ! जो काम अभी हो सकता है उसे अभी ही किया जाना चाहिए। अभी का काम बाद के लिए और आज का काम कल के लिए क्यों छोड़ोगे ? और फिर यह भी तो है कि तुम्हारा काम कौन सा ? तुम्हारा अपना तो कोई काम है नहीं। तुम राजा हो। राजा का प्रत्येक कार्य अपनी प्रजा के लिए ही होता है। तुम जिस कार्य से अभी कहीं जा रहे हो वह तुम्हारी प्रजा का ही कोई कार्य है न ? उन जनहित के कार्य को तुम स्थगित क्यों करोगे ?

"जाओ, राजन् ! अपनी प्रजा के कल्याण को ही अपना धर्म समझो। अब मैं तो यहाँ आ ही गया हूँ। तुमने भी कहा था, मेरी आत्मा से भी ऐसी ही ध्वनि उठती थी। गुजरात की प्रजा शक्तिगर्भा है। तुम गुजरात के राजा हो। अपने गुजरात को जागृत करो। लोक को आलोकित

करो। भारतवर्ष के समस्त नरेश यदि इसी प्रकार अपने-अपने स्थान पर अपने-अपने धर्म को जानकर अपने-अपने कर्त्तव्य का पालन करें तो भारत-वर्ष का क्या स्वरूप बने !"

इतना कहकर आचार्य आगे बढ़ गए।

गुजरात का राजा और उसका महामात्य पाटन में आचार्य के प्रथम उपदेश तथा आदेश को स्वीकार कर अपने गंतव्य की ओर चले।

मौन बना रहा कुछ समय तक। उस मौन में राजा और मंत्री दोनों के मस्तिष्क में विचार-तरंगें उल्लसित नृत्य कर रही थीं—

ये युवा आचार्य कैसे अद्‌भुत हैं ! कैसी विलक्षण प्रतिभा, कैसा विचित्र तेज और प्रकाश है इनकी आत्मा में जो इनके व्यक्तित्व से फूट-फूटकर अजस्र धारा की तरह प्रवाहित हो रहा है। धर्मसंग्रह तथा लोक-संग्रह अथवा कहें कि धर्माराधन तथा लोक-कल्याण की भावना का कैसा मंगलमय सामंजस्य है इनके चरित्र में !

मानो हेम भी है और सुवास भी।

●

(सात)

पाटन के राजदरबार में अब एक नई चेतना, अनूठी भव्यता आ गई थी। अनेक विद्वान् एवं कवि उस राजसभा की शोभा पहले से ही बढ़ा रहे थे। कवि श्रीपाल थे। पंडित देवबोध थे। श्रीपाल में सौम्यता थी। देवबोध दुर्धर्ष व्यक्ति थे। उनकी विद्वत्ता तो समूचे भारतवर्ष में ज्ञात-विख्यात थी। उनके पांडित्य का लोहा कश्मीर से कन्याकुमारी तक माना जाता था। किन्तु उस चन्द्रमा में एक कलंक भी था—वे वारुणीभक्त थे। इस कारण यद्यपि उनके पास मनचाही सम्पत्ति आती थी, किन्तु स्वभाव से ही चंचला लक्ष्मी उनके पास टिक नहीं पाती थी। उनके स्वभाव में उदारता थी। मदिरा के प्रति आसक्ति के कारण उनकी उदारता फिजूल-खर्ची की सीमा तक जा पहुँची थी।

पंडित देवबोध किसी कवि अथवा याचक को कुछ देने पर आते थे तो फिर यह नहीं देखते थे कि उनके पास क्या है, कितना है, अथवा देने के बाद उनके पास कुछ शेष भी रहेगा अथवा नहीं। वे तो देते ही चले जाते थे।

वे इन्द्र के समान वैभव में निमग्न रहते थे। उनका विशाल प्रासाद विलास का जादूभरा संसार था। प्रासाद के उद्यानों में वर्ष भर वासन्ती पवन मादक हिलोरें लिया करता था। सुन्दरियाँ मणिमुक्तायुक्त कंकणों की ताल पर वारि-यंत्रों के आसपास मयूरों को नृत्य सिखाया करती थीं। दास-दासियाँ संगीत के स्वर छेड़ा करते थे। स्वयं पंडित देवबोध आगन्तुक कवियों पर स्वर्णमुद्राएं उछाला करते थे।

परिणाम अवश्यम्भावी था कि पंडित देवबोध ऋण के पर्वत के नीचे दबते चले जा रहे थे।

उन्हें उज्जयिनी पुकार लगा रही थी। काशी बुला रही थी। किन्तु स्वाभिमानी पंडित ऋणमोचन से पूर्व पाटन छोड़ नहीं सकते थे।

न ऋण चुकने पर आता था और न पंडित देवबोध पाटन से बाहर जा पाते थे। न उनका स्वभाव बदलता था, न उनका अभाव दूर हो पाता था।

इसी प्रकार समय बीतता चला जा रहा था।

आचार्य हेमचंद्र पंडित देवबोध की प्रगाढ़ विद्वत्ता का आदर करते थे। उनके मदिरा-प्रेम को देखकर आचार्य के मन में अपार करुणा का उद्रेक उठा करता था। वे विचार करते थे कि यदि यह विद्वान व्यक्ति इस विष के सम्मोहन से मुक्त हो जाय तो साहित्य-संसार का बड़ा भला हो।

आचार्य उचित समय की प्रतीक्षा में थे।

उधर पंडित देवबोध आचार्य की अद्वितीय प्रतिभा से चकाचौंध हो रहे थे। मानों उन्हें विश्वास ही नहीं हो पा रहा था कि इतनी अल्प वय में कोई व्यक्ति ऐसे प्रकाण्ड, प्रभूत, पारदर्शी पांडित्य का धनी हो सकता है। मन ही मन वे आचार्य हेमचंद्र की पूजा करने लगे थे।

अपने समय के दो महारथी आमने-सामने थे।

एक साथ थे, ऐसा कहना चाहिए, क्योंकि वहां द्वेष नहीं था। परस्पर सम्मान की भावना थी।

श्रीपाल तथा देवबोध में अवश्य ही ठनी रहती थी। वे दोनों जब तब आपस में उलझ जाया करते थे। दो विद्वानों के इस तेजोद्वेष को देखकर राजा जयसिंह को पीड़ा होती थी। वह प्रयत्न भी करता था कि ये दोनों कवि-पंडित परस्पर सौहार्द की भावना लेकर चलें। आपस में उलझा न करें, एक-दूसरे से ईर्ष्या न करें। किन्तु अपने इस उद्देश्य में वह सफल नहीं हो पा रहा था।

अन्ततः आचार्य हेमचन्द्र ने ही कवि श्रीपाल तथा पंडित देवबोध के हृदयों में गड़े हुए अभिमान एवं ईर्ष्या के शूलों को उखाड़ फेंका। उनके प्रेममय व्यक्तित्व के सम्मुख उन दोनों महानुभावों के अहंकार के शिखर गल-गलकर बह गए। वे दोनों परस्पर प्रीति करने लगे।

एक चमत्कार-सा हो गया। पाटन की राजसभा में अब परस्पर व्यंग अथवा किसी प्रकार के आक्रोश-प्रदर्शन के स्थान पर स्नेहिल वातावरण बन गया।

सरस्वती प्रसन्न हुई।

चिरकाल तक साहित्य-रसिकों को सुख दे, अज्ञान के अन्धकार में भटकते भूले लोगों को शुभ ज्ञान का प्रकाश दे, उन्हें राह बताये, ऐसे साहित्य का सृजन रात्रि-दिवस होने लगा।

राजा जयसिंह आचार्य हेमचन्द्र के इस अद्भुत प्रभाव से विभोर हो गया।

वह स्वयं भी मात्र साहित्य-रसिक ही नहीं, विद्वान भी था। गूढ़

दार्शनिक विषयों पर चर्चा किया करता था। कभी किसी सिद्धान्त के विषय में शंका उत्पन्न होने पर वह समाधान प्रस्तुत करने की क्षमता भी रखता था। धर्मचर्चा करने में उसे खूब रस आता था। काव्य की, दर्शन की, धर्म की गुत्थियों को वह समझता था, सुलझाता था। वह जानता भी था और जानने के लिए सदैव उत्सुक रहता था। जिज्ञासावृत्ति उसका एक विशेष गुण थी।

एक दिन विश्व के रहस्य को समझने की उसकी जिज्ञासा तीव्र हो उठी। वह इस संसार-सागर को पार करना चाहता था। अतः देवत्व की पात्रता के विषय में उसने सभा में उपस्थित समस्त दार्शनिकों से प्रश्न किया—

"देवता कैसे होते हैं ? देवत्व की प्राप्ति किस प्रकार संभव है ?"

राजसभा में उपस्थित सभी विद्वानों ने अपने-अपने विवेक, अपने-अपने मतानुसार उत्तर प्रस्तुत किए। अपने-अपने मत का समर्थन तथा अन्य मतों का खंडन किया।

किन्तु जयसिंह सन्तुष्ट नहीं हुआ।

अन्ततः उसने आचार्य हेमचन्द्र से ही पूछा—

"प्रभु ! आप ही बता सकते हैं। कृपया कहिए कि इस संसार-सागर से प्राणी को पार उतारने वाला कौन सा धर्म है ?"

प्रशान्त मुद्रा में स्थित आचार्य सब कुछ सुन रहे थ। राजा के प्रश्न के उत्तर में उन्होंने पुराणोक्त एक आख्यान उस भरी सभा को सुनाया।

शिखरपुर (शेखपुर) में शाम्ब नामक एक धनाढ्य व्यक्ति रहता था। उसकी पत्नी का नाम यशोमति था। जीवन सुखपूर्वक व्यतीत हो रहा था। किन्तु पूर्वजन्मों के किन्हीं पापकर्मों के उदय से सेठ की मति भ्रष्ट हो गई और उसने किसी अन्य सुन्दरी से विवाह कर लिया। इस विवाह के पश्चात् सेठ दिन-रात अपनी नवोढ़ा पत्नी के प्रेम में ही पागल बना रहने लगा। बेचारी यशोमति उपेक्षित हो गई। उसे अपने पति के दर्शन भी दुर्लभ हो गए। वह बहुत दुःखी हो गई।

प्रायः मनुष्य के मन की गहन निराशा उसके कर्त्तव्याकर्त्तव्य के विवेक को समाप्त कर देती है। यशोमति भी निराशा और दुःख में डूबकर अपने निष्ठुर पति से बदला लेने का विचार करने लगी। वह किसी उपाय तथा अवसर को तलाशने लगी।

वह अवसर गौड़ देश के एक कलाकार के रूप में शिखरपुर में आ

पहुँचा। यशोमति ने उस कलाकार की प्रभूत सेवा करके उसे प्रसन्न कर लिया। कलाकार ने पूछा—

"कहो, तुम्हारी क्या इच्छा है ? मैं तुम्हारी सेवा से प्रसन्न हूँ।"

यशोमति सौतिया डाह की अग्नि में जल रही थी। अपने बेवफा पति से बदला लेना चाहती थी। उसने कहा—

"कोई ऐसा उपाय बताइए कि मेरे पति पशु बन जायँ।"

उस कलाकार के पास एक ऐसी अद्‌भुत औषधि थी कि जिसके खाने से कोई भी मनुष्य पशु के रूप में परिवर्तित हो सकता था। उसने वह औषधि यशोमति को देकर कहा—

"अपने पति को यह औषधि खिला देना। वह बैल बन जायगा।"

यशोमति ने प्रसन्नतापूर्वक वह औषधि ले ली और किसी भोजन-सामग्री में उसे मिलाकर अपने पति को खिला दी। बेचारा शाम्ब श्रेष्ठि सचमुच बैल बन गया।

पहले तो यशोमति बहुत प्रसन्न हुई। उसने बदला जो ले लिया था। किन्तु फिर धीरे-धीरे उसका विवेक जब लौटा तो वह दुःखी हो गई। उसे पश्चात्ताप हुआ। किन्तु करती क्या ? बैल को पुनः मनुष्य बना लेने की विद्या उसे ज्ञात नहीं थी। दुःखी मन से वह उस बैल को जंगल में हरी-हरी घास चराया करती थी।

ऐसी ही स्थिति में एक दिन वह जंगल में एक वट-वृक्ष के नीचे बैठी विलाप कर रही थी।

शंकर-पार्वती उस समय आकाश मार्ग से उसी स्थान से कहीं जा रहे थे। पार्वती ने उसका विलाप सुना तो पिघल गईं। बोलीं—

"हे महादेव ! इस स्त्री को क्या दुःख है ? इसका दुःख दूर कर दीजिए।"

शंकर ने पार्वती को सारी वस्तुस्थिति बताते हुए कहा—"इस बैल को पुनः मनुष्य बनाने की औषधि इसी वृक्ष की छाया के घेरे में एक वनस्पति में है।"

यशोमति ने वह कथन सुन लिया। उस छाया के घेरे में जितनी भी वनस्पति थी वह सारी उखाड़कर—उसने बैल को खिलादी।

नाना प्रकार की घास तथा वनस्पति के साथ वह वनस्पति भी बैल के पेट में पहुँच गई और बैल पुनः शाम्ब श्रेष्ठि बन गया।

यह दृष्टान्त सभा में सुनाकर आचार्य हेमचन्द्र ने तत्त्व की बात कही—

"राजन् ! वटवृक्ष की विशाल छाया के घेरे में अनेक प्रकार की घास तथा अनेक प्रकार की वनस्पतियाँ थीं। किन्तु यशोमति को उस औषधि विशेष का ज्ञान नहीं हो सका जो उसके उद्देश्य की पूर्ति कर सकती थी। इसी प्रकार इस युग में अनेक धर्मों के कारण सत्य-धर्म तिरोभूत हो रहा है, दृष्टि से ओझल हो रहा है। किन्तु समस्त धर्मों के सेवन से उस दिव्य औषधि के सेवन के समान पुरुष को कभी न कभी शुद्ध-धर्म की प्राप्ति हो ही जाती है। जीव-दया, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह के सेवन से बिना किसी विरोध के समस्त धर्मों का आराधन हो जाता है।"

आचार्य हेमचन्द्र के मुख से यह शुद्ध, सर्वमान्य सत्य सुनकर सभा प्रभावित हुई और राजा जयसिंह सन्तुष्ट हो गया। आचार्य ने बड़ी स्पष्टता, बड़ी सरलता तथा निश्चयपूर्वक अनेकान्त दृष्टि को सर्व-दर्शन-संग्रह के रूप में प्रस्तुत किया था। अनेकान्तवाद के रहस्यज्ञ आचार्य की सारग्राही विवेकबुद्धि उनके इस तत्त्व-निरूपण में जगमगाती दीख रही थी।

राजसभा का एक अन्य प्रसंग भी मनोरंजक होने के साथ-साथ आचार्य की तीव्र प्रत्युत्पन्नमति का सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करता है। एक बार आचार्य राजसभा में गए। उन्हें प्रवेश करता देखकर किसी अनाड़ी, अहंकारी पंडित ने व्यंगपूर्वक कहा—

"आगतो हेमगोपालः दण्डकम्बलमुद्वहन्।"

आचार्य हाथ में दण्ड रखते तथा कम्बल ओढ़ते थे। उस पंडित के कथन का अभिप्राय था, व्यंग था, कि दण्ड और कम्बल को धारण कर यह हेमगोपाल (ग्वाला) आ गया है। वह पंडित ऐसा कहकर जैन मुनियों की वेश-भूषा का उपहास करना चाहता था।

किन्तु त्वरितगामिनी मनीषा के धनी आचार्य हेमचन्द्र ने उत्तर दिया—

"षड्दर्शन पशु प्रायान् चारयन् जैन वाटिके।
आगतो हेमगोपालः दण्डकम्बलमुद्वहन्॥"

—अर्थात् षड्दर्शन रूपी पशुओं को जैन वाटिका में चराता हुआ हेमगोपाल दण्ड और कम्बल धारण कर आ गया है।

यह उत्तर सटीक था। उस अनाड़ी, अहंकारी पंडित के मुख पर इस उत्तर से जहाँ हवाइयाँ उड़ने लगीं वहीं समस्त राजसभा आचार्य के कथन से वाह-वाह कर उठी। आचार्य ने उचित अवसर पर, बड़ी शाली-

नता तथा चातुर्यपूर्वक अन्य समस्त भारतीय दर्शनों से जैन दर्शन की श्रेष्ठता को निरूपित कर दिया था और सहज शान्त भाव से वे मुस्कुरा रहे थे।

राजा जयसिंह भी आचार्यवर के इस उत्तर को सुनकर मन ही मन बहुत प्रसन्न हुआ। किन्तु उसे उस पंडित की धृष्टता पर कुछ क्रोध भी आ गया था। उसने भरी सभा में उस पंडित से कहा—

"पंडितजी, कृपया विद्वानों की सभा में शिष्टाचरण सीखकर आइए।"

राजा का यह एक ही वाक्य उस पंडित को पानी-पानी कर देने के लिए पर्याप्त था। लज्जा का मारा वह अपना सिर भी उस दिन फिर उठा नहीं सका।

बातें तो हवा के पंख लगाकर उड़ती हैं।

यह घटना भी पाटन की सरस्वती-प्रेमी जनता से छिपी कैसे रहती? जिस-जिसने सुनी, वही-वही आचार्य की प्रतिभा के आगे सदा-सदा के लिए विनत हो गया।

और पंडितगण? उस दिन के बाद किसी पंडित का कभी साहस नहीं हुआ कि वह आचार्य हेमचंद्र के समक्ष आँख उठाकर भी देख सके।

× × ×

इस प्रकार गुजरात के गौरवपूर्ण इतिहास का निर्माण उस युग के दो महापुरुष कर रहे थे। एक सिद्धराज जयसिंह और दूसरे आचार्य हेमचंद्र।

एक युग-निर्माता था, दूसरा संस्कार-निर्माता। एक समर-विजयी था तो दूसरा मार-विजयी। एक सरस्वती का प्रेमी था तो दूसरा सरस्वती-धर्मी। एक अनन्त वैभवशाली था तो दूसरा पूर्ण विरक्त। एक महत्त्वाकांक्षी था तो दूसरा लोकसंग्रही। एक उग्र-प्रचंड और कुछ व्यग्र स्वभाव का तो दूसरा जितेन्द्रिय तथा शान्त।

जयसिंह गुजरात की विजयपताका चारों दिशाओं में लेकर उड़ रहा था, तलवार की छाया में।

आचार्य हेमचंद्र गुजरात की प्रजा में धर्म का संस्कार स्थापित कर रहे थे जो गुजरात के जन-जन के वर्तमान और भविष्य का निर्माण करने वाला था।

उन्हीं दिनों, एक रात, राजा जयसिंह की नींद उचट गई—

उसे लगा कि जैसे किसी ने उसे पुकारा हो। वह चौंककर उठ बैठा।

नीरव रात्रि। विशाल प्रासाद में कहीं कोई हलचल नहीं। द्वार-पाल नंगी तलवारें खींचे द्वार पर सन्नद्ध, किन्तु गतिहीन।

तब किसने पुकारा गुजरात के नाथ को ?

जयसिंह विचार में पड़ गया।

उसने किसी को पुकारा नहीं, केवल विचार करता रहा कि उसकी नींद क्यों उचटी ? किसी ने उससे कुछ कहा था क्या ? ऐसा कैसे सम्भव है ? कोई है ही नहीं तब कोई कुछ कहेगा कैसे ? किन्तु कोई न कोई बात तो हुई है। वह क्या बात है ? इस प्रकार आधी रात में, नीरव, निस्तब्ध अर्ध रजनी में उसकी नींद अचानक उचट गई है तो कोई न कोई कारण तो होना ही चाहिए।

वह कारण क्या है ?

घड़ी भर ऐसे ही बीत गई। राजा उलझन में पड़ा विचारों के जाल-जंजाल में से उस कारण को खोज निकालना चाहता था।

आखिर उसकी दृष्टि कक्ष की दीवारों पर टँगे अपने पूर्वजों के तैल चित्रों पर पड़ी—

चामुंडा की कृपा पर अचल भक्ति रखने वाले चामुण्डराय बोले—

"जयसिंह ! मेरा सपना अधूरा ही रह गया, उसे तू पूरा नहीं करेगा ?"

देवों को भी दुर्लभ शौर्य के धनी दुर्लभराज ने कहा—

"जयसिंह ! हमारी आकांक्षा की पूर्ति करने का दुर्लभ अवसर अब उपस्थित हो गया है। अब देर न कर।"

अपने दाहिने हाथ में भीम-भयंकर खड्ग धारण किए भीमदेव मानो गरजे—

"जयसिंह ! हमारी तलवार जब चमकी तब खूब चमकी। किन्तु हमारा स्वप्न सिद्ध न हो पाया। अब तू उठ, सिद्धराज ! अपनी तलवार का पानी दिखा।"

कर्णदेव मानो देह धारण कर नीचे उतर आए और जयसिंह के कान में कहने लगे—

"जयसिंह तुझे दिग्विजयी होना है। इस समय अपने गुजरात की प्रजा का उत्साह शिखर पर है। अब सो मत, उठ, अपनी विजय पताका उज्जयिनी के राजप्रासाद पर फहराने के बाद सो लेना।"

जयसिंह को अपनी बेचैनी के कारण का पता चल गया—मालवा।

यह मालवा उसके वीर पूर्वजों तथा स्वयं उसकी भी आँख की किरकिरी बना ही हुआ है। जब तक मालवा पर विजय नहीं पाई जाती तब तक सब कुछ अधूरा है। उसके पूर्वजों के मालवा-विजय के स्वप्न अधूरे हैं—उसकी 'सिद्धराज' की उपाधि भी अर्थहीन ही है।

उसने एक लम्बी साँस ली।

उसने दीवार पर टँगी अपनी तलवार की ओर दृष्टि-निक्षेप किया।

उसने अपने मन में एक अटल संकल्प धारण किया।

फिर वह उठ बैठा। शान्त कदमों से चलता हुआ वह कक्ष से बाहर आकर उद्यान में टहलने लगा और योजनाएँ बनाने लगा।

इस स्थिति में कितना समय व्यतीत हो गया यह उसे ज्ञात नहीं हुआ। उसके मस्तिष्क में एक ही विचार चक्कर काट रहा था—मालवा विजय।

अब मालवा को जीतना ही होगा। राजा यशोवर्मा महान् है, कोई सन्देह नहीं। राजा यशोवर्मा वीर है, यह भी असंदिग्ध है। यशोवर्मा पंडित है, निस्संदेह। उसने अपने मालवा को महान् बनाया है तथा विजयश्री से मण्डित किया है। यह उसका कर्त्तव्य था मालवपति के नाते। किन्तु····।

जयसिंह सोच रहा था—किन्तु मेरा गुजरात क्यों महान् नहीं है? मेरे गुजरात में क्या कमी है?

नहीं, नहीं, नहीं····मेरे गुजरात में कोई अभाव नहीं है। मेरा गुजरात महान् है····महान् है····महान् है।

और गुर्जरपति अपना अटल संकल्प लिए कक्ष में लौट आया। अभी सबेरा नहीं हुआ था। किन्तु अपने संकल्प को मूर्त्त रूप देने के लिए अधीर जयसिंह ने प्रहरी को आदेश दिया—

"मुंजाल कहाँ हैं? उन्हें बुलाओ।"

"जो आज्ञा; पृथ्वीनाथ!"

"और उदयन कहाँ हैं? उन्हें भी बुलाओ।

"जो आज्ञा, पृथ्वीनाथ!"

"और देखो, सेनापति····अच्छा रहने दो, मुंजाल और उदयन को बुलाओ।"

"जो आज्ञा पृथ्वीनाथ !"

भौंचक्का-सा प्रहरी उलटे कदमों शीघ्रता से लौट गया पृथ्वीनाथ के आदेशों का पालन करने। उसका माथा घूम गया था। वह सोच रहा आधी रात पृथ्वीनाथ उठ बैठे, उद्यान में अकेले चक्कर काटते रहे; और अब महामात्य और महामंत्री उदयन को बुलवाया है····हे भगवान्! कुशल तो है ?

और स्वयं 'पृथ्वीनाथ' सोच रहे थे—ये सब मुझे 'पृथ्वीनाथ' कहते हैं। किन्तु जब तक मैं मालवा को विजय नहीं कर लेता तब तक कैसा पृथ्वीनाथ ? अब मुझे मालवा लेना ही होगा।

फिर उसे विचार आया—मालवा क्या केवल धरती के एक टुकड़े का ही नाम है ? क्या उस भूभाग को जीतकर मैं मालवा को जीत लूंगा ? आखिर भारतवर्ष में मालवा की इतनी प्रशस्ति क्यों है ? क्या उस गहन-गंभीर प्रदेश की विशेषता केवल 'पग-पग रोटी, डग-डग नीर' के कारण ही है ? क्या भारतवर्ष में अन्य शस्य-श्यामल प्रदेश नहीं हैं ?

ऐसा तो नहीं। भारत-वसुन्धरा तो सम्पूर्ण शस्य-श्यामला है। समस्त भारतवर्ष में घी-दूध की नदियाँ बहती हैं। उत्तर भारत को यदि गंगा-जमुना सिंचित करती हैं तो दक्षिण में कृष्णा-कावेरी और गोदावरी हैं। पूर्व में यदि ब्रह्मपुत्र रजत-मेखला सी पड़ी है तो पश्चिम तक सिंधु पहुँचती है।

और मेरे गुजरात में ?

मेरे गुजरात में सरस्वती और साबरमती हैं।

सरस्वती ?

अचानक जैसे जयसिंह को कोई सूत्र हाथ लग गया। सरस्वती···· सरस्वती····सरस्वती।

केवल धरती का अभिसिंचन करने वाली सरस्वती से ही कोई देश महान नहीं बन जाता। गुजरात में यदि सरस्वती और साबरमती हैं तो मालवा में क्षिप्रा है। वह तो हुआ। किन्तु धरती के पुत्रों के मानस का अभिसिंचन करने वाली जो सरस्वती मालवा में प्रवाहित है वह अन्यत्र कहाँ है ?

'सरस्वती कंठाभरण' केवल उज्जयिनी में ही है।

इतना विचार करते-करते जयसिंह फिर कुछ बेचैनी का अनुभव करने लगा। वह तिलमिलाकर अपने आपसे कहने लगा—न केवल मालवा को जीतूंगा, बल्कि राजा यशोवर्मा के प्रासादों से उसका कंठाभरण भी उठा लाऊँगा····।

वह जब कुछ शान्त हुआ तब सोचने लगा—इतना सरल है क्या मालवा की सरस्वती को गुजरात में ले आना? यह तो एक परम्परा है। एक संस्कार है। विद्वानों, पंडितों, दार्शनिकों की एक अटूट संस्कृति है।

उज्जयिनी का यशोवर्मा इस परम्परा, इस संस्कार इस संस्कृति का पोषक है, रक्षक है।

इसीलिए यशोवर्मा महान है और महान है उसका मालवा।

मुझे अपने गुजरात को महान बनाना है तो वह शिक्षा, वह संस्कार वह संस्कृति—वह सरस्वती कंठाभरण—अपने गुजरात में उत्प्रेरित करना होगा।

और वह अवश्य होगा।

अब तो पाटन में हेमचन्द्राचार्य विराजते हैं।

साक्षात् सरस्वती जिनके एक-एक निक्षेप, एक-एक शब्द में नृत्य करती है ऐसे आचार्य के पाटन में होने पर गुजरात संस्कारवान कैसे नहीं होगा?

आचार्य हेमचन्द्र की स्मृति आने पर जयसिंह पूर्णतः शान्त हो गया। उसे आश्वस्ति मिली।

शौर्य गुजरात में उछालें मार रहा था। स्वयं गुर्जरपति जयसिंहदेव शौर्य का मूर्त्त प्रतिरूप था।

सरस्वती तथा संस्कृति का अमृत-प्रवाह अब हेमचन्द्राचार्य के व्यक्तित्व से फूट पड़ने को था।

शान्त और आश्वस्त सिद्धराज जयसिंह प्रासाद के एक गवाक्ष से अब पौ का फटना देख रहा था।

उसे ऐसा आभास हो रहा था मानो आकाश उसके गुजरात पर सोने की वर्षा करने वाला हो।

उसी समय द्वारपाल ने प्रवेश कर शीष झुका आदर सहित सूचित किया—

"प्रभु! महामात्य दर्शन करना चाहते हैं।"

"अरे, भेज उन्हें भीतर,खड़ा-खड़ा क्या कर रहा है? और उदयन?"

"वे भी उपस्थित हैं, पृथ्वीनाथ !"

"भेज उन्हें भीतर, शीघ्र ।"

द्वारपाल लौट गया तथा दूसरे ही क्षण धरती को कंपा देने वाली सिंह जैसी किन्तु फिर भी मदमाती चाल से गुजरात का वह दुर्धर्ष महामात्य कक्ष में प्रविष्ट होता दिखाई दिया जिसे लोग मुंजाल मेहता कहते थे ।

चतुर, सदा-सजग, धीर-गंभीर तथा विचक्षण उदयन मंत्री भी उनके पीछे-पीछे ही आ रहे थे ।

'जय सोमनाथ' तथा 'जय जिनेन्द्र' के पश्चात् जब अपने समय के अपने-अपने क्षेत्र के वे तीनों महापुरुष आसन पर विराजमान हो गए तब मुंजाल मेहता ने महाराज जयसिंह से पूछा—

"गुर्जर नरेश ! आप आधी रात से जागे बैठे हैं । कुछ अधीर प्रतीत होते हैं । मुंजाल के रहते गुर्जरपति को क्या कोई चिन्ता हो सकती है ?"

"अरे मेहताजी, वैसी कोई बात नहीं है," महाराज जयसिंह बोले, "किन्तु अब मैं मालवा में धूल उड़ा देना चाहता हूँ ।"

तो ये बात है, मुंजाल मेहता तथा उदयन मंत्रीश्वर ने मन ही मन कहा । आज गुजरात के राजा को मालवा के यशोवर्मा की याद आई है । ठीक है, एक न एक दिन लोहा बजना ही था तो फिर शुभस्य शीघ्रम् ।

मन ही मन इतना विचार कर महामात्य ने राजा से कहा—

"आपकी आज्ञा की देर है महाराज ! मैं तथा उदयन प्रस्थान की तैयारी किए लेते हैं ।"

"तैयारी भी करनी पड़ेगी क्या ?" —जयसिंह ने पूछा ।

"गुजरात का सिपाही हर क्षण तैयार रहता है, महाराज ! अपनी ढाल का सिरहाना लगाकर तलवार पर हाथ रखकर ही सोता है ।" महामात्य ने कहा ।

"तब फिर तैयारी कैसी ? मैं तो सेनापति केशव को भी बुलवा रहा था । फिर सोचा पहले आप दोनों से विचार-विमर्श कर लूं ।"

"गुजरात का राजा वीर भी है तथा विवेकवान भी ।"

"चलो रहने दो मेहताजी, अब प्रशंसा करने सुनने का समय नहीं । सैन्य-सज्जा का समय है ।"

"मैंने निवेदन किया न महाराज, कि गुजरात का सैन्य हर घड़ी सज्जित ही रहता है ।"

"तब ठीक है, मैं भी तैयार हूँ....।"

"आप ? महाराज ! हमारे रहते आपको यह कष्ट उठाने की क्या आवश्यकता है ? क्या आपको मेहताजी तथा अपने ऊदा (उदयन) पर भरोसा नहीं ?"—इस बार उदयन मंत्रीश्वर ने कहा। वे फूंक-फूंककर कदम रखने वाले विचारशील व्यक्तियों में से थे। वे नहीं चाहते थे और महामात्य मुंजाल भी नहीं चाहते थे कि गुजरात तथा मालवा के अवश्य-म्भावी विकट युद्ध में गुजरात के नाथ को किसी संकट में पड़ने की सम्भावना का अवकाश छोड़ा जाय।

किन्तु गुजरात का नाथ कहाँ मानने वाला था ? उसके कानों में तो अपने पूर्वजों के अश्रुत, अबोले शब्द गूंज रहे थे—"हमारा अधूरा स्वप्न तू पूरा नहीं करेगा क्या, जयसिंह ?"

उसने कहा—

"उदयन मंत्रीश्वर ! आपकी तथा महामात्य की सामर्थ्य में कोई शंका नहीं है मुझे। किन्तु यह प्रश्न केवल युद्ध जीतने का ही नहीं है।"

"अन्य क्या बात है, महाराज ?"

"मुझे राजा यशोवर्मा से मिलना भी है।"—जैसे बिजली कड़क उठी हो, इस ध्वनि के साथ सिद्धराज जयसिंह ने उत्तर दिया।

मंत्रीश्वर तथा महामात्य दोनों ने त्वरित दृष्टि निक्षेप एक दूसरे की आँखों में किया। वे दोनों महाराज जयसिंह को बचपन से ही जानते थे। उन्हें निश्चय हो गया था कि अब जयसिंह किसी के मनाए मानने वाला नहीं था। अब तो सूर्य पश्चिम में उगे तो उगे, किन्तु जयसिंह स्वयं मालवा पर चढ़ने से रुक सके यह असम्भव था।

फिर भी जयसिंह के उत्साह और निश्चय की थाह लेने के उद्देश्य से महामात्य मुंजाल मेहता ने कहा—

"महाराज ! आपकी उपस्थिति से गुजरात के सैन्य में संजीवन प्रवाहित रहेगा। किन्तु प्रभु ? मालवा दूर है....।"

"उस मालवा को अपने गुजरात में मिला दूंगा मेहताजी !"

"ऐसा ही करें महाराज, किन्तु मैं कहता था कि मैं तो जा ही रहा हूँ। उदयन भी मेरे साथ होंगे, फिर चिन्ता किस बात की है ?"

"मैंने कहा न मेहताजी कि मुझे राजा यशोवर्मा से मिलना है।"

"वह कौन-सी बड़ी बात है महाराज ! आप आज्ञा दीजिए, राजा यशोवर्मा को पाटन दिखा दिया जायगा....।"

"नहीं नहीं, मेहताजी; मैं एक बार यशोवर्मा को उसके पूरे दप में देखना चाहता हूँ। मुझे उसकी तलवार का माप लेना है।"—जयसिंह ने बालकों के समान अधीर होते हुए कहा।

एक बार फिर मुंजाल और उदयन के नेत्र मिले। मानो दोनों एक दूसरे से कह रहे हों—अब कोई मार्ग नहीं।

पल दो पल कोई कुछ नहीं बोला। फिर जयसिंह ने कहा—

"हाँ, तो मेहताजी, सेनापति को संदेश भिजवा दीजिए।"

"जो आज्ञा, महाराज ! आप स्वस्थ भाव से अपना दैनन्दिन कार्य-कलाप निबटाइए। मैं व्यवस्था करता हूँ।"

"विलम्ब न कीजिएगा।"

"अब कैसा विलम्ब महाराज ! जब आपने निश्चय कर ही लिया है तो उसे पार उतरा ही समझिए। आओ, उदयन, चलो। बहुत-सा काम है तुमसे। प्रणाम ! गुर्जरेश्वर !"

गुर्जरेश्वर के वे दोनों प्रतापी मंत्री अपने महाराज को प्रणाम कर विदा हुए।

× × ×

राजा के प्रासाद से बाहर आने के बाद मुंजाल और उदयन अपनी-अपनी शिविकाओं में सवार होने से पूर्व सेवकों से कुछ दूर हटकर खड़े हो गए। मुंजाल मेहता ने उदयन मंत्री से कहा—

"उदयन ! बोलो क्या कहते हो ?"

"अब कहना क्या है मेहता जी ? अब तो वारे-न्यारे होने की वेला आ पहुँची। महाराज का हठ तो जग-जाना है। वे किसी कीमत पर अपनी हठ छोड़ने वाले नहीं। अब तो गिरनार के सिंह की गर्जना उज्जयिनी में महाकालेश्वर सुनेंगे।"

"सो तो ठीक है। अब युद्ध तो अनिवार्य ही है। लेकिन सामने मालवा है यह भी तो याद रहना चाहिए।"

"अब मालवा हो सारा संसार। एक बार तो लड़ ही लेना है मेहता जी, और लड़ाई निर्णायक ही कर लेनी है।"

"हाँ, उदयन ! युद्ध तो इस बार निर्णायक ही होगा। मुझे चिन्ता केवल इस बात की है कि कहीं महाराज अतिशय आवेश में आकर स्वयं को किसी संकट की स्थिति में न डाल लें। गुजरात को मुंजाल और भी मिल जायेंगे, उदयन ! किन्तु सिद्धराज जयसिंह दूसरा नहीं मिलेगा....।"

"आप कैसी बात कर रहे हैं मेहताजी ! गुजरात को न दूसरा मुंजाल मेहता मिलने को है और न सिद्धराज। किन्तु आपके मन में इस प्रकार की आशंका उठ क्यों रही है ? न मुंजाल मेहता को कुछ होने वाला न महाराज को।"—उदयन मंत्रीश्वर ने कुछ भावावेश में कहा।

"कौन जानता है उदयन, युद्ध तो युद्ध ही है न ? किन्तु जाने दो, मैं सोचता हूँ कि तुम खंभात से काक भटराज को बुला लो तो कैसा रहे ?"

"आपने मेरे मन की बात छीन ली, मेहताजी ! आपको कोई पा नहीं सकता। जो मैं कहने वाला था वह आपने पहले ही कह दिया। लोग ठीक ही कहते हैं कि मुंजाल मेहताजी की दृष्टि से कुछ छिपा नहीं रह सकता और गुजरात का सारा मंत्रिमंडल मिलकर जितना कुछ विचार कर सकता है उससे कहीं अधिक अकेले महामात्य कर लेते हैं।"—उदयन मंत्रीश्वर ने कहा।

"तुम सहमत हो न ?"

"पूर्णरूपेण। मैं समझता हूँ कि यह अनिवार्य भी है ?"

"अनिवार्य ?"

"इसलिए कि महाराज बहुत अधिक उत्साह में है, जैसा कि आपने अभी कहा था। और ऐसी स्थिति में इस पृथ्वी पर इस समय केवल एक ही व्यक्ति ऐसा है जो महाराज को सम्हाले रख सकता है। उसका नाम हैं काक भटराज।"

"हुँ ! तुम्हें अपने इस काक पर इतना भरोसा है ?"

"आपको नहीं है ?"

"है। उसे देख चुका हूँ। उसकी परीक्षा भी ले चुका हूँ। तब ठीक है। तुम सहमत हो उदयन, तो आज ही तीव्रगामी सांडनी-सवार रवाना कर दो। वह कल तक यहां पहुँच जाएगा ?"

"काक ? अरे मेहताजी, आप उसे यहाँ पहुँचा ही समझिए। वह कब कहाँ और कैसे पहुँच जाता है इसका पता आज तक किसी को चल नहीं पाया। मुझे भी नहीं। आप निश्चिन्त रहें।"

"ठीक है। वह आ जायगा तो मेरी बड़ी भारी चिन्ता मिट जायगी। इस युद्ध में उसे छाया की तरह महाराज के साथ लगा देना है।"

"महाराज के साथ और महामात्य के साथ। गुजरात को इन दोनों की आवश्यकता है मेहताजी ! वह अकेला एक पूरी सेना के लिए भारी पड़ता है।"

"हाँ, जानता हूँ। ठीक है। तो अब चलना चाहिए। महाराज को विलम्ब सहन नहीं होगा।"

"पधारिए, मेहताजी ! दिन में राजसभा में मिलना होगा।"

"हाँ, जय सोमनाथ !"

"जय जिनेन्द्र !"

दोनों अपनी-अपनी शिविकाओं में सवार हो गए। शिविकावाहक जब प्रस्थान के लिए उद्यत हुए तब अचानक मुंजाल मेहता ने संकेत से उदयन मंत्रीश्वर के शिविका-वाहकों को अपने समीप बुलाया और कुछ आगे झुककर उदयन मंत्रीश्वर से कहा—

"एक बात कहना रह गई उदयन !

"आज्ञा मेहताजी ?"

"गुजरात को उदयन नाम के एक मंत्रीश्वर की भी बहुत जरूरत है। ध्यान रखना। सावधान रहना।"

मुंजाल मेहता ने यह बात बड़ी गंभीरता से कही थी। किन्तु सुनकर उदयन मंत्रीश्वर हँस पड़े। बोले—

"अरे मेहताजी, इस ऊदा जैसे लोग तो महाराज और आपकी कृपा-दृष्टि के एक-एक निक्षेप मात्र से एक के स्थान पर दस-दस खड़े हो जाएँगे।"

"नही, उदयन, यह बात हँसी में टाल देने की नहीं है।"

"अच्छा अच्छा, मेहताजी, चिन्ता न करें। जिनेश्वरदेव की कृपा से सब मंगल ही होगा।"

शिविकाएं दो भिन्न-भिन्न मार्गों पर बढ़ गईं।

\+ \+ \+

संग्राम की वेला आखिर आ पहुँची।

गुजरात और मालवा के बीच, सिद्धराज जयसिंहदेव और मालवपति महाराज यशोवर्मा के बीच युद्ध हुआ और जमकर हुआ। मालवी और सोरठी तलवारें ऐसी चमकीं कि सातों आकाशों की बिजलियाँ काँप-काँप उठीं, दिशाएं थर्रा उठीं और दिग्गज डोलने लगे। दोनों पक्षों के योद्धा मरणान्तक युद्ध खेल रहे थे। प्रतिदिन युद्ध में वीरगति प्राप्त करने वाले सैनिकों की संख्या का कोई हिसाब नहीं रहा। गिद्धों और शृगालों के लिए महामहोत्सव ही हो गया।

कोई पक्ष हार स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं था। सैन्य प्रतिदिन आपस में टकराते, सैनिक कटते-मरते, रात्रि विश्राम का सन्देश देती और दूसरे दिन युद्ध पुनः प्रारम्भ हो जाता।

राजा जयसिंह विकल होने लगा था। उसे विजय चाहिए थी, किसी भी मूल्य पर। युद्ध का लम्बा होना उसके लिए हानिकर हो सकता था, क्योंकि वह गुजरात की सीमा से दूर मालवा की धरती पर युद्ध कर रहा था।

आखिर एक दिन मुंजाल और उदयन की सारी रणनीति को ताक पर रखकर अपने सफेद, अरबी घोड़े पर सवार जयसिंह सुरक्षा के सारे कवच झटककर सीधा राजा यशोवर्मा की ओर तोर की गति से आगे बढ़ गया। उसकी दाहिनी ओर मुंजाल मेहता तथा बाईं ओर काक भटराज थे। वे दोनों चौंक पड़े। आशंकित होते हुए मुंजाल मेहता ने पुकार लगाई—

"महाराज ! महाराज !...."

अश्व को सीधा दौड़ाते हुए जयसिंह ने कहा—"अब कुछ नहीं मुंजाल, आज निर्णय करके ही रहूँगा।"

मुंजाल और काक क्षण मात्र में राजा की अगल-बगल पहुँच कर उसके साथ-साथ मालवी सैन्य को काई की तरह काटते हुये आगे बढ़ते गए।

एक क्षणांश के लिए मुंजाल ने काक भटराज पर दृष्टिपात किया। मानो कहा हो—अब कोई उपाय नहीं, काक ! सावधान !

काक जिसका नाम था उस चीते की भाँति चपल आदमी को इस संकेत की भी आवश्यकता नहीं थी। वह छाया की भाँति महाराज जयसिंह के साथ लगा हुआ ही था। उनकी ओर आने वाला कोई भी प्रहार मुंजाल की दुधारी और काक भटराज की लम्बी खम्भाती तलवार से टकरा कर व्यर्थ हो जाते थे।

महाराज जयसिंह ने फिर उस दिन विकट युद्ध किया। अपने सैन्य व्यूह की उपेक्षा कर इस प्रकार सीधे मालवी सैन्य में धंसकर यशोवर्मा की ओर तेजी से बढ़ते हुए जयसिंह को देखकर मालवी सैन्य कुछ समय के लिए स्तब्ध रह गया। वह जब तक अपना होश सम्हाले, तब तक मारता-काटता जयसिंह यशोवर्मा के सामने पहुंच चुका था।

सिंह के समान जयसिंह गरजा—

"यशोवर्मा ! आज मालवा तुम्हारा रहने नहीं दूंगा।"

"आओ, जयसिंह, रणक्षेत्र में बातें तलवारों से की जाती हैं।"

और उस दिन फिर गुर्जरेश्वर और मालवपति की तलवारों ने आपस में जो बातें कीं वे देवताओं ने सुनी थीं। यशोवर्मा जितने बड़े विद्वान् थे उतने ही बड़े वीर योद्धा भी। जयसिंह और यशोवर्मा का वह द्वन्द-युद्ध बहुत देर तक चला। दोनों में से एक भी राजा एक भी कदम पीछे नहीं हटा। उन दोनों की तलवारें अंगारे बरसाती रहीं। दोनों ओर के सैनिक उस विकट युद्ध को स्तब्ध होकर खड़े-खड़े देखते ही रह गए।

किन्तु उस दिन भाग्यलक्ष्मी जयसिंह पर प्रसन्न थी और विजयश्री गुजरात का ही वरण करना चाहती थी।

अवसर पाकर जयसिंह ने अपनी तलवार का एक भरपूर वार यशोवर्मा के मस्तक का लक्ष्य लेकर किया।

सावधान और अनेक रणक्षेत्रों के विजयी योद्धा यशोवर्मा ने वह भीषण प्रहार बड़ी चपलता से अपने अश्व को एक ओर हटाकर बचा लिया। किन्तु उसी प्रयत्न में यशोवर्मा के अश्व का पैर धरती पर फैले लोहू के कीच में कुछ फिसल गया। यशोवर्मा को विवश होकर कूदकर धरती पर आना पड़ा।

इतिहास का वह एक बहुत कीमती, दुर्लभ क्षण था।

जयसिंह चाहता तो उस क्षण असहाय से हो गए यशोवर्मा को वह अपने लम्बे भाले से बींधकर अपने आजन्म शत्रु को सदा-सदा के लिये समाप्त कर सकता था—मालवा को अनाथ कर सकता था—अपने जीवन-भर की साध को पूरा कर सकता था।

किन्तु उसने ऐसा नहीं किया।

उसने अपनी तलवार नीचे झुका ली। वह अपने अश्व से कूदकर यशोवर्मा के सामने धरती पर खड़ा हो गया, यशोवर्मा को सम्हलने का अवसर दिया और फिर कहा—

"महाराज! आप मेरे आजन्म बैरी हैं। मालवा और गुजरात का आपस में युगों-युगों का वैर है। मुझे आपसे बहुत लम्बा हिसाब भी चुकाना है। मैं चाहता तो इस समय आपका शीष धरती पर लोट रहा होता। किन्तु आप वीर हैं और मैं भी कायर नहीं हूँ। अब सम्हलिए, आज अब इस युद्ध का निर्णय कर ही लेना है।"

होना तो यह चाहिये था कि यशोवर्मा सम्हलकर जयसिंह पर टूट पड़ते। फिर जो होना होता वह हो जाता। किन्तु ऐसा नहीं हुआ। यशो-

वर्मा एक देव-दुर्लभ मुस्कान के साथ शान्त खड़े रहे और फिर अपनी रक्त सनी तलवार को म्यान में रखते हुए बोले—

"जयसिंह तुम जीत गये। आज जीवन में पहली बार यशोवर्मा पराजय स्वीकार करता है।"

चारों ओर चक्राकार स्तब्ध खड़ा देखता गुजरात और मालवा का सैन्य यह सब देख और सुनकर और भी जड़ हो गया। विस्मय में डूब गया।

जयसिंह को भी आश्चर्य हुआ। उसने कहा—

"आप क्या कह रहे हैं यशोवर्मा ?"

"ठीक कह रहा हूँ, जयसिंह, तुम जीत गए। मुझे आज तुम जैसे सच्चे वीर पुरुष से पराजित होने में कोई लज्जा भी नहीं है। प्रसन्नता ही है।"

"किन्तु यशोवर्मा आप हारे नहीं हैं...।"

"लेकिन तुम तो जीत गये हो, जयसिंह ! आओ, मुझे बन्दी बनालो, अथवा जैसा भी चाहो।"

कुछ विस्मय, कुछ दुविधा, कुछ हर्ष—इन सब प्रकार की भावनाओं से उद्वेलित-से गुर्जरेश्वर सिद्धराज जयसिंहदेव अब अवाक् खड़े रह गए। वे सोच रहे थे—जैसा सुना था वैसा ही निकला यह राजा यशोवर्मा। ऐसे महापुरुष भी इस धरती पर होते हैं क्या ?

उस दुर्लभ क्षण को राजनीति के पारंगत खिलाड़ी मुंजाल मेहता ने तुरन्त पकड़ लिया। उसने तलवार उठाकर जयघोष किया—

"गुर्जरेश्वर सिद्धराज महाराज जयसिंहदेव सोलंकी की जय।"

समस्त युद्ध क्षेत्र में इस जयघोष की ध्वनियाँ-प्रतिध्वनियाँ गूंज उठीं।

तलवारें म्यान में चली गईं।

जयसिंह को मालवा से वैर था।

जयसिंह यशोवर्मा को पराजित करना चाहता था।

जयसिंह चक्रवर्ती बनना चाहता था।

जयसिंह अपने 'सिद्धराज' विरुद को सार्थक करना चाहता था

जयसिंह अपने वीर पूर्वजों के स्वप्न को सिद्ध करना चाहता था।

यह सब था।

किन्तु जयसिंह एक सच्चा वीर-पुरुष भी था। उसने यशोवर्मा की

महानता को पहचान लिया। गुर्जरेश्वर के जयघोष के समाप्त होते न होते उसने मुक्तकंठ से पुकारा--

"महाराज यशोवर्मा की जय....।"

यह जयघोष भी चारों दिशाओं में गूंज उठा।

मालवा और गुजरात के सैनिक, जिन्होंने इस सारी घटना को अपनी आँखों से नहीं देखा था, आश्चर्य में डूबकर अचल खड़े रह गए--'गुर्जरेश्वर की जय' और 'महाराज यशोवर्मा की जय ?"--यह सब माजरा क्या है ? मालवा की भी जय और गुजरात की भी विजय ?

जयसिंह ने अपनी तलवार उछालकर दूर फेंक दी। वह आगे बढ़ा और उसने यशोवर्मा को गले लगा लिया। बोला--

"महाराज ! आप सचमुच महान् हैं।"

"सिद्धराज ! आप भी वीर हैं। इस आर्यावर्त्त में मुझे आज ही एक सच्चा वीर पुरुष मिला है।"

× × ×

सवेरा संग्राम लेकर आया था।

संध्या संधि लेकर आई।

प्रतिदिन क्रूरतापूर्वक होने वाला सैकड़ों-हजारों निरपराध सैनिकों का नर-संहार दो सच्चे वीर पुरुषों के विवेक-जागरण से रुक गया।

गुजरात और मालवा का आपसी वैर परम्परागत ही था, व्यक्तिगत नहीं। अतः जब महाराज यशोवर्मा और सिद्धराज जयसिंह व्यक्तिशः आमने-सामने हुए, दोनों ने एक-दूसरे को जाना-पहचाना, तब उनका वैर भी कपूर की तरह उड़ गया। महापुरुषों का स्वभाव ऐसा ही होता है।

सिद्धराज जयसिंहदेव महाराज यशोवर्मा के अतिथि बनकर उज्जयिनी में प्रविष्ट हुए।

नगर में प्रविष्ट होते ही जयसिंह ने कहा--

"यशोवर्मा ! आपके महाकाल की बड़ी मान्यता है भारतवर्ष में। आइये, पहिले उनके दर्शन कर लें, फिर राजमहल में चलेंगे।"

"अवश्य, सिद्धराज, आपका यह विचार तो बहुत शुभ है। पधारिए।"

मालवपति के संकेत से दोनों नृपतियों के गजराज महाकाल के मन्दिर की ओर मोड़ दिए गए। उस मार्ग पर चलाया जाने पर उन राजहस्तियों की चाल में कुछ और आनन्द-मद आ गया।

महाकाल के दर्शन करके जयसिंह का मन बहुत प्रसन्न हुआ। ध्यान धरते-धरते, अपने शिव का स्मरण करते-करते उसे सोमनाथ की याद आ गई—

—क्षिप्रा के तट पर ये महेश्वर महाकाल, और सागर-तट पर वे शंभु सोमनाथ ! क्या अदभुत रूप-स्वरूप है ! कैसी मनमोहिनी माया है परमपिता परमात्मा की ! उसे मनुष्य कितने-कितने नाम-रूपों में जानता-पहचानता है ! इन नाना-रूपों-स्वरूपों की माया के पीछे छाया में तो वही एक मूल समाया है।

कितने लोग जानते हैं यह तथ्य। कोई जानता भी है कि नहीं ? लोग तो नाम को लेकर लड़ते हैं। एक-दूसरे के प्राणलेवा वैरी बन जाते हैं। ऐसा क्यों होता है ? क्या प्राप्त करता है मनुष्य इस प्रकार टुकड़ों-टुकड़ों में उस अनादि, अनन्त, अशब्द, अज्ञेय परमात्मा को बाँटकर ?

अज्ञेय ?

जयसिंह अपने शिव का स्मरण करते-करते इन्हीं विचारों में खो-सा गया था। वह सोच रहा था--क्या परमात्मा अज्ञेय ही है ? क्या उसे जाना नहीं जा सकता ? यदि ऐसा ही है तो फिर सिद्धि तो असंभव ही होनी चाहिये ? किन्तु सिद्धि तो है। सिद्ध तो हैं। उन वीतराग सिद्ध परमात्मा को हम नमन करते हैं। उनका अनुभव हमें अपनी आत्मा में होता है जब हम संसार से अपनी दृष्टि हटाकर अपनी ही आत्मा की ओर केन्द्रित कर लेते हैं तब।

पूछना होगा। जानना होगा।

पाटन पहुँचकर—हेमचन्द्राचार्य से इस गुत्थी को सुलझाने की प्रार्थना करूँगा। वे त्रिकालदर्शी हैं। कालिकालसर्वज्ञ हैं। वे ही हैं जो मुझे मार्ग दिखा सकते हैं। उन्हीं से पूछूंगा। उन्हीं से जीवन-जगत और आत्मा-परमात्मा के रहस्य का ज्ञान प्राप्त करूँगा।

ध्यान पूर्ण कर जयसिंह ने महाराज यशोवर्मा से कहा—

"महाराज ! आज महाकाल के दर्शन कर बड़ी शान्ति मिली। ठीक वैसी ही जैसी मुझे अपने भगवान सोमनाथ के दर्शन करने पर प्राप्त होती है।"

"बड़ी प्रसन्नता की बात है सिद्धराज ! और हमारा सौभाग्य भी कि आपको सुख मिला। आइये अब राजमहल चला जाय। आप थक गये होंगे।"—यशोवर्मा ने कहा।

"थकान तो जो भी रही हो वह महाकाल के दर्शन से दूर हो गई, मालवपति ! फिर भी चलिए, मुझे आपके भारत प्रसिद्ध सरस्वती कंठाभरण को देखने, जानने, समझने की भी बड़ी उत्सुकता है।"

"तब पधारिए। सरस्वती तो हमारी माता है। हमारा जीवन-प्राण है। आप जैसे सुधिजन अवश्य ही हमारे यत्किंचित प्रयास को देख-समझ-कर प्रसन्न होंगे।"

राज-गजराज महाकाल के मन्दिर से मालवपति के महलों की ओर चल पड़े।

महामात्य मुंजाल और काक भटराज भारतवर्ष के इन दो महान् नृपतियों के इस अपूर्व स्नेह-मिलन को बड़े हर्ष के साथ देख रहे थे।

. यदि मुंजाल मेहता एक निष्णात राजनीतिज्ञ की भाँति मन ही मन भविष्य की शतरंज के मोहरे कहीं अपने मस्तिष्क में बिठा रहे थे तो साव-धान काक अपनी तीव्र दृष्टि से उज्जयिनी के जीवन और गतिविधियों का माप लेता चल रहा था। राजपथ के दोनों ओर होने वाली छोटी से छोटी हलचल भी उसकी सूक्ष्म दृष्टि से छिपी नहीं रह पाती थी। आखिर वे पाटन में नहीं, उज्जयिनी में थे। उसका गुजरात का नाथ इस समय मालवा में था। महाराज यशोवर्मा कितने भी महान् हों किन्तु सभी व्यक्ति तो यशोवर्मा नहीं थे। किसी भी क्षण, कुछ भी अप्रिय घटित हो जाय तो कौन कह सकता था ? अतः सावधान काक ने अपनी तलवार का बन्ध ढीला ही रखा हुआ था। किसी भी क्षण वह तलवार खींचकर महाराज जयसिंह की रक्षा के लिए दैत्य की भाँति उछल पड़ने को तैयार था।

मुंजाल ने काक की यह सावधानी, उसकी यह तत्परता देखी और उनके होठों पर मुस्कान फैल गई। उन्होंने काक से कहा—

"क्यों भटराज ! अब भी तुम्हें चैन नहीं है क्या ?"

"अमात्यवर ! शिष्य तो आपका ही हूँ न ? शत्रु के देश में एक पल भी असावधान न रहने की शिक्षा मुझे आपने ही तो दी है न ? और मंत्री-श्वर ऊदा जी की भी यही आज्ञा है—"काक ! महाराज को सुरक्षित पाटन वापिस ले आने की जिम्मेदारी तेरी है।"—काक भटराज ने विनय पूर्वक उत्तर दिया और मंत्रीश्वर उदयन की ओर दृष्टिपात किया।

मंत्रीश्वर उदयन मौन, शान्तभाव से अपने अश्व को आगे बढ़ाते चल रहे थे। उनकी सीधी-सादी, सहज विनम्र मुख-मुद्रा को देखकर कोई स्वप्न में भी यह कल्पना नहीं कर सकता था यह जो एक छोटे-से कद का,

साँवला-सा, सीधा-सादा आदमी है उसके मस्तिष्क में साम्राज्य बनाने और बिगाड़ने की अद्भुत विचार-क्षमता है।

देखने में नगण्य किन्तु क्षमता में अथाह उन मंत्रीश्वर उदयन ने मुंजाल और काक का वह वार्तालाप सुना और कहा—

"मेहता जी ! इस काक को मैंने थोड़ा-बहुत कुछ बताया अवश्य है, किन्तु अब तो यह आपका पक्का शिष्य बन गया है।"

"अरे उदयन, तुम्हारे शिष्य को कोई सिखा सकता है ? मुझे लगता है कि यह तो सब-कुछ सीखा-सिखाया ही आया है।"

काक को काम करना आता था। अपनी प्रशंसा सुनने से वह बहुत घबराता था। गुजरात के उन दो महारथियों से अपने विषय में ये प्रशंसा की बातें सुनकर वह बेचैनी का अनुभव करने लगा। बात को मोड़ देने की इच्छा से वह बोला—

"देखिए मेहताजी, हमारे महाराज को देख-देखकर ये उज्जयिनी के लोग कैसे प्रसन्न हो रहे हैं।"

दोनों मंत्री समझ गए।

उदयन मंत्रीश्वर ने कहा—

"मेहताजी, इस काक को तो बस काम बताते रहिए। भूत की तरह पीछे लग जायगा। अपनी तारीफ सुनने की इसे आदत नहीं है।"

"समझ गया हूँ, उदयन, तुम्हारे खम्भात का यह हीरा अनमोल है।" मुंजाल मेहता ने मुस्कराते हुए कहा और चारों ओर की गतिविधियों का अध्ययन वे बड़ी सूक्ष्मता से करने लगे।

(आठ)

गुजरात के नाथ सिद्धराज जयसिंहदेव सोलंकी मालवा विजय कर के अणहिलपुर पाटन पहुँच रहे थे। गुजरात की प्रजा ने उस दिन विजयोत्सव का आयोजन किया था। न केवल पाटन, बल्कि दूर-दूर तक के ग्राम नगरों के निवासी अपने पराक्रमी राजा की एक झलक पाने के लिए पागल हुए जा रहे थे।

समुद्र जब उफान पर आता है तो जैसा दृश्य होता होगा वैसा ही दृश्य उस दिन पाटन में था। राजपथ पर जन-समुद्र उमड़ पड़ा था। कहीं तिल रखने को भी कोई स्थान दिखाई नहीं देता था। दोनों ओर के भवनों, अट्टालिकाओं तथा छोटे-बड़े मकानों के झरोखों और छतों पर भी स्त्रियों, बच्चों तथा वृद्ध-पुरुषों के ठठ के ठठ जमा थे।

घर-घर पर मंगलचिन्ह अंकित किये गये थे। कदम-कदम पर स्वागत हेतु तोरण-द्वार खड़े किए गये थे। नागरिकाएँ मंगलगीत गा रही थीं। जयसिंहदेव जब अपने राजहस्ती पर सवार होकर नगर प्रवेश के पश्चात् राजपथ पर आगे बढ़े तो ऊँची-ऊँची अट्टालिकाओं पर से उन पर पुष्पों तथा कुंकुम-गुलाल की वर्षा होने लगी।

गुजरात की प्रजा का एक युगों पुराना स्वप्न आज सिद्ध हुआ था। आज वह आनन्द-मद से उन्मत्त थी।

विद्वानों, पंडितों तथा कवियों ने विजयी वीर राजा को प्रशस्ति में काव्यों की रचना की थी।

जैन समाज की ओर से आचार्य हेमचन्द्र के अतिरिक्त और कौन काव्य रचना करता? उन्होंने लिखा—

भूमिं कामगवि! स्वगोमयरसैरासिंच रत्नाकरा!
मुक्ता स्वस्तिकमातनुध्वमुदुय! त्वं पूर्ण कुम्भो भव।
धृत्वा कल्पतरोर्दलानि सरलैर्दिग्वारणास्तोरणा—
न्याधन्त स्वकरैर्विजित्य जगतीं नन्वेति सिद्धाधिपः॥

—आज सिद्धराज विजय करके आया है, अतः हे कामधेनु! तू अपने गोरस (दूध) से पृथ्वी को सींच दे। हे रत्नाकर! तू अपने मौक्तिकों से

स्वास्तिक पूर दे। हे चंद्र ! तू पूर्ण कुम्भ बनजा। तथा हे दिग्गजो ! तुम भी कल्पलता के तोरण बनाओ, क्योंकि सिद्धराज आज पृथ्वी को जीतकर घर आया है।

आचार्य की इस उच्च कल्पनापूर्ण तथा गौरवमयी वाणी से जयसिंह को बहुत प्रेरणा मिली।

विजयोत्सव की व्यस्तता तथा धूमधाम के शान्त होने पर जयसिंह ने उस पुस्तक भंडार को देखने की अभिलाषा प्रगट की जो यशोवर्मा ने विदा के समय उन्हें भेंट किया था। वह भंडार अनमोल ही था। सैंकड़ों श्रेष्ठ ग्रन्थों में 'भोज-व्याकरण' नामक एक ग्रन्थ भी था। जयसिंह ने उसे देखा और विद्वानों से प्रश्न किया—

"यह कैसा ग्रन्थ है ?"

विद्वानों ने बताया—यह 'भोज-व्याकरण' मालवपति महाराज भोज का बनाया हुआ व्याकरण ग्रन्थ है, महाराज ! हमारे गुजरात में भी पाठ-शालाओं में यही ग्रंथ पढ़ाया जाता है।

यह उत्तर सुनकर राजा जयसिंह उदास हो गया। वह सोचने लगा—व्यर्थ है मेरा मालवा पर विजय प्राप्त करना। यह विजय तो क्षणिक है, स्थूल है, अर्थहीन है। जब तक मालवा जैसी संस्कारिता गुजरात में नहीं आती तब तक गुजरात मालवा के सामने दीन-दरिद्र ही दिखाई देता रहेगा।

जयसिंह का यह सारा शेष दिन अनमना-सा ही बीता। वह विचार करता रहा और योजनाएँ बनाता रहा कि उस संस्कार धाम मालवा जैसी संस्कारिता मैं अपने गुजरात में कैसे लाऊँ ?

दूसरे दिन जब वह राजसभा में आया तब भी वह बहुत गम्भीर दिखाई दे रहा था। सभा में उपस्थित सभी सभासद राजा की गंभीर मुख-मुद्रा को देखकर कुछ सहमे से बैठे थे।

केवल महामात्य मुंजाल के चेहरे पर ही आश्वस्ति का भाव था। वे जानते थे कि राजा के मन को कौन सी समस्या कुरेद रही है। तथा उन्हें विश्वास था कि राजा के मन की इस बेचैनी का का परिणाम अच्छा ही आएगा। राजा अपना असन्तोष प्रगट करेगा। विद्वज्जन श्रेष्ठ साहित्य-सृजन के लिए प्रेरित होंगे। इस प्रकार गुजरात में सरस्वती के सम्माराधन की एक नई लहर उठेगी।

ऐसा ही हुआ।

राजा ने 'भोज-व्याकरण' दिखाते हुए सभा में उपस्थित पंडितों से पूछा—क्या गुजरात में कोई ऐसा पंडित नहीं है जो इस व्याकरण की कोटि के स्वतन्त्र व्याकरण का निर्माण कर सके? गुजरात की प्रजा अपने साहित्य और संस्कृति के लिए दूसरों पर निर्भर क्यों है? जब तक यह परावलम्बन है, तब तक हमारा गुजरात महान कैसे बन सकता है? जयसिंह ने पूछा था—'विद्वान् कोऽपि कथं नास्ति देशे विश्वेऽपि गूर्जरे?'

यह एक जलता हुआ सा प्रश्न समस्त उपस्थित समुदाय से करके जयसिंह ने विद्वद् मंडली की ओर दृष्टि फेंकी।

उपस्थित विद्वानों की दृष्टि राजा की सतेज दृष्टि के सामने स्वतः ही झुक गई। फिर स्वतः ही उन सभी की आँखे हेमचन्द्राचार्य पर जा टिकीं मानो आँखों हो आँखों में वे कहना चाहते हों—आचार्यवर! हम सभी का परित्राण आपके द्वारा ही सम्भव है। सर्वे संभूय विद्वांसो हेमचन्द्रं व्यलोकयन्।

राजा जयसिंह भी समझ गया कि इस महत् साहित्यिक कार्य को कर सकने की क्षमता आचार्य हेमचन्द्र के अतिरिक्त अन्य किसी विद्वान में नहीं है। उसने आचार्यश्री से कहा—

यशोमम तव ख्यातिः पुण्यं च मुनिनायक!
विश्वलोकोपकाराय कुरु व्याकरणं नवम्॥

—हे आचार्यवर! मेरे यशविस्तार, स्वयं आप अपनी ख्याति तथा विश्व के उपकार हेतु नए व्याकरण का निर्माण कीजिए।

जयसिंह की इस प्रार्थना को आचार्यश्री ने स्वीकार कर लिया। उन्होंने उत्तर दिया—

"राजन्! मुझे अपनी ख्याति की कोई अभिलाषा नहीं है। किन्तु गुजरात की प्रजा के कल्याण के लिए मैं व्याकरण का निर्माण अवश्य करूँगा।"

आचार्यश्री की स्वीकृति प्राप्त होने पर जयसिंह के मुख पर प्रसन्नता की लहर दौड़ गई। उसकी चिन्ता मिट गई।

सभी पंडितों की भी जान में जान आई। उनकी भी चिन्ता मिटी। अन्यथा राजा का यह प्रश्न सुनकर कि क्या गुजरात में कोई पंडित नहीं, उनकी चिन्ता का पार नहीं था और उन्हें गुजरात की राजसभा में अपना भविष्य खतरे में दिखाई देने लगा था।

इसके बाद दिन पर दिन व्यतीत होने लगे और हेमचन्द्राचार्य व्याकरण ग्रन्थ की रचना में तल्लीन हो गए। अनेक प्रसिद्ध व्याकरण ग्रन्थों

का अवलोकन करने के बाद कड़े परिश्रम से उन्होंने एक ऐसा व्याकरण ग्रन्थ तैयार किया जिसकी कहीं कोई तुलना नहीं थी।

इस व्याकरण-ग्रन्थ की रचना के पीछे सिद्धराज जयसिंह की प्रबल प्रेरणा थी, अतः हेमचन्द्राचार्य ने उसका नाम 'सिद्ध-हैम-व्याकरण' रखा। पंडितों ने जब उस ग्रन्थ का अध्ययन किया तब वे आचार्यश्री की प्रतिभा को देखकर विस्मित रह गए और 'वाह-वाह' कर उठे। राजा जयसिंह तो इतना प्रसन्न हुआ कि उसने अपने मंत्रियों से कहा—

"आमात्यगण ! मैं आज बहुत प्रसन्न हूँ। मुझे लगता है कि जैसे आज गुर्जरधरा पर सरस्वती का अवतरण हुआ है। इसका समुचित सम्मान मैं करना चाहता हूँ।"

मुंजाल मेहता ने राजा की यह बात सुनकर उत्तर दिया—

"प्रभु ! एक विद्वान राजा को शोभा दे ऐसी ही बात आपने कही है। सम्पूर्ण मन्त्रिमण्डल की ओर से मैं नम्र निवेदन करता हूँ कि इस ग्रन्थ का सार्वजनिक रूप से सम्मान किया जाय।"

"मेरी भी ऐसी ही इच्छा है ! उदयन ; यह काम तुम करो। मेरे पट्टहस्ती पर इस ग्रन्थ को रखकर पूरे पाटन में इसकी शोभायात्रा निकालो तथा समस्त गुजरात में इसके निर्माण की घोषणा करा दो। अब गुजरात की प्रत्येक पाठशाला में इसी व्याकरण का अध्ययन कराया जायगा।"

जयसिंह के इस आदेश को शिरोधार्य करते हुए उदयन मंत्रीश्वर ने कहा—

"प्रभु ! आज ही शुभ दिन है। शोभायात्रा की व्यवस्था मैं अभी किए देता हूँ। सचमुच आज गुर्जर भूमि पर सरस्वती स्वयं उतरकर आई है।"

बड़ी धूमधाम से 'सिद्ध-हैम-व्याकरण' की शोभायात्रा निकाली गई। पाटन के निवासी 'धन्य-धन्य' कह उठे। आज उनका हृदय बल्लियों उछल रहा था। आचार्य हेमचन्द्र की अद्वितीय तथा अलौकिक प्रतीत होने वाली प्रतिभा के विषय में वे तरह-तरह की बातें कर रहे थे। कोई कहता—

"अरे, अब भोजराज की उज्जयिनी में क्या रखा है? होंगे कवि कालिदास। लेकिन हमारे आचार्यश्री का वे मुकाबला नहीं कर सकते।"

दूसरा कहता—

"तुम्हें पता क्या है? हेमचन्द्राचार्य चाहें तो छत्तीस कालिदास खड़े कर दें। वे कोई मामूली सन्त नहीं हैं। सिद्ध पुरुष हैं।"

"अरे भाई, देखो, यह बात तो तुम्हारी ठीक है कि आचार्यश्री सिद्ध पुरुष हैं। किन्तु वे हो तो हमें शिक्षा देते हैं कि किसी की निन्दा नहीं करनी चाहिए।"

"मैंने किसकी निन्दा की ?"

"भाई कालिदास भी कोई मामूली कवि नहीं हैं। वे भी महाकवि हैं। और कवि ऋषि के समान होता है। उसकी निन्दा नहीं करनी चाहिए। हमें सभी महापुरुषों का आदर करना चाहिए।"

"हाँ, हाँ, यह ठीक बात है। कभी किसी की निन्दा नहीं करनी चाहिए।"—कुछ लोगों ने सिर हिलाते हुए कहा।

इसी प्रकार की तरह-तरह की बातें चलती रहीं। हर्ष का सागर उमड़ता रहा। उन आनन्द-तरंगों में पट्टनी विभोर होकर निमग्न होते रहे। तभी एक राजपुरुष ने उन लोगों के आनन्द का आनन्द लेते हुए बताया—

"सुनो भाइयो, तुम लोग खूब प्रसन्न हो आज। होना भी चाहिए। किंतु जानते हो कि आचार्यश्री को इस ग्रन्थ की रचना के लिए कितनी तपस्या करनी पड़ी है ?"

"तपस्या ?"

"और नहीं तो क्या ? क्या बिना तपस्या के भी कोई उत्कृष्ट फल प्राप्त होता है ? आचार्यश्री ने कितने सारे ग्रन्थों का अवलोकन किया, सुबह से शाम तक निराहार रहकर भी कितने दिन वे इसकी रचना में जुटे रहे। यहाँ तक कि वे अब तक के उत्कृष्ट व्याकरण-ग्रन्थों की खोज के लिए कश्मीर की ओर भी चल पड़े थे।"

"काश्मीर की ओर ? इतनी दूर ?"

"और नहीं तो क्या ? महापुरुष जब एक बार कोई उत्कृष्ट लक्ष्य निर्धारित कर लेते हैं तब फिर उस लक्ष्य की प्राप्ति से पूर्व वे विश्राम नहीं लेते। पीछे नहीं हटते। कोई प्रमाद नहीं करते। रास्ते में आने वाले कष्टों की चिन्ता नहीं करते।

"यह बात तो सोलह आने सही है आपकी। अच्छा तो फिर आचार्य श्री काश्मीर जाकर आए ?"

"जाना पड़ता तो जाते ही। किन्तु माता सरस्वती की महिमा का क्या कहना ! उन्होंने आचार्यश्री को इतना कष्ट झेलने से रोक लिया। उन

का समय नष्ट होने से बचा लिया। रास्ते में से ही देवी सरस्वती ने उन्हें अपना वरदान देकर लौटा दिया।"

"क्या कहते हैं आप ? हमें विस्तार से बताइये न !"

"बताता हूँ, सुनो," उस राजपुरुष ने कहा—"देखो एक तो मालावा और दूसरे कश्मीर में बड़े-बड़े पंडित हैं। सुना है कि काशी में भी हैं। तो आचार्यश्री ने निश्चय किया कि वे काश्मीर जाकर वहां के श्रेष्ठ ग्रन्थों का अवलोकन करेंगे तथा उसके पश्चात् ही सर्वांग-सम्पूर्ण सर्वश्रेष्ठ व्याकरण ग्रन्थ का सृजन करेंगे।

"यह निश्चय करके वे कश्मीर के लिए चल पड़े। श्रेष्ठ ग्रन्थों का अवलोकन करने के अतिरिक्त वे विद्या की देवी, ज्ञान की अधिष्ठात्री ब्राह्मी देवी की भी आराधना करना चाहते थे ताकि उनकी कृपा से वे ऐसे ग्रन्थों की रचना कर सकें —जो भारतवर्ष की भावी पीढ़ी के लिए सदा कल्याण-कारी हों।"

"धन्य हैं आचार्य हेमचन्द्र।"

"हाँ, तो सुनो, हुआ यह कि आचार्यश्री पाटन से विहार करके ताम्रलिप्ति (खंभात) होते हुए रैवतगिरि पहुंचे। रैवतगिरि भगवान नेमि-नाथ की पुण्यभूमि है। इस पवित्र पुण्यभूमि में आचार्यश्री ने योग विद्या की आराधना प्रारम्भ की। इस तीर्थ में उनकी नासाग्र दृष्टि युक्त समा-राधना से देवी शारदा प्रसन्न हो गई। वे साक्षात् प्रगट हुई और उन्होंने वरदान दिया—तुम्हारी समस्त मनोकामनाएँ पूर्ण होंगी। तुम तो मेरे वरद पुत्र ही हो।

"इस प्रकार सरस्वती देवी से वरदान प्राप्त कर लेने के बाद आचार्यश्री ने फिर अपनी आगे की यात्रा स्थगित कर दी। अब उसका कोई प्रयोजन नहीं रह गया था। सरस्वती देवी की कृपा से जगत का समस्त ज्ञान उन्हें हस्तामलकवत हो गया था। अतः वे पाटन लौट आये और आज तुम इस 'सिद्ध-हेम-व्याकरण' की शोभा देख नहीं रहे हो।"

"हाँ जी देख रहे हैं। आपने यह बात बताकर हमें बहुत आनन्द दिया। अब तो पाटन में ज्ञान की गंगा बह जायगी।"

"निस्संदेह।" —कहकर वह राजपुरुष आगे बढ़ गया।

× × ×

अजस्र धारा।

धारा जो कभी रुके नहीं।

साहित्य की ऐसी अजस्र धारा बहा दी आचार्य हेमचन्द्र ने पाटन में कि पंडितों की तो बात ही क्या जन सामान्य भी उस ज्ञान-गंगा में अवगाहन करके आनन्द निमग्न हो उठा। लोक-अभिरुचि का धीरे-धीरे परिष्कार होता चला गया और गुजरात में एक नए ही सांस्कृतिक वातावरण का निर्माण होने लगा।

जहाँ तक 'सिद्ध-हेम-व्याकरण' का प्रश्न है राजा जयसिंह ने अनेक लेखकों को बिठाकर उसकी सैकड़ों प्रतिलिपियाँ कराईं और उसे गौरव सहित अंग, बंग, नेपाल, कर्नाटक, कोंकण, सौराष्ट्र, कश्मीर, ईरान, लंका आदि सुदूर देशों-प्रदेशों में भिजवाईं। उन देशों में वहाँ-वहाँ के पण्डितों, विद्वानों, कवियों, वैयाकरणों ने जब उस व्याकरण ग्रन्थ को देखा, उसे पढ़ा समझा, तब वे आश्चर्य विमूढ़ हो गए। वे सोचते ही रह गए कि यह चमत्कार कैसे हो गया? गुजरात में तलवार तो चमकती थी, किन्तु लेखनी का यह चमत्कार तो इसके पूर्व न सुना, न देखा था।

राजा जयसिंह का आनन्द चरम सीमा पर था।

उसने विद्वान वैयाकरणी काकल (कक्कल) को पाटन में, पाठशाला में नियुक्त करके प्रथम बार गुजरात के सपूतों को एक गुजराती विद्वान द्वारा रचित व्याकरण पढ़ाने का कार्यभार सौंपा।

इस अभ्यास में उत्तीर्ण होने वाले छात्रों को राजा की ओर से स्वर्ण-कंकण आदि से पुरस्कृत करने की प्रथा भी उससे डाली जिससे कि प्रेरित होकर अधिक से अधिक छात्र अध्ययनरत हो सकें।

'सिद्ध-हेम-व्याकरण' के पश्चात् आचार्य हेमचन्द्र ने अभिनव, उत्कृष्ट साहित्य-सृजन की सचमुच गंगा ही बहा दी। जिन्हें शब्दकोश कहा जा सके ऐसे ग्रन्थ 'अभिधान चिन्तामणि' तथा 'देशी नाम माला' उन्होंने अथक परिश्रम से तैयार किए। ये कार्य भी भागीरथ प्रयास ही कहे जा सकते हैं।

उन्होंने 'अनेकार्थ संग्रह' तथा 'छन्दोनुशासन' की रचना की। ऐसा करके उन्होंने गुजराती भाषा, गुजराती संस्कार, तथा गुजरात की प्रजा के आत्म-गौरव को चार चाँद लगाने का श्रेष्ठ कार्य सम्पन्न किया। उनकी इन रचनाओं से उस भाषा से जो उन्होंने इन ग्रन्थों के माध्यम से गुजरात को दी, आज गुजरात समृद्ध बना हुआ है।

शृंखला आगे बढ़ती ही चली गई। जिस प्रकार कवि कालिदास ने 'रघुवंश' की रचना करके रघुकुल को सदैव राजनैतिक विषयों में आदर्श रूप बनाया, उसी प्रकार हेमचन्द्राचार्य ने चौलुक्यों की कीर्तिगाथा के समान एक महाकाव्य 'द्वयाश्रय' की रचना की जिसमें उन्होंने व्याकरण के नियमों के उदाहरण इतनी सुन्दरता तथा सहजता से प्रस्तुत किए कि काव्य का आनन्द कहीं खण्डित नहीं होता और भाषा का ज्ञान स्वतः ही होता चला जाता है।

हेमचन्द्राचार्य ने गुजरात में सरस्वती का अजस्र प्रवाह बहा देने के लिए क्या नहीं किया ? 'अभिधान चिन्तामणि' द्वारा उन्होंने एक ही अर्थ वाले अनेक शब्द प्रदान किए। 'अनेकार्थ संग्रह' द्वारा एक शब्द के अनेक अर्थ दिए। 'अलंकार चूड़ामणि' तथा 'छन्दोनुशासन' द्वारा काव्य-चर्चा की। योगशास्त्र जैसा अद्वितीय ग्रन्थ गुर्जरधरा को भेंट किया।

यह सत्य है कि हेमचन्द्राचार्य एक साधु पुरुष थे, अतः संसार की महत्ता को वे क्षणिक ही जानते और मानते थे। किन्तु इस साधु महापुरुष के हृदय में कहीं बहुत गहरे पाटण, गुजरात, गुजरात की सरस्वती तथा गुजरात की अस्मिता का दीपक अविराम जल रहा था। यही कारण है कि हेमचन्द्राचार्य ने 'द्व्याश्रय' में पाटन नगरी का वर्णन पूर्णरूपेण विभोर होकर किया है। इस महाकाव्य को चाहे जिस स्थान से खोलकर देखा जाय उसमें महान आचार्य की अद्भुत प्रतिभापूर्ण छवि दृष्टिगोचर होती है। ऐसा प्रतीत होता है कि मानो एक वैयाकरणी योगीन्द्र, तत्वज्ञानी सन्त वहाँ बैठा है और भूले-भटके लोक को आलोक प्रदान कर रहा है।

'द्वयाश्रय' केवल एक ग्रन्थ, एक महाकाव्य ही नहीं, बल्कि समस्त गुजरात के जीवन का एक सम्पूर्ण चित्र है। उसमें स्थान-स्थान पर पाटन के नागरिकों, योद्धाओं, महापंडितों, सन्नारियों के जीवन के विविध प्रसंग वर्णित हैं। धार्मिक सहिष्णुता प्रगट करते हुए वर्णन भी उसमें हैं तो स्त्रियों के मधुर, ममतापूर्ण सम्वाद; उत्सवों का चित्रण, प्रजा के आनन्द-उल्लास का अंकन, नदी-सरोवरों के तीर पर होने वाली साहसिक प्रवृत्तियों का आलेख भी उसमें है।

आचार्यवर ने 'द्वयाश्रय' में धार्मिक, नैतिक तथा शौर्यपूर्ण प्रसंग उपस्थित किए हैं। इसके पीछे उनका स्पष्ट उद्देश्य यही था कि गुजरात

की प्रजा महान् बने तथा प्रत्येक गुजराती अपने आत्मगौरव को पहचाने।

बूंद-बूंद से घड़ा भर जाता है।

उसी प्रकार महानता का पाठ एक ही दिन में नहीं पढ़ लिया जाता।

महान् जीवन के निर्माण में नींव के पत्थरों के समान जीवन की छोटी-छोटी दैनंदिन क्रियाओं को संवारना पड़ता है। हमारा छोटे से छोटा व्यवहार, देखने में महत्वहीन प्रतीत होने वाली हमारी साधारण से साधारण चर्या भी हमारे महान् जीवन के निर्माण में बहुत अहम् भूमिका अदा करती है।

'द्वयाश्रय' का विशेष महत्व इसी बात में है। वह गुजरात के इतिहास का एक महत्वपूर्ण अभिलेख तो है ही क्योंकि उसमें तत्कालीन गुजरातियों के जीवन के छोटे-बड़े विविध चित्र अंकित हैं, किन्तु इसके साथ ही उसमें हेमचंद्राचार्य की वह सूक्ष्म दृष्टि भी है जो जीवन के सामान्य प्रसंगों में से महान् जीवन निर्माण के सूत्र पकड़ लेती है। आचार्यवर ने जनसाधारण के दैनन्दिन जीवन का इस कुशलता से वर्णन 'द्वयाश्रय' में किया है कि उसे पढ़ते हुए पाठक को अपरोक्ष रूप से उज्ज्वल जीवन-यापन करने, महान् बनने के संकेत प्राप्त होते चले जाते हैं।

एक साधु पुरुष सीधा उपदेश न देकर जन-जीवन के सहज चित्रण द्वारा किस प्रकार संसार को साधुत्व की शोभा के दर्शन करा सकता है यह बात यदि कोई जानना चाहे तो उसे 'द्वयाश्रय' का अवलोकन करना चाहिए।

विरोधी प्रतीत होने वाले शृंगार और शांत रस, वीर तथा विनोद, धर्म और प्रेम, समन्वय एवं अनेकान्तवाद—इन सभी का कितना सहज-स्वाभाविक समावेश किया है आचार्य हेमचन्द्र ने 'द्वयाश्रय' में; कि देखते ही बनता है, सराहे बिना नहीं रहा जा सकता।

सिद्धराज जयसिंह विचक्षण पुरुष था। वह तेजस्वी था। विनोदी, विद्याप्रेमी तथा चंचलवृत्ति वाला महत्वाकांक्षी नृपति था। किसी साधारण साधु अथवा आचार्य के वश में आ सके ऐसा वह नहीं था।

किन्तु हेमचंद्राचार्य तो विचक्षणों में विचक्षण महापुरुष थे। जयसिंह ने उनमें तेज देखा। अपने हृदय में समाया हुआ स्वप्न उसने आचार्य की

मुखमुद्रा में अंकित पाया। उनकी वाणी में से उसने मधुर अमृत झरता हुआ अनुभव किया।

यही कारण है कि सिद्धराज जैसा सर्वसमर्थ नरेश भी आचार्य हेमचन्द्र के प्रति सहज श्रद्धाभाव से आकर्षित हुआ। उसने एक ही हेमचन्द्राचार्य में दो हेमचन्द्राचार्य देखे—एक लोकसंग्रही, प्रजाप्रेमी, कर्मयोगी साहित्यकार तो दूसरे वीतरागी, विरक्त, एकाकी, निष्कर्मी, धर्मप्रणेता।

इस प्रकार गुर्जरदेश के उस इतिहास-काल को अपने समय के ये दो महान व्यक्ति तीव्रता से प्रभावित कर रहे थे। एक संस्कारवान गुजरात गढ़ा जा रहा था। उन्होंने गुजरात को भाषा संस्कार दिया। उन्होंने गुजरातियों में विद्या-प्रेम जगाया। और सबसे बढ़कर महत्वपूर्ण कार्य जो उन्होंने किया वह यह कि गुजरात को उन्होंने समन्वयधर्मी बनाया। आज गुजरात की अपनी एक गरिमा है। उसमें सहिष्णुता है। उसमें प्रत्येक मत के प्रति उदार भावना है। गुजरातियों के इस स्वभाव के निर्माण में हेमचन्द्राचार्य, जैनधर्म के स्याद्वाद, सिद्धराज जयसिंह तथा उसके बाद कुमारपाल का पूरा-पूरा योगदान है।

क्या सिद्धराज जयसिंह अपने जीवनकाल के अन्तिम चरण में जैन धर्मावलम्बी हो गया था? —ऐसे प्रश्न निरर्थक हैं। मूलराज, भीमदेव तथा कर्णदेव आदि की धर्मनीति के विपरीत वह तो सर्वधर्मसमन्वय को वृत्ति वाला नृपति था, अतः किसी भी सम्प्रदाय के प्रति पक्षपात से रहित वह एक विचक्षण ही शासक था। इस रूप में उसे अकबर महान का पुरोगामी कहा जा सकता है। हां, इतना तो निश्चित ही है कि उसने हेमचन्द्राचार्य को सदैव अपने गुरु-तुल्य माना और उसी प्रकार उनका आदर किया।

सिद्धराज जयसिंह जैसे प्रतापी राजा द्वारा प्रदान किया जाने वाला यह आदर भाव हेमचंद्राचार्य की मोहक वाणी की विजय थी, उनकी गौर, सौम्य कांति की विजय थी और थी विजय उनकी अपूर्व सर्व दर्शन सग्रह शक्ति की।

आचार्यश्री ने अपने 'द्वयाश्रय' में सर्वसामान्य धर्म के विषय में जो वचन अंकित किए हैं वे स्वर्णाक्षरों में लिखे जाने योग्य हैं तथा उनसे सिद्धराज तथा आचार्य की धार्मिक विश्रम्भकथा का कुछ अनुमान लगाया जा सकता है। वे लिखते हैं—

'कुशाग्र बुद्धि वाले जन कौटिल्य रहित साधु मार्ग पर चलकर परम-पद को प्राप्त करते हैं।

'यह 'मेरा' तथा यह 'पराया'—इस प्रकार की भावना का त्याग करके, शत्रु एवं मित्र में समभाव रखकर, सभी को प्रेम से अपनाकर, प्रिय तथा मधुर वचन बोलकर वे मोक्ष मार्ग का शोधन करते हैं।'

'जिसका हृदय शुद्ध है, क्रोधादि से रहित है, तथा जिसके परिणाम-स्वरूप जिन्होंने इन्द्रियविजय किया है, ऐसे संयमी फिर से संसार में नहीं आते।'

इस प्रकार गुजरात में से अब वह युग समाप्त हो गया था जब कहा जाता था कि गुजरात में लक्ष्मी है किन्तु सरस्वती नहीं।

अब तो पाटन में अपनी पाठशालाएँ, महालय, विद्याभवन, सरस्वती विहार, विशाल सरोवर, एक महान् नृपति, एक अलौकिक महान् आचार्य, अपना महान् सैन्य, महान् शक्ति तथा सबसे बढ़कर महान् संयम—ये सभी बातें थीं।

पाटन में अब सब कुछ था।

एक नए गौरवशाली गुजरात की सुदृढ़ नींव रखी जा चुकी थी।

किन्तु उस गौरवशाली गुजरात का नाथ फिर भी उदास था।

उल्लास से उमड़ते-उफनते गुजरात में अपने भव्य प्रासादों में प्रायः एकाकी चक्कर काटता हुआ सिद्धराज जयसिंह उदास था।

उसकी गूढ़-गहन तत्व चर्चा, उसकी संस्कारित अभिरुचि, उसकी धार्मिक भावना—ये सब मिलकर भी उसके हृदय में पथराए हुए गहन शोक और उदासी को दूर कर पाने में असमर्थ थे।

उसकी इस उदासी का कारण था उसका पुत्रविहीन रह जाना। वह अब तेजी से अपनी जीवन-संध्या की ओर ढलने लगा था, किन्तु एक पुत्र प्राप्त करने की उसकी कामना अपूर्ण ही रह गई थी।

केवल एक ही पुत्र····

सेर भर माटी····

यह माटी प्राप्त करने के लिए उसने क्या-क्या नहीं किया था? ईश-प्रार्थना करते हुए शुद्ध, पवित्र तन-मन से खेतों में हल चलाए थे। नंगे पैर, काँधे पर पवित्र गंगाजल की कावड़ ढोकर पाटन से सागर-तीर पर सोमनाथ का अभिषेक करने गया था.....

बहुत-बहुत तपा था सिद्धराज वह एक सेर माटी—एक पुत्र प्राप्त करने के लिए अपने औघड़दानी प्रभु से। किन्तु वह उसे नहीं मिलना था सो नहीं मिला।

कभी-कभी उसे लगता था कि अपने तेजस्वी व्यक्तित्व की प्रतापी अग्नि में वह स्वयं ही जलकर भस्म हो जायगा।

पुत्र के अभाव में वह व्याकुल और विषादमय रहने लगा था।

साँझ घिरती चली आ रही थी।

विषाद गहन से गहनतम होता चला जा रहा था।

उस गहन विषाद के गूढ़ अन्धकार में उसकी चमत्कृत दृष्टि भी पथराने लगी थी, शून्य हो चली थी।

व्याकुलता, विषाद एवं व्यथा की उस प्राणलेवा मनस्थिति में सिद्धराज जयसिंहदेव ने अपने बाद गुजरात के सिंहासन पर कुमारपाल न बैठे इसके लिए अन्तिम घड़ी में कुछ संकेत किया था अथवा नहीं, यह जान पाने के लिए कोई विश्वसनीय आधार उपलब्ध नहीं है।

उसने ऐसा कोई संकेत किया भी हो तो मनुष्य के किये कितना होता है संसार में और क्या होता है ?

विधि का विधान न कभी किसी के टाले टला है, न टल सकता है।

एक राजा जा रहा था।

एक राजा आ रहा था।

वह राजा, जो अभी जंगल-जंगल भटक रहा था।

□

[नौ]

सन्नाटा !

पाटन के राजप्रासादों में सन्नाटा छाया हुआ था।

सूई भी गिरे तो 'छन्न' बज उठे।

बाहर अभी सब कुछ वैसा ही चल रहा था, क्योंकि पाटन के विचारवान राजपुरुषों ने राजप्रासाद के भीषण सन्नाटे को अपनी छाती में छिपा रखा था। वज्रपात तो हुआ था उनकी छाती पर, किन्तु उसे भी सहन करना था। सहा न जाए तो किया क्या जाय ?

पट्टनियों को पता चल जाय तो कुहराम मच जाय।

गुजरात के शत्रुओं को पता चल जाय तो संकट खड़े हो जायँ।

अतः सन्नाटे में डूबे राजप्रासाद के बाहर पाटन का दैनन्दिन कार्य व्यापार जैसे का तैसा चल रहा था। मानो कुछ हुआ ही नहीं।

प्रासाद में भी सुबह से शाम तक वे ही गतिविधियाँ चल रही थीं। सन्देशवाहक आते-जाते थे। प्रासाद के विशाल प्रांगण में अश्वारोही सैनिक टुकड़ी उसी प्रकार आकर प्रातःकाल खड़ी होती थी....मानो सिद्धराज जयसिंहदेव अभी आकर उन्हें दर्शन देंगे।

किन्तु जयसिंहदेव जा चुके थे, वहाँ—जहाँ से जाकर फिर लौटना नहीं होता।

सिंहासन पर उनकी रत्नजटित स्वर्ण-पादुका प्रतिष्ठित थी, मानो स्वयं जयसिंहदेव ही विराजमान हों। महामात्य मुंजाल जा चुके थे। उनके स्थान पर अब महामात्य महादेव थे। वे प्रतिदिन प्रभात में आकर जयसिंह देव की पादुकाओं को प्रणाम करते थे और राजकार्य में दत्तचित्त हो जाते थे। सेनापति केशव (कान्हड़देव) अपने ऊँचे श्यामवर्णी अश्व पर बैठकर राजचौक में इधर से उधर घूमते थे मानो महाराज अभी उन्हें बुला भेजेंगे।

आधा मनुष्य और आधा दैत्य-सा दीखने वाला बर्बरक अपनी लाठी पर सिर झुकाए सभा भवन में नित्य की भाँति किसी स्तम्भ की ओट में

इस प्रकार मौन खड़ा हो जाता था कि उसे कोई देख न सके किन्तु वह महाजन तथा अन्य व्यक्तियों को बराबर देखता रहे। वह दुर्दान्त व्यक्ति महाराज जयसिंहदेव की छाया के समान सदैव उनके साथ रहा करता था। जयसिंहदेव के प्रति उसकी भक्ति अविचल थी, एकनिष्ठ थी। वह मानने के लिए तैयार नहीं था कि देवात्मा जयसिंहदेव का भी मरण हो सकता है।

कविजन, पंडित, श्रेष्ठिगण, दण्डनायक, मंडलेश्वर उसी प्रकार आते और जाते थे। उसी प्रकार सारे गुर्जरराज्य से सन्देशवाहकों के आने जाने का क्रम चालू था—मानो कुछ हुआ ही नहीं।

महामात्य महादेव का प्रयत्न था कि बात फूटने से पूर्व धीरे-धीरे गुजरात के सिंहासन पर महाराज जयसिंहदेव के उत्तराधिकारी को स्थापित कर दिया जाय ताकि गुजरात के शत्रुओं को भड़कने का अवसर न मिल पाए।

किन्तु कितनी भी सावधानी रखी जाय, इतनी बड़ी घटना आखिर कब तक छिपाई जा सकती है?

हवा के साथ उड़ती-उड़ती खबर चारों ओर फैलने लगी थी और गुजरात को घेरकर पड़े हुए आबू, शाकम्भरी, मालवा, नड्डूल तथा सोरठ के शासक जो अब तक जयसिंहदेव की तलवार से भयभीत चुप बैठे थे, फिर से रणघोष करने लगे थे।

शाकम्भरी का अर्णोराज (आनकराज) तो अपने पुत्र सोमेश्वर को पाटन का राजा बनाने के लिए उतावला होने लगा था। उसने मालवा के बल्लाल को सन्देश भेजा था—अवसर आ गया है, गुजरात के दण्डनायक को मालवा से खदेड़ दो, मैं तुम्हारे साथ हूँ।

बड़ी विकट और विषम परिस्थिति आ खड़ी हुई थी। महामात्य महादेव के समक्ष इस समय सबसे विकट जो प्रश्न था वह यह कि अब पाटनपति कौन?

भिन्न-भिन्न पक्ष खड़े हो रहे थे। अलग-अलग दावेदार अपना-अपना दावा पेश करने को उद्यत थे। सबसे प्रमुख दावेदार था कुमारतिलक त्यागभट्ट[1]

---

१ त्यागभट्ट 'प्रबंध चिन्तामणि' में उल्लिखित 'चाहड' ही है। यह भी कहा गया है कि वह मंत्रीश्वर उदयन का तीसरा पुत्र था जिसे सिद्धराज ने अपना प्रपन्न पुत्र बना लिया था। 'मोह-पराजय' में इसका नाम त्यागभट्ट दिया गया है।
सं० त्याग। प्राकृत-चाअ। अतः सं०-त्यागभट्ट = प्रा०-चाअहड। इस पर से चाहड।

जो महाराज जयसिंहदेव का प्रपन्न पुत्र था, फिर सोमेश्वर था, जयसिंहदेव की पुत्री का पुत्र। उधर त्रिभुवनपाल सोलंकी के पुत्र महीपाल और कीर्तिपाल भी थे।

एक और भी था—कुमारपाल, जो सिंह के समान जंगल-जंगल भटक रहा था और सिंह के समान ही अवसर की प्रतीक्षा में था। वह भी तत्कालीन गुजरात के सर्वश्रेष्ठ महारथी लौह पुरुष त्रिभुवनपाल सोलंकी का ही तीसरा और सबसे छोटा पुत्र था।

सेनापति केशव, बर्बरक, मल्हारभट्ट तथा दुर्गपाल त्रिलोचनपाल कुमारतिलक त्यागभट्ट को गुर्जरेश्वर बनाने के लिए कटिबद्ध थे। वे महामात्य महादेव पर जोर डाल रहे थे कि अविलम्ब त्यागभट्ट का राज्याभिषेक कर दिया जाय।

किन्तु महामात्य महादेव हवा का प्रवाह देख रहे थे। वे तटस्थ भाव से किसी निर्णय पर पहुँचना चाहते थे।

तुरंगाध्यक्ष कृष्णदेव अभी तटस्थ था। वह कुमारपाल का बहनोई था, किन्तु वह किस पक्ष की ओर ढलेगा यह अभी अनिश्चित था। वह महत्वाकांक्षी था, अभिमानी था। अपने मोहरे वह बहुत सोच-समझ कर तेल और तेल की धार को देखते हुए बैठाने की सोच रहा था।

अन्य पक्ष मंत्रीश्वर उदयन का था। उनके साथ गुजरात का समस्त जैन समुदाय था। गुजरात के अधिकांश रणबांकुरे क्षत्रिय—मंडलेश्वर, सामन्त, दण्डनायक, सैनिक इत्यादि भी मंत्रीश्वर उदयन के साथ ही रहेंगे ऐसा प्रतीत होता था। गुजरात की राज्य-परम्परा के अनुसार सीधे राजकुल में उत्पन्न कोई व्यक्ति ही गुजरात के सिंहासन पर बैठ सकता था। और ऐसे व्यक्तियों में सर्वश्रेष्ठ कुमारपाल ही था।

किन्तु परिस्थिति ऐसी थी कि होने को कुछ भी हो सकता था। ऊँट किसी भी करवट बैठ सकता था। और वह एक करवट ही गुजरात के इतिहास को बदलकर रख सकती थी।

तुरंगाध्यक्ष कृष्णदेव गुजरात के सामन्तों और मंडलेश्वरों में अग्रगण्य था। अतः उन सबका रुझान अन्ततः बहुत कुछ कृष्णदेव की करवट पर ही निर्भर करता था।

वातावरण में भीतर ही भीतर भयानक अशान्ति थी।

किन्तु मंत्रीश्वर उदयन पूर्णरूप से शान्त थे। उनकी प्रशान्त किन्तु सावधान तीव्र दृष्टि कृष्णदेव तथा त्यागभट्ट के समर्थक पक्ष पर टिकी हुई थी। उनकी प्रत्येक गतिविधि, छोटे से छोटे क्रिया-कलाप की सूचना उन्हें अपने कुशल चरों द्वारा प्रतिपल प्राप्त हो रही थी।

पाटन के समझदार लोग मन ही मन सोच रहे थे कि मंत्रीश्वर उदयन अपने पुत्र कुमारतिलक त्यागभट्ट का राज्याभिषेक अविलम्ब करा देने में आगे क्यों नहीं आ रहे थे ? बल्कि वे उसका विरोध ही कर रहे हों ऐसा क्यों प्रतीत हो रहा था ? राजमाता लीलादेवी त्यागभट्ट का राज्याभिषेक करा दिये जाने के लिए आतुर थीं। केशव सेनापति, बर्बरक, मल्हारभट्ट, दुर्गपाल त्रिलोचनपाल आदि भी त्यागभट्ट को गुर्जरेश्वर बनाने के लिए शपथ लिए बैठे थे। तब मंत्रीश्वर को क्या हुआ था ? वे क्या सोच रहे थे ?

मंत्रीश्वर उदयन कैसे महापुरुष थे और वे निःस्वार्थ भाव से गुजरात के हित का चिन्तन कितनी गहराई से कर रहे थे यह बात हमारे पाठकों के सामने धीरे-धीरे अब प्रकट होने को है।

गुजरात के रंगमंच की यवनिका अब उठने को ही थी।

●

(दस)

"काक ! एक-एक पल मूल्यवान है। वीरभद्र आया ?"

"हाँ, मंत्रीश्वर ! अभी-अभी वह आ पहुँचा है।"

"क्या समाचार लाया ?"

"शुभ समाचार हैं, प्रभु ! उपस्थित करूँ ?"

"बुलाओ।"

काक भटराज ने द्वारपाल को संकेत किया और मंत्रीश्वर का विश्वासपात्र गुप्तचर वीरभद्र द्वार में प्रविष्ट हुआ। उसने मंत्रीश्वर को प्रणाम किया और मूर्तिवत् उनके सामने खड़ा होकर अपने स्वामी की आज्ञा की प्रतीक्षा करने लगा।

उदयन की वृद्धावस्था आ चली थी। वे स्वच्छ, दूध जैसी सफेद गद्दी पर तकिए का सहारा लिए अधलेटे विराजमान थे। अब वे कुछ सीधे बैठ गए। एक बार उन्होंने अपने विशालकक्ष में चारों ओर सावधानी की दृष्टि डाली और आश्वस्त हुए कि वहाँ काक, वीरभद्र तथा स्वयं उनके अतिरिक्त अन्य कोई सेवक-सेविका आदि नहीं था। तब उन्होंने वीरभद्र से प्रश्न किया—

"क्या समाचार हैं ? कुछ पता चला ?"

"प्रभु ! कुमार....।"

"सावधान ! वीरभद्र, दीवारों के भी कान होते हैं।"

"प्रभु ! वे आ रहे हैं। अब पाटन से कुछ ही योजन की दूरी पर हैं।"

"विस्तार से कहो। बैठ जाओ। काक, बैठो।"

काक भटराज और वीरभद्र सामने नीचे बिछे आसनों पर बैठ गए तब वीरभद्र ने बताना आरम्भ किया—"मंत्रीश्वर। वे मालवा से चलकर जब गुजरात की सीमा में पहुंचे तब एक दिन अचानक मेरी उनसे भेंट हो गई....।"

"कहाँ ?"

"गुजरात के सीमावर्ती एक ग्राम के बाहर जंगल में एक वट वृक्ष के नीचे एक व्यक्ति सोया पड़ा था। देखने में वह एक सामान्य राजपूत प्रतीत होता था। चेहरे पर धूल जमी थी और दाढ़ी कई दिनों की बढ़ी हुई थी। प्रतीत होता था कि वह बहुत थका हुआ है और गहरी नींद में सो रहा है। मुझे कुछ आशंका हुई। मैं एक वृक्ष की ओट में रहकर देखने लगा और विचार करने लगा। तभी एक चमत्कार हुआ ....।"

"कैसा चमत्कार ?"

"दोपहर का समय था। धूप तेज थी। जैसे-जैसे सूर्य अपनी यात्रा पर आगे बढ़ा, धूप उस सोए हुए व्यक्ति के चेहरे पर आ गई। सम्भव था कि धूप की तेजी से कुमारपाल....."

"वीरभद्र !" —मंत्रीश्वर ने कुछ रोष के साथ कहा।

"क्षमा, प्रभु प्रसन्नता के कारण भूल हो गई। अब असावधानी नहीं होगी।"

"ठीक है। आगे कहो।"

"प्रभु ! वह चमत्कार देखने ही योग्य था। जैसे ही धूप उस व्यक्ति के चेहरे पर आई, वैसे ही न जाने कहाँ से एक मणिधर नाग वहाँ आ गया और उसने अपना विशाल, विकराल फन छत्र के समान उस व्यक्ति के चेहरे पर फैला दिया। धूप रुक गई और वह व्यक्ति आराम से सोता रहा। प्रभु ! यह देखकर मैं तो चकित रह गया। कुछ डर भी गया। चुपचाप इस चमत्कार को देखता रहा।"

"फिर ? आगे क्या हुआ ?" मंत्रीश्वर ने पूछा।

वीरभद्र ने बताया—"प्रभु ! मेरी आशंका को आधार मिला। मैं बड़े गौर से उस सोए हुए व्यक्ति के चेहरे को देखने और पहचानने का प्रयत्न लगा। किन्तु यह कहते हुए छाती फटती है स्वामी कि समय के थपेड़ों की मार खा-खाकर उस व्यक्ति का चेहरा उस समय मुझे बहुत बुझा बुझा सा लगा।"

इतना सुनकर मंत्रीश्वर उदयन तथा काक दोनों ने एक-एक गहरी सांस ली। मंत्रीश्वर के चेहरे पर एक किसी अजीब से निश्चय की छवि

उभरी और काक भटराज के चेहरे पर व्याकुलता दिखाई दी। अपने मनोभावों पर अंकुश लगाते हुए तब उदयन ने कहा—

"हूँ ! फिर क्या हुआ ?"

"प्रभु ! मेरी दृष्टि फिर उस व्यक्ति के चेहरे से आगे बढ़ती हुई उसके शरीर पर गई। कभी भूखे और कभी प्यासे रखड़ते रहने वाले उस व्यक्ति की देहयष्टि यद्यपि कुछ दुर्बल-सी दिखाई दे रही थी किन्तु फिर भी मुझे ऐसा लगा कि वह हाड़-मांस की नहीं बल्कि फौलाद की ही बनी हुई हो। प्रभु ! मेरी आशंका को और अधिक आधार मिला।"

इतना कहकर वीरभद्र मानो श्वास लेने के लिए पल भर ठहरा। मंत्रीश्वर ने कुछ कहा नहीं, केवल अपनी दृष्टि से ही आदेश दिया—"कहते जाओ।"

"मंत्रीश्वर ! स्वामी ! उसके बाद मैंने जो कुछ देखा वह देखकर मुझे निश्चय ही हो गया। मैं पहचान गया। मेरे हर्ष की कोई सीमा नहीं रही। मैं दौड़कर····।"

"क्या देखा तुमने वीरभद्र ?"

"पद्म ! प्रभु, कुमार····क्षमा, प्रभु, उस व्यक्ति के पैर के तलवे में पद्म का चिन्ह था····।"

इतना सुनते ही उदयन मंत्रीश्वर जैसा प्रशान्त महापुरुष भी आन्तरिक हर्ष से विभोर होकर सहसा खड़ा हो गया और कुछ आतुरता से कक्ष में, इधर से उधर चक्कर काटने लगा।

दो-चार चक्कर काट लेने पर मंत्रीश्वर ने स्वयं को संयत किया। फिर भी उनके चेहरे पर आनन्द स्पष्ट रूप से अंकित था। वे पहले के समान शान्त भाव से आकर पुनः अपनी गद्दी पर बैठ गए और बोले—

"क्या कहा था तुमने वीरभद्र ? फिर से कहो तो।"

"प्रभु ! उस व्यक्ति के पैर में पद्म का चिन्ह अंकित था।"

"हूँ ! काक तुम जानते हो न कि इस समय भारतवर्ष में पद्म का चिन्ह केवल एक ही व्यक्ति के पैर में अंकित है ?"

"जानता हूँ प्रभु।"

"हूँ ! अच्छा वीरभद्र, फिर क्या हुआ ?"

"वह पद्म देखकर मैं तो दौड़ ही पड़ा प्रभु, और मैंने दौड़कर महाराज के चरण पकड़ लिए।"

"तुम फिर चूके वीरभद्र ! किन्तु इस बार क्षमा करता हूँ। कहो, आगे कहो।"

"क्षमा, प्रभु ! मेरे दौड़ने से जो पग ध्वनि हुई उसे सुनकर वह फणिधर नागराज शान्त भाव से वनस्पतियों में विलीन हो गए और मेरे स्पर्श से वह व्यक्ति क्षण मात्र में जागकर शेर की तरह उछल पड़ा। प्रभु ! आपके दर्शन और सेवा का सौभाग्य अभी इस वीरभद्र के भाग्य में लिखा था, अन्यथा उस क्षण यह आपका सेवक तो परमधाम ही पहुँच चुका था समझिए।"

"क्यों ? क्या हुआ था ?"

"प्रभु ! वह व्यक्ति कब जाग पड़ा, कब उसने सिरहाने रखी अपनी तलवार उठाई और कब उसने मेरी गर्दन का निशाना साधकर प्रहार किया, यह समझ में आने वाली बात नहीं है। बिजली भी इतनी तेजी से तो नहीं चमकती होगी।"

"अच्छा !"—प्रसन्न होते हुए मंत्रीश्वर ने कहा—"तब तुम जीवित कैसे बच गए वीरभद्र ?"

"जिनेश्वरदेव की कृपा ही थी प्रभु ! इन काक भटराज ने मुझे आड़े वक्त में बचाव के एक-दो गुर सिखा दिए हैं, वे ही काम आ गए। मैं चपलता से खिसक गया। मेरे सिर के स्थान पर वहीं पास में पड़ी एक शिला के दो टुकड़े अवश्य हो गए।"

यह सुनकर काक भटराज और मंत्रीश्वर दोनों को थोड़ी हँसी आ गई।

किन्तु पल-पल जो व्यतीत हो रहा था वह विकट था और कीमती था। मंत्रीश्वर ने संयत होते हुए कहा—

"फिर ? वीरभद्र, शीघ्रता करो।"

"प्रभु ! ठीक उसी समय वौसिरि वहाँ आ पहुँचा। ग्राम में भिक्षाटन हेतु गया था। उसने मुझे और मैंने उसे तुरन्त पहचान लिया और मेरे प्राण बच गए। मैंने यहाँ के सब समाचार महाराज कुमार····उन्हें देकर उन्हें सावधानी से और शीघ्रता से पाटन की ओर आगे बढ़ते रहने के लिए कहा और भागता-भागता आपको समाचार देने के लिए यहां चला आया।"

"हूँ, ठीक किया। अच्छा वीरभद्र, अब तुम कुछ आराम कर लो, कुछ खा-पी लो। तुम्हें फिर शीघ्र ही शेर की गुफा में जाना है।"—कहकर मंत्रीश्वर ने एक अर्थसूचक मुस्कान बिखेरी और उठ खड़े हुए।

वीरभद्र 'प्रणाम' करके चला गया।

तब मंत्रीश्वर ने काक के समीप जाकर बहुत धीरे से कहा—

"काक ! परीक्षा की घड़ी आ गई है। कुमारपाल का पता लगाने और उसे संसार की दृष्टि से ही ओझल कर देने के लिए विपक्ष कितना उतावला है यह तो तुझे पता ही है। उसके गुप्तचर नगर-नगर और ग्राम-ग्राम में घूम रहे हैं। दुर्गपाल त्रिलोचन पाटन पर फन फैलाए बैठा है। एक चिड़िया भी पाटन की चहार दीवारी में उसकी गृद्धदृष्टि में आए बिना प्रवेश नहीं कर सकती। और हमें ऐसी स्थिति में कुमारपाल को सुरक्षित, चुपचाप पाटन में लाकर उचित समय पर राजसभा में उपस्थित करना है। न एक पल पहले, न एक पल पीछे। काक ! मेरी बात को ठीक से समझ लेना—न एक पल पहले, न एक पल पीछे।"

"समझ रहा हूँ मंत्रीश्वर ! आप आदेश देते जाइये। शेष काम काक पर छोड़ दीजिए। कहें तो दुर्गपाल और सेनापति सहित उनके सारे हिमायतियों को पाटन से गायब ही कर दूँ। किसी एक का पता भी न चले कि कपूर की तरह कौन, कहाँ, कब उड़ गया।"

"अरे काक ! तू लड़ाका का लड़ाका ही रहा। ऐसा कुछ नहीं करना है। संघर्ष नहीं होने देना है। ठीक समय पर ठीक वर्तन करने से सब कुछ ठीक हो जायगा। किन्तु तू सावधान रहकर वीरभद्र को कुमारपाल के पास भेजकर उन्हें सूचित कर कि वे पाटन के बाहर किसी गुप्त स्थान पर आकर ठहरें और हमारी ओर से संकेत की प्रतीक्षा करें। लेकिन ··· लेकिन तुझे किसी अच्छे गुप्त स्थान का ध्यान है ?"

"हाँ, मन्त्रीश्वर, है। मोढ़ेरी द्वार से उत्तर की ओर सरस्वती के किनारे काफी घना जंगल आ जाता है। उधर कुछ पुराने खण्डहर हैं। एकाध प्राचीन टूटी-फूटी हालत में पड़ी बावड़ी भी है। उधर कभी कोई आता-जाता भी नहीं। वह स्थान मुझे उपयुक्त प्रतीत होता है।"

"तब ठीक है। यह तेरी जिम्मेदारी है। समझा ? तेरी जिम्मेदारी है। वीरभद्र खा-पी ले तो उसे तुरन्त रवाना कर दे। अब मैं अभी चलता हूँ। जरा कृष्णदेवजी से मिल लूँ।"

"वह मानेंगे ? मंत्रीश्वर, कृष्णदेवजी बड़े ऊँचे सपने देखने वालों में से हैं।"

"अरे काक, ऊँचे सपने देखने वालों को ऊँचे सपने देखने दे न ! उसमें हमारा क्या बिगड़ता है ? समय-समय की बात है। सपना देखकर खुश होता है कोई तो देखने दे न भाई ! अन्त में तो घी के बर्तन में घी आ जाना है। तब तक भले कोई सपने देखे न ! कृष्णदेवजी रंगीन तबियत के आदमी हैं, सपने तो देखेंगे ही। फिर वे तुरंगाध्यक्ष हैं। घोड़े पर सवार हैं। उन्हें थोड़ी हवा खाने देना है। थोड़े समय के लिए उन्हें 'बड़ा भाई' बना लेने में हानि नहीं है काक ! अच्छा, चलता हूँ। तू मेरी सब बात समझ गया न ?"

"जी।"

"ठीक, होशियार रहना भला।"

× × ×

सामान्यतया उदयन मंत्रीश्वर को यदि किसी भी व्यक्ति से मिलना होता था तो उसे सन्देश भिजवा दिया जाता था और वह स्वयं ही मंत्रीश्वर के आवास पर पहुंच जाता था, चाहे वह राज्य का कितना ही बड़ा अधिकारी हो। केवल महामात्य महादेव ही उसके अपवाद थे। अतः यदि उदयन चाहते तो वे तुरंगाध्यक्ष कृष्णदेव को अपने आवास पर बुलवा सकते थे। किन्तु आज उन्होंने जानबूझकर ही ऐसा नहीं किया। वे स्वयं ही कृष्णदेव के आवास की ओर चले।

जब वे कृष्णदेव की हवेली पर पहुँचे, उनकी पालकी वहाँ उतारी गई और वे उसमें से उतरकर हवेली के मुख्य द्वार की ओर बढ़े, तब उसी समय कृष्णदेव भीतर से निकल आए। वे कहीं बाहर जा रहे थे। उदयन मन्त्रीश्वर को अपने द्वार पर देखकर वे चौंक पड़े।

तेजी से आगे बढ़कर मन्त्रीश्वर का स्वागत करते हुए बोले—

"अरे मन्त्रीश्वर, आप ? यहाँ ? मेरे भाग्य ! पधारिये, पधारिये।"

"कैसे हैं कृष्णदेवजी ? कहीं जा रहे थे क्या ?"—मन्त्रीश्वर ने पूछा।

"हाँ, जा तो रहा था, किन्तु अब कैसा जाना ? किन्तु आपने यह कष्ट कैसे किया मन्त्रीश्वर ? मुझे बुलवा क्यों न भेजा ?"

"अरे कृष्णदेवजी, कभी-कभी तो हमें भी चैन से दो घड़ी बैठ लेने दिया करो। वरना राज की खटपट तो चलती ही रहती है। सोचा, आपके यहाँ चलूँ तो थोड़ी देर शान्ति मिलेगी। प्रेमल से भी तो बहुत दिन हुए मिले।"

"आपने बड़ी कृपा की मंत्रीश्वर, पधारिए। प्रेमल भी आपको याद करती रहती है।"

प्रेमल कृष्णदेव की पत्नी और कुमारपाल की बहन थी। बड़ी भोली, बहुत सहनशीला नारी थी। कृष्णदेव की रंगीन मिजाजी से उसे अनेक प्रकार की मानसिक वेदना सहन करनी पड़ती थी। वह चुपचाप सब कुछ सह रही थी। कभी शिकायत का एक शब्द भी उसके मुख से निकला नहीं था। उदयन मंत्रीश्वर सब कुछ जानते थे।

भीतर जाकर आराम से सुखासनों पर बैठ जाने के बाद कुछ इधर उधर की बातें हुईं और फिर दोनों राजपुरुष जल्दी ही मतलब की बात पर आ गए। समय बहुत मूल्यवान था। कृष्णदेव भी जानते थे कि ऐसे समय में उदयन मंत्रीश्वर फुरसत का समय निकाल सकें यह तो शक्य ही नहीं था। अवश्य ही उनके आने का कोई अति विशेष प्रयोजन होना चाहिए। अतः उन्होंने कहा—

"मंत्रीश्वर, अब कहिए, कोई विशेष बात है क्या ?"

"देखो कृष्णदेवजी, आप तो घर के आदमी हो। इसलिए हम आपस में सारी बात समझ लें तो अच्छा होगा। गुजरात का भविष्य दाँव पर लगा है यह आप जानते ही हो। इस समय यदि हम एक भी कदम चूक गऐं तो अनर्थ हो जायगा।" —उदयन ने गम्भीरतापूर्वक कहा।

कृष्णदेव ने मंत्रीश्वर की बात सुनी, पल दो पल मन ही मन समझने का प्रयत्न किया कि मंत्रीश्वर का अभिप्राय क्या हो सकता है और फिर वे बोले—

"मंत्रीश्वर ! आप हैं, शोभन मंत्री हैं, महामात्य महादेव जी हैं। फिर हम जैसे लोगों को क्या करना है ? हमें तो आप आदेश दीजिए।"

"कृष्णदेवजी, मैंने कहा न, समय बहुत थोड़ा है। निर्णय अविलम्ब ही करना है। इधर-उधर की बात अब जाने दीजिए। जो समय व्यतीत

हो रहा है उसमें चाहड़ (त्यागभट्ट) का पक्ष प्रबल होता चला जा सकता है।"

"मंत्रीश्वर ! आप क्या कह रहे है ? त्यागभट्ट आपका पुत्र है....।"

"कृष्णदेवजी, जब देश के भविष्य का प्रश्न हो तब पुत्र और कलत्र के बारे में नहीं सोचा जाता। चाहड़ मेरा पुत्र है अवश्य, किन्तु उसका स्थान गुजरात के सिंहासन पर नहीं, गुजरात के नाथ के पार्श्व में है उसकी एक भुजा के समान।

"मंत्रीश्वर....!"

"कृष्णदेवजी, साफ-साफ बात कहने और समझ लेने और तदनुसार त्वरित क्रियान्वयन करने का समय आ चुका है। चाहड़ मेरा पुत्र है, उसे सिद्धराज महाराज ने अपना प्रपन्न पुत्र बना लिया, युवराज पद उसे दिया, वे उसे भावी गुर्जरनरेश के रूप में देखना चाहते थे ऐसी धारणा सभी लोगों की है। किन्तु उनके अन्तिम शब्द तो तुरंगाध्यक्ष कृष्णदेवजी के पास ही हैं न ? उनको आखिरी घड़ी में अन्य कोई नहीं, कृष्णदेवजी ही उनके सिरहाने पर थे न ?"

कृष्णदेव मंत्रीश्वर उदयन के इस अर्थवान कथन का आशय समझने का प्रयास कर रहे थे। मंत्रीश्वर भी इतना कहकर कुछ पल मौन रहे। इन शब्दों का अर्थ कृष्णदेव हृदयंगम कर सकें इतना समय देकर उन्होंने आगे कहा—

"कृष्णदेवजी ! वह बर्बरक, केशव सेनापति, त्रिलोचन, मल्हारभट्ट और स्वयं राजमाता लीलावती—ये सब सिद्धराज महाराज जयसिंहदेव के अन्तिम शब्दों की रट लगाए हुए हैं। उनकी अन्तिम इच्छा की पूर्ति हेतु प्राणों की आहुति तक चढ़ा देने के लिए कटिबद्ध हैं। अवश्य उनका पक्ष निर्बल नहीं है। किन्तु कृष्णदेवजी, महाराज की अन्तिम घड़ी में उनके सिरहाने आप ही थे न ?"

"हाँ, मंत्रीश्वर, मैं ही था....।"

"और उनके अन्तिम शब्द आपने ही सुने थे न ?"

मंत्रीश्वर उदयन ने कृष्णदेवजी की आँखों में स्थिर दृष्टि से झाँकते हुए यह प्रश्न पूछा था। कृष्णदेवजी ने कुछ सोचते, कुछ ठहरकर उत्तर

दिया—'हाँ, मंत्रीश्वर महाराज के अन्तिम शब्द मैंने ही सुने थे। याद आता है।"

"बस, तब ठीक है कृष्णदेवजी! यह भूलने की बात नहीं है। समय पर काम आएगी। दिवंगत सिद्धराज महाराज जयसिंहदेव की अन्तिम थाती अकेले आपके पास है, यह आप भी याद रखें और इसका प्रचार भी करें तो लाभप्रद ही रहेगा।"

"यह तो ठीक है मंत्रीश्वर, ऐसा हो सकता है। किन्तु आपके पुत्र कुमारतिलक त्यागभट्टजी····।"

"मैंने कहा न कृष्णदेवजी, कि जहाँ देश का प्रश्न हो वहाँ किसी उदयन या किसी त्यागभट्ट की कोई भी कीमत नहीं है। इस समय गुजरात का नाथ होने के लिए योग्य और समर्थ केवल एक ही व्यक्ति है कुमारपाल ···।"

"कुमारपाल ?"

"अकेला वही। न चाहड़, न सोमेश्वर, न महीपाल और न कीर्तिपाल। केवल कुमारपाल।"

"किन्तु कुमारपाल है कहां? उसका तो कुछ अता-पता ही नहीं है।"

"वह पाटन के द्वार पर दस्तक दे रहा है कृष्णदेवजी! उचित समय पर उसे पाटन में प्रविष्ट कराना है। इसमें आपको अपना सहयोग देना है।"

कुमारपाल पाटन के द्वार पर दस्तक दे रहा है, यह समाचार सुनकर कृष्णदेव कुछ समय के लिए विस्मय में डूब गए और वृद्ध मंत्रीश्वर उदयन की गहराई का माप लेने का व्यर्थ प्रयत्न करते रह गये।

मंत्रीश्वर उदयन की शक्ति और गहराई का अनुमान कृष्णदेव तो क्या, भारत के अच्छे से अच्छे राजनीतिज्ञ भी कभी लगा नहीं पाए थे।

कृष्णदेव गुजरात के राजपूत सामन्तों में अग्रणी थे। इस नाते उनकी शक्ति कम नहीं थी। उनके एक संकेत पर हजारों राजपूती तलवारें चमक सकती थीं। उदयन इस बात को भली भाँति समझते थे। वे जानते थे कि इस वक्त कृष्णदेव जिस पक्ष की ओर झुक जायँ वही पक्ष प्रबल हो सकता था।

वे यह भी जानते थे कि कृष्णदेव मनमौजी है, महत्वाकांक्षी है, सत्ता उसे बहुत प्रिय है।

अतः उन्होंने एक और चुग्गा फेंका—

"देखो कृष्णदेवजी, कुमारपाल आपका संबंधी है। वह बरसों तक जंगल-जंगल भटका है। उसने बहुत कष्ट सहन किए हैं। अब यदि आपने गुजरात की गद्दी प्राप्त करने में उसे सहायता की तो वह आपका आजन्म ऋणी रहेगा। रहेगा न ? ऐसी स्थिति में वह राजा भले ही रहे, सत्ता तो सारी आपके ही हाथ में रहेगी न ?"

उदयन का यह दाँव बिलकुल सही बैठा। कृष्णदेवजी के मुंह में पानी भर आया। उन्होंने मन ही मन सोचा—बूढ़ा कहता तो सही है। मैं कुमारपाल को गुजरात के सिंहासन पर बैठा दूं तो वह तो मेरे ही वश में रहेगा। और फिर....फिर यदि उसने कभी कुछ चूं-चपड़ की तो उसे उखाड़ फेंकने में मुझे कितनी देर लगनी है ? ठीक है....यही ठीक है।

इतना सब कुछ कृष्णदेवजी ने बहुत तीव्रता से सोच लिया और फिर कहा—

"मंत्रीश्वर ! आप सचमुच विचक्षण पुरुष हैं। बहुत दूर की कौड़ी लेकर आते हैं। और कहना पड़ेगा कि आपकी राजभक्ति, आपका देशप्रेम भी अनन्य है। अन्यथा अपने पुत्र को राजगद्दी मिलती हो तो कौन पिता उसका विरोध करेगा ?"

मंत्रीश्वर उदयन कृष्णदेवजी के मन में भीतर ही भीतर चल रहे एक-एक विचार को ऐसे पढ़ रहे थे जैसे हाथ में रखी कोई पुस्तक पढ़ रहे हों। एक मधुर मुस्कान बिखेरते हुए उन्होंने कहा—

"मुझे भरोसा था कृष्णदेवजी कि आप सही बात को तुरन्त समझ जायेंगे और न्याय के पक्ष में ही रहेंगे। गुजरात के सिंहासन पर गुजरात के राजवंश से ही सीधे सम्बन्धित व्यक्ति का ही अधिकार होता चला आया है और होता रहेगा। इस सिंहासन पर तीनों भाइयों में योग्यतम कुमारपाल का ही अधिकार है। मेरा पुत्र चाहड़ मेरे ही समान गुजरात के धनी का सच्चा सेवक बनकर रह सकेगा तो रहेगा। वरना उसके लिए गुजरात में जगह नहीं होगी। अच्छा, तो अब मैं चलूं कृष्णदेवजी, भूलें नहीं—महाराज सिद्धराज जयसिंहदेव की अन्तिम थाती, उनके अन्तिम शब्द आपके पास हैं। ठीक ?"

"हाँ, मंत्रीश्वर, यह भी कोई भूलने की बात है ?"

"ठीक तब, चलता हूँ। कुमारपाल के विषय में आपको सन्देश भेजूंगा। तब तक आप दुर्गपाल पर सावधानी की नजर रखें।"

"उसकी चिन्ता आप क्यों करते हैं मंत्रीश्वर! उसे तो मैं सम्हाल लूँगा।"

"वह तो ठीक, लेकिन कृष्णदेवजी भूलिए नहीं कि वह भी पाटन का दुर्गपाल है और उसकी राजभक्ति भी किसी अन्य व्यक्ति की तुलना में कम नहीं है। उसके, सेनापतिजी के और बर्बरक के मन में यदि यह बात बैठी रही कि महाराज की अन्तिम इच्छा त्यागभट्ट को ही सिंहासन सौंपने की थी तो वे इस बात को पार पटकने के लिए अपने प्राणों पर खेल जायेंगे।"

"तो यहाँ चिन्ता कौन करता है मंत्रीश्वर! कृष्णदेव की तलवार का पानी सूखा नहीं है....।"

"कृष्णदेवजी, तलवारें तो और भी हैं। एक तो यह मेरे ही पास है। किन्तु तलवारों को म्यान में ही रखना है। यह बात भी भूलें नहीं। तलवार की शक्ति से प्राप्त किए गए राज्य में हिंसा का साम्राज्य होगा। वह हमें नहीं चाहिए। हम तो संघर्ष को टालना चाहते हैं। हमारी ताकत जनसमर्थन में से आनी चाहिए। आप समझे कृष्णदेवजी ?"

अक्खड़ राजपूत कृष्णदेव कुछ समझा अथवा नहीं, यह तो वही जाने किन्तु उसका उत्तर था—

"समझ गया, मंत्रीश्वर! आपने जो कहा वही ठीक है।"

□

(ग्यारह)

प्रातःकाल का समय था। महामात्य महादेव नित्य नियमानुसार दिवंगत महाराज सिद्धराज की चरण पादुकाओं को नमन कर दैनन्दिन राजकार्य में स्वयं को व्यस्त करने का यत्न कर रहे थे। किन्तु उनका चित्त बारम्बार दीपक की लौ की तरह डोल जाता था। वह स्थिर हो नहीं पा रहा था। चिन्ता की रेखाएँ उनके ललाट पर स्पष्ट दिखाई दे रही थीं।

उसी समय केशव सेनापति और दुर्गपाल त्रिलोचनपाल वहाँ आ पहुँचे। उनके पीछे-पीछे मल्हारभट्ट भी आ गया। महामात्य को यथोचित नमस्कार करने के बाद जब सब लोग आसनों पर बैठ गए तब सेनापति केशव बोले—

"महामात्य जी, गुजरात का सिंहासन इस प्रकार कब तक सूना पड़ा रहेगा ? ऐसे कैसे काम चलेगा ?"

"हाँ, महामात्य जी, स्थिति कठिन होती जा रही है। पाटन के दुर्गपाल के नाते मुझे समाचार मिल रहे हैं कि आबू, शाकम्भरी, नड्डूल और मालवा में खुसर-पुसर बढ़ रही है और इन प्रदेशों के गुप्तचर धीरे-धीरे अनेक वेश धारण कर पाटन में प्रविष्ट होते चले जा रहे हैं।"—त्रिलोचन-पाल ने कहा।

महामात्य महादेव ने अपने हाथ का हस्तलेख एक ओर रखा, दो पल कुछ सोचा और फिर कहा—

"सेनापति जी, त्रिलोचनपाल जी, सूचनाएं मेरे पास भी पहुँच रही हैं और मैं स्वयं भी चिन्तित हूँ। शीघ्र ही कोई निर्णय तो करना ही है।"

"निर्णय क्या करना है महामात्य जी ? निर्णय तो महाराज सिद्ध-राज कर ही गए हैं। कुमारतिलक त्यागभट्टजी का राज्याभिषेक अब अविलम्ब हो जाना चाहिए। इसमें अब और देरी करना ठीक नहीं है....।"

"जल्दी करना भी ठीक नहीं है सेनापति जी ! जल्दबाजी के परि-णाम भयानक हुआ करते हैं।"—ये शब्द जिस व्यक्ति ने कहे थे उसके मुख

पर शोभा देती हुई शान्ति के पीछे कितना दृढ़ आत्मविश्वास और कैसा अटल संकल्प था यह वे ही जान सकते हैं जिन्होंने उस समय इन शब्दों को सुना था।

ये शब्द थे मंत्रीश्वर उदयन मेहता के जो उसी समय वहाँ आए थे और जिन्होंने सेनापति केशव के कथन को सुन लिया था। अचानक मंत्रीश्वर को वहाँ पाकर सेनापति, दुर्गपाल और मल्हारभट्ट चौंक भी गए और मन ही मन कुछ निराश से भी हुए। उन्हें लगा कि बाजी फिर हाथ से निकल न जाय।

किन्तु महामात्य महादेव ने कहा—

"आइये, आइये, मंत्रीश्वर! आप बहुत अच्छे समय पर आ गए। आप न आए होते तो मुझे आपके पास सन्देश भेजना ही पड़ता। ये सेनापति जी और दुर्गपाल जी कह रहे थे कि राज्याभिषेक की व्यवस्था अब जल्दी हो कर लेनी चाहिए।"

"अवश्य। वह तो करना ही है। तो महामात्य जी, खुली राजसभा के लिए समय का विचार करके घोषणा करा देनी चाहिए।" मंत्रीश्वर ने शान्त भाव से कहा।

"हम भी तो यही कह रहे थे महामात्य जी से....।"

"और मैं भी तो यही कह रहा हूँ। राजसभा में गुजरात के समस्त मण्डलेश्वर, सामन्त, जागीरदार, दण्डनायक, श्रेष्ठिगण और सामान्यजन भी उपस्थित हों।"

"बिलकुल ठीक कहा मंत्रीश्वर ने। हम भी तो यही कह रहे थे।" —मल्हारभट्ट उत्साह के साथ बोल पड़ा।

मंत्रीश्वर उदयन ने उसकी बात पर कोई ध्यान न देते हुए आगे कहा—

"उस खुली राजसभा में गुजरात के सिंहासन के सभी दावेदारों को भी आमंत्रित किया जाय।"

यह सुनकर महामात्य महादेव ने कुछ नहीं कहा किन्तु सेनापति केशव रोष प्रकट करते हुए बोले—

"गुजरात के सिंहासन के दावेदार? आप क्या कह रहे हैं मंत्रीश्वर? गुजरात के सिंहासन पर युवराज त्यागभट्टजी के अतिरिक्त और कौन बैठ सकता है?"

"यह मैं क्या जानूं सेनापतिजी! यह तो गुजरात की जनता जाने।

खुली राजसभा में सभी के सामने इसका निर्णय हो जायगा न ?"— मंत्रीश्वर उदयन ने वैसी ही शान्ति के साथ उत्तर दिया।

अब दुर्गपाल त्रिलोचनपाल चमककर तेज स्वर में बोल उठा—

"मेहताजी ! मंत्रीश्वर ! आप सीधी बात को टेढ़े रास्ते पर ले जा रहे हैं। आप····।"

"त्रिलोचन ! अपनी जुबान पर लगाम लगाकर रखो," अचानक जैसे बिजली कड़की हो ऐसे स्वर में उदयन ने कहा—"उदयन को टेढ़े रास्तों पर चलना भी आता है और टेढ़े रास्तों पर चलने वालों को सीधे रास्ते पर लाना भी आता है।"

कोई विस्फोट न हो जाय इस आशंका से महामात्य महादेव को अब बीच-बचाव करना ही पड़ा। वे तुरन्त बोले—

"मेहताजी, इन लोगों का अभिप्राय है कि जो कुछ भी करना है वह शीघ्र ही करना चाहिए। वर्तमान राजनीतिक परिस्थिति का भी यही तकाजा है।"

"अवश्य है, महामात्यजी ! किन्तु अब इस आयु में राजनीति का पाठ उदयन को किसी सेनापति, दुर्गपाल या कोटपाल से सीखना नहीं पड़ेगा।"

उदयन मंत्रीश्वर के इन शब्दों में वज्र जैसी कठोरता और तलवार जैसी तीक्ष्णता थी। केशव सेनापति, त्रिलोचनपाल और मल्हारभट्ट एक-बारगी भीतर ही भीतर काँप उठे। किन्तु महामात्य महादेव ने बड़े कौशल से बात को सम्हालते हुए कहा—

"मेहताजी, राजसभा बुलाने का आपका सुझाव पूर्णतया समीचीन है। ठीक दिन और समय का निश्चय हम अभी किए लेते हैं। किन्तु सेना-पतिजी का ऐसा मानना है कि अपने उत्तराधिकारी के विषय में महाराज सिद्धराज का अभिप्राय स्पष्ट था। उन्होंने त्यागभट्टजी को युवराज पद प्रदान किया था।"

"महाराज सिद्धराज के अन्तिम शब्दों का पालन प्राण देकर भी करने का निश्चय सेनापतिजी का है। इन दुर्गपालजी का भी है और ये मल्हारभट्ट और वह उस खम्भे की आड़ में खड़ा बर्बरक भी ऐसा ही करना चाहता है। किन्तु महामात्यजी, ये लोग दो बातें नहीं जानते हैं। कहूँ ?"

"हाँ, हाँ, मेहताजी, कहिए न !"—महामात्यजी ने आग्रह किया।

"कहूँ सेनापतिजी ?"

"कहिए।"—कुछ बुझे-से स्वर में सेनापति केशव ने कहा।

"तो सुनिए। आप भी सुन लीजिए दुर्गपालजी ! और मल्हारभट्ट, तुम भी सुन लो। पहली बात तो यह है कि गुजरात के सिंहासन की एक परम्परा है जो अटूट है और अटूट रहेगी। स्वयं महाराज सिद्धराज जयसिंहदेव भी अपने जीवनकाल में उस परम्परा को तोड़ नहीं सके। तो अब उस परम्परा को तोड़ने का साहस किसमें है ?

"वह परम्परा है कि गुजरात के सिंहासन पर राजकुल का ही कोई व्यक्ति विराजमान होता है। अन्य कोई नहीं। कोई कुमारतिलक नहीं, कोई युवराज नहीं।"

"और दूसरी बात यह है कि महाराज के अन्तिम शब्दों का आदर करने की भावना जितनी आप लोगों की है, उससे कम इस बूढ़े उदयन की नहीं है। किन्तु महाराज के अन्तिम शब्द किसके पास हैं ? सेनापतिजी सोचते हैं कि वे उनके पास हैं। लेकिन और भी व्यक्ति हैं जो महाराज की मृत्युशय्या पर उपस्थित थे। उनकी अन्तिम श्वास तक उनके सिरहाने बैठे थे।"

उदयन मंत्रीश्वर ने इतना ही कहा। किन्तु इतना ही पर्याप्त भी था। उनका संकेत तुरंगाध्यक्ष कृष्णदेवजी की ओर था और बहुत स्पष्ट था। सेनापति, दुर्गपाल और मल्हारभट् इस संकेत का मर्म समझ भी गए। उन्हें आभास भी हो गया कि उस समय के भारतवर्ष के अन्यतम राजनीतिज्ञ उदयन मेहता का जादू संभवतः कृष्णदेवजी के सिर पर चढ़ चुका है।

और इस सम्भावना से उनके मन में एकाएक निराशा के गहरे, काले बादल घिरते से प्रतीत हुए। क्योंकि तुरंगाध्यक्ष कृष्णदेव की शक्ति से वे अपरिचित नहीं थे। गुजरात का समस्त सामन्त-मंडल तुरंगाध्यक्ष कृष्णदेव को मान्यता प्रदान करता था।

और पाटन की जनता ?

पाटन के जन-गण का विचार आने पर तो केशव सेनापति, त्रिलोचनपाल और मल्हारभट्ट को हाथों के तोते ही उड़ते दिखाई दिए। पाटन में जो हवा फैल रही थी, मंत्रीश्वर जिस वातावरण का निर्माण अपरोक्ष रूप से कर रहे थे, वह पूर्णरूपेण कुमारपाल के पक्ष में था।

महामात्य महादेव तटस्थ थे। उदयन की भाँति वे भी किसी भी प्रकार के संघर्ष को टालना चाहते थे। वे महाराज सिद्धराज के अन्तिम शब्दों का आदर भी करना चाहते थे, किन्तु साथ ही राजकुल की, गुजरात के सिंहासन की परम्परा की रक्षा भी करना चाहते थे। उन्हें मंत्रीश्वर उदयन की बात में वजन दिखाई दिया, औचित्य समझ में आया। अतः उन्होंने समाधान की ओर जाते हुए कहा—

"तब ठीक है मेहताजी, खुली राजसभा की घोषणा करा दी जानी चाहिए। उसमें खुला निर्णय जनमत के आधार पर हो जायगा कि गुजरात का नाथ बनने की पात्रता और क्षमता किसमें है। सेनापतिजी, दुर्गपालजी, मल्हारभट्ट जी, मंत्रीश्वर का कथन यथार्थ है। राजसभा के लिए कौन-सा दिन नियत किया जाय ? सभी जगह सन्देश भिजवाने होंगे।"

दिवस निश्चित कर लिया गया—माघ सुदी चतुर्थी रविवार। दिवस का तृतीय प्रहर।

\+ × × ×

घायल शेर अधिक भयानक हो जाता है।

उसी प्रकार कभी-कभी निराश व्यक्ति के आवेग अति भीषण रूप धारण कर लेते हैं।

केशव, त्रिलोचन और मल्हार भट्ट की त्रिकुटी जब मंत्रणाकक्ष से बाहर आई तब उसकी मनःस्थिति किसी घायल शेर या कुचले हुए सर्प जैसी ही थी।

आते-जाते चरों और सेवक-सेविकाओं से अलग, एकान्त में पहुँचकर वे तीनों एक स्थान पर यंत्रवत् स्वतः ही खड़े हो गए और एक दूसरे की ओर मौन होकर देखने लगे। कोई कुछ बोला नहीं। तीनों एक-दूसरे के कुछ कहने की प्रतीक्षा करते रहे।

अन्त में मल्हारभट्ट ही सबसे पहले उफना—

"सेनापतिजी, अब मुझसे तो सहन नहीं होगा। अब तो इस पार या उस पार। यदि कुमारपाल मुझे कहीं दिखाई दे गया तो फिर वह नहीं या मैं नहीं।"

त्रिलोचनपाल ने कहा—"सेनापति जी, उदयन मंत्रीश्वर की चालें समझ में नहीं आतीं। कहीं ऐसा न हो कि हम देखते ही रह जाएँ और

कुमारपाल का राजतिलक हो जाय। हमारे त्यागभट्ट जी युवराज होते हुए दूध की मक्खी बन जाएँ।"

केशव सेनापति सूनी-सी दृष्टि से उन दोनों को देख रहे थे। उन्होंने सुना अवश्य, किन्तु कुछ कहा नहीं। सिद्धराज महाराज के उस अनन्य भक्त का हृदय उस समय बहुत आन्दोलित था। वह एक ऐसा व्यक्ति था जो अपने शरीर के रक्त की एक-एक बूंद धीरे-धीरे निकालकर निचोड़कर दे सकता था—दिवंगत महाराज जयसिंहदेव को मनोकामना की पूर्ति के लिए। त्रिलोचन और मल्हार भट्ट भी ऐसे ही थे। बर्बरक की तो बात ही क्या? वह तो जैसे छाया था जयसिंहदेव की। किन्तु केशव सेनापति का गाम्भीर्य विशिष्ट था। वे बोलते कम थे।

त्रिलोचनपाल और मल्हारभट्ट की बातें सुनकर कुछ देर विचारों में खोए रहकर आखिर उन्होंने कहा—

"त्रिलोचनपालजी, मल्हार भट्टजी अब केवल भावनाओं में बहने अथवा आवेश में आने से काम नहीं चलेगा। लगता है, कृष्णदेवजी को मंत्रीश्वर ने अपने पक्ष में कर लिया है। यदि मेरा यह अनुमान ठीक है तो फिर हमारी आशाएँ लगभग समाप्त हो जाती हैं। अब तो मुझे केवल एक ही उपाय दिखाई देता है....।"

"कौन सा उपाय?" —दुर्गपाल और मल्हार भट्ट दोनों एक साथ ही बोल पड़े।

"केवल एक ही उपाय। और वह यह कि कुमारपाल को किसी भी कीमत पर पाटन में प्रविष्ट न होने दिया जाय। वह राजसभा में प्रकट ही न हो सके। यदि वह राजसभा में आ गया तो फिर जानते हो कुमारपाल को? वह इस समय भारतवर्ष का सर्वश्रेष्ठ महारथी है। एक सिपाही के नाते में उसका इतना आदर तो करूँगा ही। उसके धड़ पर सिर हो, उसके हाथ बंधे हुए न हों, और उसके हाथों में तलवार हो तो फिर उसके सामने एक नहीं, जितने भी आएं उनकी कोई कीमत नहीं। त्रिलोचनपाल जी! यह ठीक है कि महाराज सिद्धराज उससे रुष्ट रहे और वह बरसों तक जंगल-जंगल भटकता रहा है, किन्तु त्रिलोचनपालजी, वह त्रिभुवनपाल सोलंकी का बेटा है, और त्रिभुवनपाल सोलंकी कौन थे, कैसे थे, यह तो हम क्या सारा भारतवर्ष जानता है। न त्रिभुवनपाल सोलंकी होते न सिद्धराज जयसिंह 'सिद्धराज' हो पाते। गुजरात का राज जो टिका रहा

वह त्रिभुवन सोलंकी के कारण ही उन्हीं के बलबूते पर। और यह कुमारपाल उन्हीं का बेटा है। उनका सच्चा बेटा। होने को महीपाल और कीर्तिपाल भी है। किन्तु वे तो कुछ नहीं हैं। लेकिन यह कुमारपाल है....।"

त्रिलोचनपाल और मल्हार भट्ट केशव सेनापति के इस कथन को सुनकर भौंचक्के से मुंह बाए उन्हें देखते रह गए। शायद वे सोच रहे थे कि सेनापतिजी कहीं अस्वस्थ तो नहीं हो गए हैं? उनकी कुछ खोई-खोई सी भाव भंगिमा देखकर वे दोनों बहुत पशोपेश में पड़े हुए दिखाई दिए। अन्ततः त्रिलोचन पाल ने कहा—

"सेनापतिजी! आप स्वस्थ तो हैं? ऐसी निराशा की बात? और आपके मुख से?"

मल्हार भट्ट भी बोला—"सेनापतिजी, आपने कहा न कि कुमारपाल को पाटन में घुसने ही नहीं दिया जाय। उसे राजसभा के सामने प्रगट ही न होने दिया जाय। तो बस फिर चिन्ता क्या है? मैं हूँ, दुर्गपाल जी हैं। एक चिड़िया भी पाटन में प्रवेश नहीं कर सकती इनकी आज्ञा के बिना।"

"किन्तु बिना आज्ञा तो कर सकती है न मल्हार भट्टजी?"

"बिना आज्ञा? यह कैसे हो सकता है?"

"भूल गए? स्तम्भतीर्थ में कुमारपाल हेमचन्द्राचार्यजी का प्रवचन सुनता आपके सामने बैठा था और आप अपनी मूंछों पर बल देते ऐंठते रह गए थे। वह हवा हो गया था। और भूल गए आप कि हमारे सैनिकों ने उसे एक बार चारों ओर से घेर लिया था। सैनिकों के पास अश्व थे। कुमारपाल पैदल था, अकेला था। और वह उन सभी की आँखों में धूल झोंककर अदृश्य हो गया था? और क्या आप यह भी भूल गए कि बाहर कहीं नहीं, आपकी और हम सबकी नाक के नीचे यहाँ पाटन में ही आकर, आराम से भोजन करके, हम सबको धता बताकर पुनः गायब हो गया था?

"मल्हार भट्टजी! त्रिलोचनपालजी! हमने जो काम हाथ में लिया है वह कोई बच्चों का खेल नहीं है। सामने कुमारपाल है। कहते हैं, उसके पैर में पद्म है। सामने भारतवर्ष का सबसे सीधा दिखाई देने वाला किंतु सबसे भयंकर आदमी उदयन मेहता है। और इन्हें आशीर्वाद प्राप्त है आचार्य हेमचन्द्र का....।

"ओह, मुझे कुछ सूझता नहीं कि क्या कहूँ, क्या करूँ? एक बार

यह भी मान लिया जाय कि हम कुमारपाल और मंत्रीश्वर से किसी प्रकार निवट भी लेते। किन्तु आचार्यश्री का आशीर्वाद""उनका भविष्य कथन""""

मानो मूर्च्छा-सी आ रही हो इस प्रकार सेनापति केशव ने त्रिलोचनपाल के कन्धे का सहारा लिया और कुछ समय के लिए चुप हो गए।

त्रिलोचनपाल और मल्हार भट्ट अब तो बिलकुल मूढ़ से हो गए। यह एकाएक सेनापतिजी को क्या हो गया ? कुछ समझ में नहीं आ सका उनको। वे असमंजस में पड़े चुप रहे और फिर उन्होंने सुना—केशव सेनापति फिर कह रहे थे—

"आचार्य हेमचन्द्र अलौकिक महापुरुष हैं। मुझे उनसे बहुत डर लगता है। उनके विशाल नेत्र जितने स्वच्छ और पारदर्शी हैं उतनी ही उनकी दृष्टि भेदक भी है, ऐसा मुझे लगता है। किसी के मन में क्या है, यह जानने में जैसे उन्हें कोई प्रयास नहीं करना पड़ता। ऐसा लगता है त्रिलोचनपाल ! कि जैसे वे सचमुच तीनों कालों की समस्त बातों को जानते हों या चाहने पर जान लेते हों। उनके सम्पर्क में एक बार जो भी व्यक्ति आ जाता है वह जैसे उनका ही हो जाता है। तुम कभी उनसे मिले हो ?"

"नहीं सेनापतिजो, मिला तो कभी नहीं। हाँ, प्रायः राजसभा में और राह में आते-जाते दूर-दूर से कभी-कभी देखता रहा हूँ। किन्तु सेनापतिजी यह समय क्या इन बातों का है। एक-एक पल जो बीत रहा है—वह हमारे लिए भारी पड़ सकता है"""।"

"हाँ ! मुझे क्या हो जाता है कभी-कभी, कुछ समझ में नहीं आता। आचार्यश्री का कथन है कि कुमारपाल गुजरात का राजा होगा। क्या हम लोग इस भविष्य कथन को मिथ्या सिद्ध कर पाएंगे ? मुझे शंका क्यों होने लगी है त्रिलोचनपालजी ?"

"आप व्यर्थ की शंका में पड़ गए हैं सेनापतिजी ! यह कोरी भावुकता है। आप सेनापति हैं। हजारों वीर योद्धा आपके एक संकेत की प्रतीक्षा में हैं। त्यागभट्टजो का भविष्य दांव पर है। ऐसी हालत में आप अचानक न जाने क्या-क्या सोचने लगे हैं ? अब सोचने का समय नहीं रहा सेनापतिजी, तेजी से अपनी रणनीति निश्चित करके कार्यसिद्धि के लिए जुट जाने की वेला है यह।"

"त्रिलोचनपाल, तुम कहते तो ठीक हो। जो कुछ भी हो, अब पीछे

हटने का तो समय रहा नहीं। तो ठीक है, इसी क्षण से तुम पाटन के सभी द्वारों और खिड़कियों पर कड़ा पहरा बिठा दो। मुख्य द्वार पर तुम स्वयं ही दृष्टि रखो। कोई भी आदमी जिसके कुमारपाल होने की तनिक भी आशंका हो उसे चुपचाप पाताल में पहुंचा दो या आकाश में अदृश्य कर दो। मल्हार भट्ट जी, आप त्रिलोचनपाल जी के साथ रहें। एक से दो भले।"

"आप चिन्ता न करें सेनापति जी, मैं और दुर्गपाल जी यह देख लेंगे कि कुमारपाल की छाया भी पाटन में प्रवेश न कर पाए।"—मल्हार भट्ट ने कहा।

"हमारी जीत या हार कुमारपाल के राजसभा में आने या न आने पर ही निर्भर करती है, यह बात आप दोनों भली प्रकार समझ रखें। एक बार यदि वह प्रगट हो गया तो फिर बाजी हाथ से निकल जायगी त्रिलोचनपाल जी! आपने सैन्य की बात कही है, किन्तु इस बात में कुछ सार नहीं है। आपने अभी तक उदयन मंत्रीश्वर की ताकत को ठीक से समझा है, ऐसा लगता है। वे जादूगर हैं। हजारों तलवारों को वे अपनी शान्त, समझ में न आने वाली किसी कुटिल युक्ति से म्यानों में ही धरी रहने दे सकते हैं।"—सेनापति केशव ने अपने दोनों साथियों को सावधान करते हुए कहा।

"आप फिर चिन्ता करने लगे सेनापतिजी। चिन्ता छोड़िये। कुमारपाल पाटन में आ ही नहीं पाएगा। अच्छा, अब हम चलते हैं।"

"ठीक है। सावधान रहिए।"—केशव सेनापति के यह कहने पर त्रिलोचनपाल और मल्हार भट्ट शाघ्रता से विदा हो गये।

सेनापति केशव भी अपने आवास की ओर चले। किन्तु उनके कदमों में वह दृढ़ता नहीं दिखाई दे रही थी जिसके लिए वे विख्यात थे।

\+ × ×

तरंगी तुरंगाध्यक्ष कृष्णदेव को आगा-पीछा ठीक से समझा देने तथा गुजरात के राज्य के उत्तराधिकारी का चयन करने हेतु राजसभा बुलाने का निर्णय करा लेने एवं उसके लिए दिन निश्चित हो जाने के बाद मंत्रीश्वर उदयन का ध्यान विशेषरूप से कुमारपाल का चुपचाप, ठीक समय पर पाटन में ले आने पर केन्द्रित हो गया।

दुर्गपाल और मल्हार भट्ट चाहे जितने सावधान रहें, किन्तु उन्हें काक भटराज के चातुर्य और शक्ति का सही अनुमान नहीं था। बर्बरक बहुत शक्तिशाली और फुर्तीला आदमी था। क्रूर, जंगली और लगभग जानवरों जैसी चेष्टाओं वाला। वह देखते-देखते सैकड़ों व्यक्तियों की भीड़ में से किसी एक व्यक्ति को ऐसे गायब कर सकता था जैसे कहीं कुछ हुआ ही न हो। और उसकी इस शक्ति का भरोसा भी त्रिलोचनपाल और उसके साथियों को बहुत अधिक था। किन्तु काक भटराज बर्बरक से सवाया ही था। उसने एक से अधिक अवसरों पर बर्बरक को धूल चटाई थी। सिद्धराज जयसिंहदेव को जो 'बर्बरक जिष्णु' विरुद प्राप्त हुआ था वह काक भटराज के कारण ही। बर्बरक को जीतने वाला वास्तविक व्यक्ति जयसिंह देव नहीं, काक ही था।

बर्बरक इस बात को जानता था। वह काक भटराज को देखकर मन ही मन काँप उठता था।

माघ सुदी तृतीया का सूर्योदय हो चुका था। दूसरे दिन राजसभा जुड़ने वाली थी। सारे गुजरात से मंडलेश्वरों, सामन्तों, दण्डनायकों, जागीरदारों तथा अन्य राजपुरुषों एवं दर्शक नागरिकजन का आगमन पाटन में हो रहा था। चहल-पहल तो थी ही, एक अजीब उत्तेजना का वातावरण भी बना हुआ था। घर-घर में, गलियों और सड़कों पर, चौराहों पर इक्के-दुक्के लोग और इकट्ठे होकर भी चर्चाएं कर रहे थे—क्या होगा ?

सारे पाटन में एक गाथा एक मुख से दूसरे मुख और एक कान से दूसरे कान में गूंज रही थी—

पुण्णे वाससहस्से सयंमि वरिसाण नवनवइ अहिए।
होही कुम्मर नरिंदो तुह विक्कमराय सारिच्छो॥

इस गाथा का प्रचार कब, किसने किया यह जन-साधारण को कुछ पता नहीं था। किन्तु इसका प्रभाव कुमारपाल के पक्ष में बहुत अधिक था। लोगों को विश्वास हो चला था कि ऐसा ही होगा। यह कोई देववाणी ही है। आचार्य हेमचन्द्र की भी यही भविष्यवाणी है। तब ऐसा कैसे नहीं होगा ? अवश्य कुमारपाल राजा बनेगा और वह विक्रमादित्य की भांति होगा। इस विश्वास में पट्टनी लोग आनंदित हो रहे थे।

भीड़-भाड़ में एक साधु त्रिपुण्ड रचाए, रुद्राक्षों की माला पहने, 'भोलेनाथ' का भजन करते इधर से उधर घूम रहा था। प्रगट रूप से भिक्षा-

प्राप्ति के अतिरिक्त उसका कोई अन्य लक्ष्य भी हो ऐसा प्रतीत नहीं होता था। किन्तु पाटन में हो रही हलचल, गतिविधि और क्रिया कलाप पर उस की पैनी दृष्टि गड़ी हुई थी। वह सब कुछ देख रहा था। सब कुछ सुन रहा था।

वह काक भटराज का पुत्र वौसिरि था, जो वर्षों से कुमारपाल की छाया बनकर उसके साथ सारे भारतवर्ष में भटकता फिरा था। आज माघ सुदी तृतीया थी। कल राजसभा जुड़ने वाली थी। आज का दिन और आज की रात कुमारपाल के लिए निर्णायक थी। सजग और सतर्क कुमारपाल को पाटन की वास्तविक स्थिति को जान लेना था।

वौसिरि इसीलिए तापस-वेश में पाटन की गलियों बाजारों में घूम रहा था। उसे मंत्रीश्वर उदयन से भी भेंट करनी थी। किन्तु वह भेंट इस प्रकार करनी थी कि सावधान दुर्गपाल को इसकी कानोंकान खबर न हो।

वौसिरि, वह तापस, घूमते-घूमते धीरे-धीरे जैनवास की ओर बढ़ रहा था। जब वह उस वास में पहुँचा तो उसने पाया कि एक गाथा लोगों की जबान पर चढ़ी हुई है—पुन्ने वास सहस्से""।

वह सुनता रहा और सतर्क दृष्टि से चारों ओर की गतिविधि को जाँचता रहा। एक स्थान पर, खुली जगह में, एक विशालकाय नीम के वृक्ष के नीचे लम्बे-चौड़े चबूतरे पर बहुत से लोग बैठे बतिया रहे थे। उनमें अधिकांश या शायद सभी जैन धर्मावलम्बी प्रतीत होते थे। चर्चा का विषय वह गाथा ही थी। वौसिरि चबूतरे के पास तक गया और बोला—

"पाटन के सज्जन श्रावक गण! आप लोगों की वार्ता में विक्षेप डालना नहीं चाहता। बाधा आई हो तो साधु को क्षमा करें। किन्तु आश्चर्य का विषय है कि अवन्ती से पाटन एकाएक इतना समीप कैसे हो गया? कहाँ मालवा और कहाँ गुजरात! आश्चर्य है!"

लोगों ने तापस को देखा, उसके कथन को सुना, कुछ समझ नहीं सके कि उसके कहने का अभिप्राय क्या है तो एक व्यक्ति ने कहा—

"महाराज! आपका मतलब हम कुछ समझ नहीं पाए। अवन्ती और पाटन एकाएक इतने समीप आ गये यह कहने से आपका अभिप्राय क्या है?"

"भद्रजनो! विशेष तो कुछ नहीं। बस मुझे आश्चर्य हुआ था कि यह जो एक गाथा मैं आज पाटन में प्रायः सभी स्थानों पर लोगों को एक-

दूसरे से कहते सुन रहा हूँ और जिसके विषय में आप लोग भी अभी चर्चा कर रहे थे वह अवन्ती से पाटन एकाएक कैसे पहुँच गई। खैर, मैं आप लोगों की वार्त्ता में व्यवधान नहीं डालूंगा। चलता हूँ। विधि की लीला! उसके विधान को कौन जान पाता है? न कोई जान पाता है? न कोई टाल ही पाता है। अच्छा श्रेष्ठिवरो....।"

कहकर तापस आगे बढ़ने लगा। किन्तु लोगों की जिज्ञासा जाग उठी थी। किसी ने कहा—

"ठहरिये, ठहरिये, महाराज! विराजिए तो सही।"

"महाराज! यह गाथा....क्या आपने इसे अवन्ती में भी सुना है?" किसी दूसरे आदमी ने पूछा।

तीसरा बोल पड़ा—"आप अवन्ती से आ रहे हैं क्या महाराज?"

"अरे बन्धुओ! श्रावक श्रेष्ठो! साधु कहाँ से आता है कहां चला जाता है यह क्या कोई कहने की बात है? वह तो चलता ही रहता है। चरैवेति....चरैवेति....।"

इतना बोलकर तापस महाराज फिर प्रस्थान के लिए उद्यत दीखे तो एक आदमी ने चबूतरे से नीचे उतरकर उनका हाथ ही थाम लिया और उन्हें चबूतरे पर बैठाते हुए कहा—

"महाराज! जिनदेव की कृपा से इस वास में भिक्षा की कोई कमी नहीं है। सुखपूर्वक भोजन पाकर ही पधारिये। किन्तु यह तो बताइये कि क्या आप अवन्ती की ओर से आ रहे हैं?"

"हाँ भाई, भारत भ्रमण करते एक नगरी अवन्ती भी मार्ग में आई थी।"

"और आपने वहाँ यह गाथा सुनी थी?"

"सुनी थी या पढ़ी थी....ठीक याद नहीं आ रहा है। शायद दोनों ही बातें हुई हों। उस समय कुछ विशेष ध्यान दिया नहीं था।"

"महाराज! स्वस्थता से विराजिए। तनिक स्मरण करके बताइये तो सही कि यह गाथा आपने इतनी दूर अवन्ती में कैसे सुनी या पढ़ी थी? यह तो बहुत महत्वपूर्ण विषय है।"

"अच्छा? देखता तो हूँ कि यहाँ पाटन में सभी जगह इसकी चर्चा हो रही है। हुआ ऐसा था बन्धुओ, कि भ्रमण करते हुए हम एक बार

अवन्ती पहुँचे थे। क्या नगरी है वह भी ! आपके पाटन जैसी ही। वहां मन में मौज आई कि महाकालेश्वर के दर्शन कर लिए जायँ। आपके यहाँ सरस्वती नदी है, वहाँ क्षिप्रा है। दोनों एक से बढ़कर एक रम्य। सो क्षिप्रा तट पर महाकालेश्वर के मन्दिर में जब अपने राम पहुँचे तो उसकी भव्यता को देखकर हृदय शीतल हो गया। कला के विषय में भी क्या कहा जाय ? एक से बढ़कर एक सुन्दर और कलात्मक चित्र उस मन्दिर की भित्तियों पर अंकित थे। वहाँ हमें उस मन्दिर के मूलनायक श्री अवंती पार्श्वनाथ के जिनबिम्ब के दर्शन भी हुए। अहा ! कैसी भव्यता ! कितनी सौम्यता ! उस जिनबिम्ब को निहारते हमारा जी ही नहीं भर रहा था मानो····।

"उसी स्थान पर हमारी दृष्टि एक दीवाल पर एक स्थान पर अंकित एक बहुत पुराने लेख पर पड़ गई। हमने उसे पढ़ा—

पुण्णे वाससहस्से, सयाणवरिसाणनवनवइ कलिए।
होइ कुमार नरिंदो, तुह विक्कमराय सारिच्छो ॥

"बन्धुओ, देश का और काल का प्रभाव तो पड़ता ही है। संभव है किसी एकाध शब्द का हेरफेर इस गाथा के अवन्ती से यहाँ तक आते-आते हो गया हो। किन्तु बात तो वही है।

"तो इस गाथा को वहाँ पढ़कर हमारे मन में ऐसा लगा कि जैसे यह कोई विचित्र विधि लेख हो। सो हमने उस मन्दिर के वृद्ध पुजारी के पास जाकर उससे इस लेख के विषय में पूछा। उसने बताया—

"यह लेख विक्रम राजा के समय का है।"

"हमें जिज्ञासा हुई। हमने इसके विषय में इस वृद्ध पुजारी से कुछ और पूछा तो जो बातें हमारी आपस में हुईं उनका सारांश उस प्रकार है—

"तो पुजारीजी, यह मन्दिर राजा विक्रम ने बनवाया होगा ?"

"नहीं मन्दिर तो उससे भी प्राचीन काल का है। विक्रमराय के समय में तो प्रभु पार्श्वनाथ की यह प्रतिमा शंकर के लिंगरूप ढँके हुए खोल में से प्रगट हुई थी।"

"पुजारीजी, एक जैन मूर्ति शंकर के लिंगरूप खोल में से प्रगट हो, यह बात कुछ कम विश्वसनीय लगती है।

"अरे महाराज, यह बात बहुत पुरानी है। बहुत लम्बी है। सुनिए— विक्रमराज के पुरोहित का पुत्र सिद्धसेन प्रकाण्ड विद्वान् था। उसने प्रतिज्ञा

कर रखी थी कि जो उसे पराजित करेगा उसका वह शिष्य बन जायेगा। और महाराज मजे की बात तो यह है कि उसने अपने पेट पर एक पट्टी बाँध रखी थी। वह सोचता था और कहता था कि उसने इतनी विद्या प्राप्त की है कि यदि वह अपने पेट पर पट्टी बाँधकर नहीं रखेगा तो उसकी अगाध विद्या उसका पेट चीरकर बाहर निकल जायगी। अवश्य ही यह उसका अभिमान ही था। विद्या तो विनय सिखाती है, अभिमान करना नहीं। खैर, तो वह सिद्धसेन ऐसा सोचता था।

"इतना भी होता तो कोई बात थी। किन्तु महाराज, उस सिद्धसेन का गर्व देखिए कि वह अपने साथ हमेशा एक नसैनी, एक जाल, एक कुदाली और एक तृण अपने पास रखता था।

"यह सुनकर मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ भद्रजन! मैंने पुजारीजी से पूछा—

"यह चारों वस्तुएँ सिद्धसेन अपने पास क्यों रखता था तो उन्होंने बताया—

"नसैनी वह अपने पास इसलिए रखता था कि यदि कोई विद्वान् उससे डरकर आकाश में चढ़ जाय तो वह उसे वहाँ से नसैनी से उतार ले। जाल वह अपने साथ इसलिए रखता था कि यदि वह समुद्र में घुस जाय तो वह उसे जाल डालकर निकाल ले। कुदाली वह इसलिए रखता था कि यदि भगोड़ा विद्वान् पाताल में पैठ जाय तो वह उसे कुदाली से खोदकर बाहर निकाल ले और अन्तिम तृण या घास वह इसलिए रखता था कि यदि वह पराजित हो जाय तो उसके मुख में तृण देकर वह पराजय स्वीकार कराए, दया की भीख मंगवाए।

"अद्भुत! इतना गर्व था सिद्धसेन को?"

"हां। किन्तु महाराज, घमण्डी का सिर हमेशा नीचा ही होता है। कभी न कभी। अन्ततः आर्य सुहस्ति के शिष्यों में से एक आचार्य वृद्धवादि-सूरि ने उसे शास्त्रार्थ में पराजित किया और वह आचार्य का शिष्य बन गया। क्रमानुसार वह सिद्धसेन दिवाकर सूरि बन गया और किसी समय यहाँ उज्जयिनी में आया।

"एक दिन सिद्धसेनसूरि इस महाकालेश्वर के मन्दिर में आकर लेटे हुए थे। उनके पैर शिवलिंग का स्पर्श कर रहे थे। मन्दिर के पुजारियों ने जब यह देखा तो क्रोध के मारे आग-बबूला हो गए। स्वाभाविक बात है

किसी भी स्थिति में, किसी की व्यक्ति की धार्मिक भावनाओं को ठेस नहीं पहुंचानी चाहिए। तो मन्दिर के पुजारियों ने सिद्धसेनसूरि को बहुत डाँटा-फटकारा और तुरन्त उठकर खड़े हो जाने के लिए कहा।

'किन्तु सूरिजी उठे नहीं। तब पुजारियों के माथे का पारा और भी चढ़ गया। उन्होंने आव देखा न ताव, वे सूरिजी पर प्रहार करने लगे। और क्या करते? आप किसी भी धर्म को मानें, यह आपकी व्यक्तिगत बात है। किन्तु अन्य धर्मों की अवमानना करने का अधिकार तो आपको नहीं मिल सकता। वह उचित भी नहीं है।

'किन्तु अब एक विचित्र बात हुई। मार तो सूरिजी पर इस मन्दिर में पड़ रही थी किन्तु उसका प्रभाव रनिवास में राजा की रानियों पर हो रहा था। रानियाँ मार खा-खाकर चीखने-चिल्लाने लगीं। सब लोग विस्मित, चमत्कृत हो गए। अन्ततः राजा विक्रमादित्य भागा-भागा अपने महल से यहाँ आया और सूरिजी से कहने लगा—'महाराज! शिव की तो स्तुति की जानी चाहिए। इसके विपरीत आप यह क्या कर रहे हैं?'

'तब सूरिजी ने राजा से कहा—'राजन्! ये शंकरजी मेरी स्तुति को सहन नहीं कर सकेंगे। यह शिवलिंग फट जायगा।'

'किन्तु राजा विक्रमादित्य नहीं माना। और सिद्धसेन दिवाकरसूरि ने खड़े होकर कल्याण मन्दिर स्तोत्र की रचना एवं पाठ प्रारम्भ किया। दस श्लोकों की रचना के पश्चात् जब ग्यारहवां श्लोक चल रहा था तब उस शिवलिंग में से धुआँ उठने लगा। राजा तथा वहाँ उपस्थित सभी व्यक्तियों ने सोचा कि शंकर सूरिजी से कुपित हुए हैं। अभी वे अपना तीसरा नेत्र खोलकर इन्हें भस्म कर देंगे।

'किन्तु महाराज, हुआ यह कि धुएँ के बाद ज्वाला प्रगट हुई और फिर एक विस्फोट हुआ। वह शिवलिंग फट गया और उसमें से धरणेन्द्र-पद्मावती सहित फणयुक्त भगवान् पार्श्वनाथ की एक मनोज्ञ और अद्भुत प्रतिमा प्रगट हुई। यह चमत्कार देखकर वहाँ उपस्थित सभी लोग विस्मित ठगे-से रह गए।

'महाराज, सच और झूठ की बात तो शम्भु ही जानें, किन्तु कहते हैं कि जैनधर्म के इस प्रभाव को देखकर राजा विक्रमादित्य जैन धर्मानुयायी हो गए। जो भी हो, सूरिजी ने फिर उस कल्याणमंदिर स्तोत्र के चवालीस

(४४) श्लोक सम्पूण किए। राजा विक्रमादित्य सहित सभी लोगों ने भगवान् पार्श्वनाथ की वन्दना की तथा उनके पूजन हेतु सारी व्यवस्थाएँ राज्य की ओर से कर दी गईं।

"श्रावको ! इतनी चमत्कारिक बात सुनकर मुझे भी विस्मय हुआ। हर्ष तो हुआ ही। मैंने पुजारी जी से पूछ लिया—पुजारी जी, क्या सूरिजी ने किसी चतुराई से भगवान् पार्श्वनाथ की वह प्रतिमा वहाँ पहले से ही स्थापित कर दी थी ?"

'इसके उत्तर में पुजारी जी ने बताया—'नहीं महाराज, जैन साधु बड़े पवित्रात्मा होते हैं। मैं शैव हूँ, यह सत्य है। यह तो अपने-अपने मन माने की बात है। किन्तु असत्य भाषण नहीं करूँगा। मेरे मन में जैन साधुओं के प्रति बहुत आदरभाव है। वे सूरिजी ऐसा कर्म कैसे कर सकते थे ?

'तुम्हारी ही भाँति एक बार तो राजा विक्रमादित्य को भी ऐसी शंका हुई थी। उन्होंने भी यही प्रश्न किया था। किन्तु वास्तविकता यह है कि सूरिजी ने बताया कि किसी समय, पूर्वकाल में इसी नगरी में अत्यन्त धनाढ्य भद्रा नामक एक सेठानी रहा करती थी। उसके अवंती सुकुमाल नामक एक पुत्र था, जिसकी बत्तीस पत्नियाँ थीं। धन वैभव अथाह था।

'एक बार जैन आचार्य सुहस्ति अपने शिष्य मंडल सहित अवन्ती पधारे। वे भद्रा सेठानी के विशाल भवन में ही किसी एकान्त, शान्त भाग में ठहरे थे। उनका एक शिष्य उस समय नलिनीगुल्म विमान का अध्ययन कर रहा था। संयोग ऐसा बना कि सुकुमाल श्रेष्ठि ने उस शिष्य द्वारा किया जाता हुआ नलिनीगुल्म विमान का पाठ सुन लिया। उसे सुनकर उसे कुछ ऐसा आभास हुआ कि जैसे उसने उस नलिनीगुल्म विमान को कभी, कहीं देखा हो। तो वह उसी के विषय में चिन्तन करने लगा जिसके परिणामस्वरूप उसे जातिस्मरण ज्ञान हो गया। इस ज्ञान द्वारा उसने जान लिया कि वह नलिनीगुल्म विमान के सुख भोगकर अब इस भद्रा सेठानी की कोख से पुत्र रूप में उत्पन्न हुआ है।

'महाराज, इस ज्ञान ने सुकुमाल श्रेष्ठि का कल्याण कर दिया। जगत की और जीवन की असारता का विचार करते हुए उसे वैराग्य उत्पन्न हो गया। अतः उसने अपनी माता की आज्ञा लेकर दीक्षा ग्रहण कर ली।

'मुनि जीवन के दौरान एक बार वह श्मशान भूमि में कायोत्सर्ग करके स्थित हो गया। तब पूर्वभव की उसकी रुष्ट पत्नी जिसने कि एक शृगालिनी बनकर जन्म लिया था, वहाँ आई और उसने सुकुमाल मुनि को बहुत उपसर्ग उपस्थित किए। उनकी देह काट-काटकर उस शृगालिनी ने फाड़ दी।

'किन्तु जैन मुनिजन उपसर्गों की चिन्ता कभी नहीं करते। महाराज! हम और आप तो तनिक से कष्ट से भी घबरा जाते हैं। उस कष्ट को शीघ्र से शीघ्र दूर करने के उपायों में जुट जाते हैं। किन्तु जैन मुनिजन कष्टों को कष्ट समझते ही नहीं। भयानक से भयानक उपसर्गों को वे शान्त भाव से सहन कर लेते हैं। उनके मन में कोई विकार उत्पन्न नहीं होता। उन्हें किसी पर क्रोध नहीं आता। उपसर्ग उपस्थित करने वाले प्राणी पर भी वे करुणाभाव ही रखते हैं। मैं तो कहता हूँ महाराज, कि यदि मैं इस महाकालेश्वर का पुजारी न बन गया होता तो जैन मुनि ही बनना पसन्द करता। वैसे प्रभु का आराधन तो आराधन ही है। किसी भी नाम से किसी भी रूप में।'

वृद्ध पुजारीजी जैन धर्म का गुणगान सच्चे हृदय से करने में मग्न हो गये थे। मुझे कुछ शीघ्रता थी। अतः बन्धुओ, मैंने पूछा—"किन्तु फिर क्या हुआ पुजारीजी? सुकुमाल मुनि के शरीर को उस दुष्टा शृगालिनी ने काट-काटकर क्षत-विक्षत कर दिया। फिर क्या हुआ?

पुजारीजी ने वह कथा आगे सुनाई—'रात्रि के तीन प्रहर तक उस भीषण उपसर्ग को शान्त क्षमाभाव से सहन करके अन्ततः सुकुमाल मुनि ने प्राण त्याग कर दिए और वे पुनः नलिनीगुल्म विमान में देवजन्म प्राप्त करके दिव्य सुखों का भोग करने लगे।

'उधर प्रातःकाल होने पर सुकुमाल मुनि की सांसारिक माता भद्रा सेठानी अपनी बत्तीस बहुओं सहित मुनिवर की वन्दना करने आई। किन्तु जब उसने जो कुछ घटित हुआ था वह जाना तो वह शोक में डूब गई। आर्य सुहस्ति ने वहाँ आकर उसे ज्ञानोपदेश देकर सांत्वना प्रदान की।

'महाराज, तब क्या हुआ कि सुकुमाल श्रेष्ठि के महाकाल नामक पुत्र ने उसी स्थान पर महाकालेश्वर नामक भव्य आलय की रचना करा-कर उसमें भगवान् पार्श्वनाथ की प्रतिमा विराजमान कराई तथा उसका नाम अवंती पार्श्वनाथ रखा। उसी कारण, उसी काल से, इस नगरी का नाम अवन्ती पड़ गया।'

"यह कथा सुनकर मुझे बड़ा आनन्द आया। किसी भी बात के मूल तक जाने में बहुत आनन्द आता है पाटन के श्रावक श्रेष्ठियो! उस मूल में से सत्य का उद्घाटन होता है। होता है कि नहीं?"

इस प्रश्न के उत्तर में वहाँ एकत्रित श्रावक-समुदाय में से लगभग सभी के सिर स्वीकृति में कुछ हिले और एक श्रावक ने कहा—

"महाराज! आप सत्य कहते हैं। आज आपने जो रहस्य उद्घाटित किया है उसे जानकर हमें बड़ी प्रसन्नता हुई है। तब तो हम जो सुन रहे हैं वह सत्य ही होगा—पुण्णे वाससहस्से....।"

"जो सत्य है वह तो सदा सत्य ही है, भद्रजनो। सत्य तो सूर्य है। कितने ही बादल आकर सूर्य को ढकने का प्रयत्न करें, किन्तु क्या कभी सूर्य को सदा के लिए ढका जा सकता है?"

"नहीं महाराज, सूर्य तो प्रकाशित होगा ही।"—एक श्रावक ने कहा।

"तो सत्य भी प्रगट होकर ही रहेगा। ऐसा ही होता आया है और ऐसा ही होगा। लेकिन फिर हुआ यह कि बादल घिर-घिरकर आए। काल चक्र चलता रहा। ब्राह्मणों का राज हुआ और उन्होंने अवन्ती में अवन्ती पार्श्वनाथ की उस मनोज्ञ मूर्ति को कहीं भूगर्भ में डालकर उस स्थान पर शिवलिंग की स्थापना कर दी। किन्तु सूरिजी ने जब कल्याणमन्दिर स्तोत्र का पाठ वहाँ किया तब शिवलिंग फट गया और वह प्रतिमा वहाँ प्रगट हो गई।

"महाकालेश्वर मंदिर के वृद्ध पुजारीजी ने यह पूर्व कथा मुझे सुनाई और मुझे ऐसा लगा कि जैसे वे कुछ देर के लिए कहीं खो से गए हों। मैं भी चिन्तन में तो रमने लगा था। उनके मौन हो जाने पर मैंने पूछा—पुजारीजी! वास्तव में यह तो एक चमत्कारपूर्ण इतिहास है। सचमुच महापुरुषों की बात ही निराली है। ऐसा लगता है कि जैसे कभी कोई पुरुष चाहे तो वह परम की ओर जा सकता है—स्वयं परमपुरुष बन सकता है....।"

"अवश्य। ऐसा ही होता है, वत्स! अब तक मैंने तुम्हें 'महाराज' कहकर सम्बोधित किया था, क्योंकि तुम साधु वेष में हो। किन्तु अभी तुम युवक भी हो, और मैं तो अब चला कि तब चला। देखते ही हो कि मेरा

शरीर जीर्ण-शीर्ण हो गया है। हाथ-पैर काँपते हैं। खैर, काल बली है, वत्स ! और कुछ पूछना चाहते हो ? मेरी पूजा का समय हो चला।"

उन विशाल हृदय और उन्मुक्त भावना वाले वृद्ध पुजारी जी के प्रति मेरे हृदय में सहज ही एक आदर भाव उत्पन्न हो गया था। वे परम्पराओं से बँधे रहे हों, किन्तु विचारों तथा भावना से वे उन्मुक्त थे। मैंने उनसे विनयपूर्वक पूछा—

"महात्मन् ! यह कथा सुनकर मैं अभिभूत हूँ। किन्तु इस कथा तथा उस अभिलेख—पुण्णे वाससहस्से—में क्या सम्बन्ध है यह तो मैं जान नहीं पाया।"

तब अपनी श्वेत जटाओं पर हाथ फेरते हुए उन्होंने मुझे बताया—

'अरे हाँ, यह भी बता दूं। राजा विक्रम ने जब यह सत्य सूरि जी से जाना तब यह जैन धर्म का अनुयायी हो गया। अनन्तर समस्त पृथ्वी को अऋणी करके उससे अपना संवत्सर चलाया तथा 'परदुःखभंजन' कहलाने लगा।

एक दिन उसने सिद्धसेन दिवाकर सूरि को सर्वज्ञ जानकर प्रश्न किया—प्रभु ! मेरे बाद भी मेरे जैसा राजा कभी होगा क्या ?

"पाटन के नागरिको ! इस प्रश्न के उत्तर में ही सूरिजी ने वह गाथा कही थी—पुण्णे वाससहस्से—जिसके भाव हैं—राजन् ! संवत ११९९ में इस आर्यावर्त्त में तेरे जैसा ही एक धर्मात्मा राजा होगा जिसका नाम होगा—कुमारपाल।

"किन्तु बन्धुओ ! मैं कहां आप लोगों की बात में ही रम गया। चलूंगा।"

यह कहकर तापस देवता चलने को हुए। वे खड़े हुए ही थे कि एक श्रावक ने कहा—

"महाराज ! एक शंका मन में रह गई....।"

"शंका ? कैसी शंका महाशय ?"

"यह, कि जैन मुनि तथा जैन श्रावक तो मूर्ति में विश्वास नहीं करते....।"

"तो इसमें क्या बाधा है ? क्या शंका है ? अपने-अपने विचार की बात है। मन की शुद्धि कहिए अथवा चिन्तन के सोपानों पर उत्तरोत्तर

ऊँचा चढ़ते जाने की दृष्टि से विचार कीजिए। सहारे की आवश्यकता हो तो छड़ी हाथ में ले ली जाती है। किन्तु जिन्हें सहारे की आवश्यकता नहीं, वे अपने हृदय में ही भगवान को पा लेते हैं। उन्हें किसी प्रस्तर प्रतिमा के आधार की आवश्यकता नहीं रहतो। और मानना पड़ेगा कि ऐसा करना, इस मार्ग पर चलना ही श्रेष्ठ है। क्योंकि जो प्रस्तर है वह तो प्रस्तर ही है उसे आप प्रभु मान रहे हैं। यह आपका मानना अन्यथा ही तो है। प्रस्तर तो प्रस्तर ही है न ? और फिर जिस प्रभु का हम सदा आराधन करना चाहते हैं, उन्हें एक पत्थर की मूर्ति का रूप देकर हम इस बात का अवकाश उत्पन्न कर लेते हैं कि जाने-अनजाने हमसे प्रभु की अवमानना न हो जाए, होती रहे। तो पाटन के विवेकी श्रावको, सचाई तो यही है कि हमें प्रभु को अपने हृदय में ही बसाना चाहिए, वहीं उनके दर्शन करने चाहिए।

"खैर, अब यह चर्चा तो विस्तृत हो जायगी। देखता हूँ कि आज पाटन में बहुत गहमा गहमी है। कुछ विशेष बात है क्या ?"

"आपको पता नहीं ? कल राजसभा जुड़ने वाली है। गुजरात के सिंहासन के उत्तराधिकारी का कल निर्णय होना है। कुमारपाल महाराज....।"

एक श्रावक भावावेश में बोल चला था कि दूसरे ने उसका हाथ दबाकर उसे सावधान कर दिया। वह चुप हो गया।

बौसिरि, वे तापस महाराज मुस्कुराए और पलटकर गुनगुनाते चल पड़े—होई कुम्मर नरिंदो....

तापस महाराज के वहाँ से चले जाने के बाद वे श्रावकगण उत्तेजना के साथ आपस में खुसर-पुसर करने लगे—

"जिनदत्तजी, आपने सुना ?"

"सुना नहीं तो क्या कर रहा था ? भाड़ झोंक रहा था ?"

"अरे नहीं, श्रेष्ठिवर, मेरा मतलब था कि ये साधु महाराज क्या कह गए ?"

"जो तुमने सुना। और जो होना चाहिए। और जो होकर रहेगा।"

"सत्य ?"

"विधि का विधान अटल होता है भवदत्तजी !"

"किन्तु....कुमारपा....उनका तो अब तक कहीं कुछ पता ही नहीं।"

"यह मैं नहीं जानता। राजाओं की बातें हैं, राजा जानें। लेकिन मैं तो एक ही बात जानता हूँ कि गुरुदेव आचार्य श्री हेमचन्द्राचार्यजी की वाणी त्रिकाल में भी असत्य नहीं हो सकती। एक बात और सुन लो भवदत्तजी, जबान पर लगाम रखो। अभी यहाँ तो खैर हम सब अपने ही लोग हैं। किन्तु भूलो नहीं कि यह पाटन है और दुर्गपाल के गुप्तचर किसी भी वेश में तुम्हारा गला पकड़ने आ सकते हैं, साधु का वेश धारण करके भी समझे ?"

"समझ गया, समझ गया। कान पकड़ता हूँ। किन्तु जिनदत्तजी, उस साधु को यहाँ बिठाया तो आपने ही था....।"

"तो क्या हुआ ? जो कुछ बोल रहा था, वह बोल रहा था। मैं कुछ बोला क्या ? कहो, मैं पूरी वार्त्ता के दौरान चुप रहा था कि नहीं।"

"रहे थे।"

"बस, भवदत्तजी, चुप रहो। केवल सुनते रहो। देखते रहो। बोलो कुछ मत। यह पाटन है।"

"अच्छा, जय जिनेश्वरदेव ! चलता हूँ जिनदत्तजी।"

"इसी में कल्याण है। मैं भी चलता हूँ। अच्छा बन्धुओ, जय-जिनेन्द्र।"

जिनेन्द्रदेव की जयकार के साथ सभी श्रावकगण शीघ्र ही तितर-बितर हो गए।

काल बहुत विषम जो था !

卐

(बारह)

यह स्थिति थी पाटन की माघ सुदी तृतीया को। कल चतुर्थी थी। कल गुजरात के राज्य का भविष्य-निर्णय होना था। जनसाधारण में कुमार पाल को ही राजा बनना चाहिए ऐसी हवा फैल रही थी। जन-साधारण चाहता था कि सिद्धराज जयसिंह जैसे देवपुरुष के बाद गुजरात की गद्दी पर जो आए वह भी कोई समर्थ महापुरुष हो। कोई ऐसा-वैसा आ गया तो गुजरात के शत्रु उसे देखते-देखते ही चीर-फाड़कर रख देंगे। और गुजरात की गद्दी पर जो आए, उसका इस गद्दी पर अधिकार भी होना चाहिए। राजकुल की परम्परा का निर्वाह भी हो, राजकुल का ही कोई व्यक्ति हो तथा वह गुजरात को सम्हालने, उसका रक्षण करने, उसे आगे बढ़ाने में समर्थ भी हो, ऐसा होना चाहिए।

लोग सोचते थे कि ऐसा तो एक ही आदमी है।

किन्तु उसका नाम अपनी जुबान पर लाने में लोग घबराते भी थे। क्योंकि लोग जानते थे कि राजमाता लीलादेवी, सेनापति केशव, दुर्गपाल त्रिलोचनपाल, शोभन मंत्री, सामन्त मल्हारभट्ट आदि अनेक समर्थ राज-पुरुष कुमारतिलक त्यागभट्ट के पक्ष में हैं। वे लोग जी-तोड़ प्रयत्न कर रहे हैं कि कुमारपाल सिंहासन पर न आ सके।

किन्तु वह गाथा ? और आचार्यश्री की भविष्यवाणी ?

लोगों का मन कहता था कि हो न हो, कहीं न कहीं से कुमारपाल प्रगट होना ही चाहिए। त्रिभुवनपाल सोलंकी के नाम का डंका गुजरात और गुजरात के बाहर भी बजता था। मित्र तो मित्र, शत्रु भी उसकी प्रशंसा करते थे कि यदि भारतवर्ष में वीरों की गणना की जाय तो इने-गिने शूर-शिरोमणियों में त्रिभुवनपाल सोलंकी का नाम अग्रगण्य ही रहेगा।

और त्याग ? देश के लिए, देश के निवासियों के लिए जीवन सम-र्पण की भावना का प्रश्न जहाँ तक था वहां तो त्रिभुवनपाल सोलंकी आर्यावर्त में मूर्धन्य महापुरुष ही था।

अन्यथा यदि उस महावीर ने चाहा होता तो गुजरात का राज्य उसी का था। कर्णदेव की कोई विसात नहीं थी कि त्रिभुवनपाल के सामने एक घड़ी भी ठहर पाता।

किन्तु अपने पिता के समान ही त्रिभुवनपाल ने भी महात्याग किया था। गुजरात के समृद्ध राज्य को उसने जयसिंह को सौंपकर आजीवन उसकी दाहिनी भुजा बनकर राज्य की रक्षा की थी, उसका विस्तार किया था और अपना नाम इतिहास में इस देश के वीर और त्यागी महापुरुषों में अमर कर लिया था।

उसी त्रिभुवनपाल सोलंकी का तीसरा और सबसे छोटा पुत्र था कुमारपाल।

वह अभी जंगल-जंगल भटक रहा था, क्योंकि राजनीति में षड़यंत्रों की परम्परा चला करती है। सिद्धराज जयसिंहदेव के कान जाने किस प्रकार भरे गए थे कि वे आजीवन उससे रुष्ट रहे। अन्तिम समय की तो भगवान ही जानें। अपने अन्तिम समय में कहते हैं कि आदमी पवित्र हो जाता है, पश्चात्ताप करता है....

क्या होता है कैसे पता चले ?

मनुष्य की अन्तिम श्वास में उसका मन क्या था, यह जाना पाना बड़ा कठिन है। समीपस्थ व्यक्ति अपनी दृष्टि अथवा अपने-अपने स्वार्थ से उसके अर्थ लगाया करते हैं और संसार चलता रहता है।

\+ \+ \+

आधी रात।

आखिर पाटन के निवासी थक-हारकर सो गए थे। नगर भर में घूमते प्रहरियों की सावधान करती पुकारों के अतिरिक्त अन्य कोई शब्द कहीं से आता नहीं था। कल क्या होगा इस चिन्ता में पट्टनियों को निश्चिन्ततापूर्वक निद्रा आई हो ऐसा तो नहीं लगता किन्तु वे सो गए थे।

न भी सोए हों, नींद न आ पाई हो, तब भी वे अपने-अपने घरों में तो बन्द थे ही। कहीं बाहर निकलकर राजकोप का भागी कोई नहीं बनना चाहता था। किसी को नींद आए कि नहीं, चादर से मुंह ढककर तो वह पड़ा ही था।

दुर्गपालत्रिलोचनपाल के सैनिक पाटन के प्रत्येक द्वार, प्रत्येक खिड़की

प्रत्येक प्रमुख मार्ग तथा मार्ग की नगर प्रचीरों पर कड़ा पहरा दे रहे थे। उनकी आँखें कुमारपाल के सपने देख रही हों ऐसा प्रतीत होता था। कहीं कोई वृक्ष की शाखा भी हिल जाती तो प्रहरी चौंक पड़ते थे—कुमारपाल तो कहीं कूदकर नहीं आ गया ?

इतना सतर्क पहरा था।

इतना भयभीत था अन्याय का पक्ष—न्याय के पक्ष से।

उसी निस्तब्ध-सी अर्धरात्रि में मंत्रीश्वर उदयन के प्रासाद के पिछवाड़े की एक गुप्त खिड़की बहुत आहिस्ते से खुली। एक के बाद एक तीन व्यक्ति उस खिड़की में से बाहर आए और ऊँची दीवार का सहारा लेकर प्रस्तरवत् खड़े हो गए। खिड़की वैसी ही बन्द हो गई जैसी कि पहले थी। प्रस्तर की दीवार प्रस्तर की दीवार बन गई।

उन तीनों व्यक्तियों ने कुछ देर आहट ली। नगर में घूमते चौकीदारों की आवाजें सुनीं, उनके आवागमन की दिशा को ठीक से समझा, सामने ही, बिलकुल समीप से गुजरते एक प्रहरी को आगे बढ़ जाने दिया और फिर उनमें से सबसे लम्बे-गठीले आदमी ने अपने दोनों साथियों का हाथ दबाकर धीरे से फुस-फुसाकर कहा—

"चुपचाप ! चन्द्रावती द्वार।"

आकाश में बादल तेज हवा के साथ उड़ते जायं और उनकी छाया धरती पर पड़े न पड़े और आगे बढ़ जाय। अथवा जैसे प्रेत चल रहे हों।

इस प्रकार वे तीनों व्यक्ति तेजी से, किन्तु निःशब्द चल पड़े।

चन्द्रावती द्वार के समीप जमीन कुछ ऊँची थी। कोई सामान्य व्यक्ति तो नहीं किन्तु काक भटराज जैसा कोई सिंह पुरुष उछाल मारकर प्राचीर पर पहुँच सकता था। एक बार जूनागढ़ का शेर रा' खेंगार उसी स्थान से अपनी घोड़ी उछाल कर अदृश्य हो गया था। और उसका जानी दुश्मन गुजरात का नाथ जयसिंहदेव टापता ही रह गया था।

काक को उस स्थान का और उसके महत्व का पता था।

सावधानी से, गश्त लगाते चौकीदारों को टालते, संघर्ष की किसी भी स्थिति से बचते हुए काक और उसके दोनों साथी चन्द्रावती द्वार के समीप उस बहुत हल्के से आभासित होते टीले-नुमा स्थान पर पहुंच गए जहाँ से वे नगर प्राचीर पर चढ़कर नगर से बाहर जाना चाहते थे।

वहाँ पहुँचकर काक ने कहा—

"वीरभद्र ! मैं ऊपर जाता हूँ। हाथ का सहारा देकर तुम दोनों को भी ऊपर चढ़ा लूंगा। ठीक ?"

"हाँ, भटराज ! यहाँ से इस ऊँची प्राचीर तक उछाल मारना आपका, खेंगार का या गिरिवन के किसी सिंह का ही काम है....।"

"चुप ! सावधान !"—कहकर काक एक कदम पीछे हटकर उछला और ऊँची प्राचीर पर पहुँच गया।

दुर्योग कहिए, या उस बेचारे प्रहरी का दुर्भाग्य ही था कि वह उसी समय प्राचीर पर चक्कर काटता हुआ उस स्थान पर आ पहुँचा जहाँ काक उछलकर पहुँचा था। उसने काक को देख लिया। अर्थात् उसने देखा कि कोई एक मानव काया नीचे से उछलकर चौड़ी प्राचीर पर आई है। शत्रु के अतिरिक्त और कौन हो सकता है यह विचार उसके मस्तिष्क में क्षणांश मात्र में कौंधा और वह स्वभावतः चीखने को हुआ।

किन्तु चीखने के लिए उसका मुंह जो खुला तो वह फिर बन्द नहीं हो सका। काक ने उस प्रहरी को दस गज दूर से ही देख लिया था। उसने यह भी देख लिया था कि उस प्रहरी ने उसे देख लिया है। और उसने अनुमान लगा लिया था कि यदि उस प्रहरी के मुख से एक हल्की-सी ध्वनि भी निकल गई तो सारा खेल समाप्त हो जायगा....

गुजरात का भविष्य उस क्षण उस अभागे प्रहरी के उस खुले मुख पर लटक गया था जिसमें से निकली एक ही आवाज राजपलटा कर सकती थी।

किन्तु सामने तो काक था न ? उसने तेजी से अपने जीवन की सबसे महत्वपूर्ण छलाँग लगाकर सीधे उस प्रहरी के कंठ को जा दबोचा। आवाज लगाने के लिए खुला हुआ वह कंठ खुला का खुला ही रह गया। बन्द भी नहीं हो सका। काक ने कहा—

"खबरदार ! एक शब्द, एक जरा-सी हरकत भी की तो दूसरी साँस नहीं ले सकोगे।"

कहने की आवश्यकता ही नहीं थी। काक के हाथों की जो पकड़ थी वह उस प्रहरी को अपने कंठ पर अनुभव हो रही थी। यमराज की भयानक पकड़ भी ऐसी तो क्या होगी ?

फिर काक ने कंठ पर दबाव कम करके कहा—

"नाम ?"

"जवाहरसिंह ।"

"जवाहरसिंह ! मुझे तुम्हारा नाम याद रहेगा । ठीक से सुन लेना ....मेरा नाम है काक भटराज....मेरे साथ चालाकी करने की कोशिश की तो तीनों लोकों में शरण नहीं मिलेगी....जानते...."

"जानता....हूँ....भट....भटराज..."

"बस, चुप ! जैसे थे वैसे ही रहो । तुम्हारे इशारे से भी किसी और को कोई गन्ध मिली तो..."

"नहीं....भटराज....।"

"ठीक । चलते रहो....आवाज देते रहो....।"

वह प्रहरी अँधेरे में एक हाथ से अपना गला सहलाता हुआ फिर से जैसे के तैसे चक्कर खाने लगा—जागते रहो ! होशियार !

लेकिन उस रात उसकी काया फिर काँपती ही रही । काक भटराज का नाम अच्छे-अच्छे महारथियों को सावधान करने के लिए पर्याप्त था, तो बेचारे उस सामान्य प्रहरी की तो बिसात ही क्या थी ?

सब कुछ यथावत् चलता रहा । काक, वीरभद्र और वौसिरि चुप-चाप प्राचीर के उस पार उतर गए ।

× × ×

पाटन के बाहर उस खंडहर के समीप, तारों की छाया में, घने झाड़ झंखाड़ों के बीच एक विशाल आकृति इधर से उधर चक्कर काटती हुई दिखाई दे सकती थी । कोई देख सकता तो ।

जैसे कोई शेर अशान्त हो और विफर रहा हो ।

वौसिरि सुबह गया था । अब आधी रात से अधिक हो गई । अब तक वह आया नहीं ? मंत्रीश्वर ने भी कहलाया था अपने गुप्तचरों से कि शान्त रहूँ....

आचार्यश्री की भी आज्ञा है—क्रोध नहीं, कुमारपाल ! करुणा !

यह वौसिरि आया क्यों नहीं ? सबेरा होने में अब देर ही कितनी है ? राजसभा जुड़ने को है । घोषणा है कि गुजरात के राज्य के जो भी दावेदार हों, वे राजसभा में आकर अपना हक साबित करें...

हक साबित करें ?

कुमारपाल को भी अब अपना हक साबित करना पड़ेगा ? पिता त्रिभुवनपाल सोलंकी और दादा देवप्रसाद सोलंकी ने अपना जीवन देकर

गुजरात को खड़ा किया है। अपने अधिकार, अपने हक को छोड़कर पहले कर्णदेव को और फिर जयसिंहदेव को राजाधिराज बनाया है। और उन्हीं का पुत्र-प्रपौत्र कुमारपाल अपना हक साबित करने राजसभा में जायेगा ?

ये मंत्रीश्वर उदयन....आचार्यश्री....मुझे रोक लेते हैं। पता नहीं अच्छा करते हैं कि नहीं। अच्छा ही करते होंगे। वरना यह पाटन की राजसभा ? मेरी तलवार के सामने देखूं तो जरा कि कौन खड़ा होता है आकर ? केशव ? वीर है, ईमानदार भी है, किन्तु अन्धभक्त है। समझता क्यों नहीं कि काकाजी—सिद्धराज जयसिंह भी अन्ततः गुजरात का ही तो भला चाहते थे। उनका स्वप्न था तो एक महान गुजरात का था। वे गुजरात में शौर्य, कला, साहित्य, संस्कार चाहते थे। वे पाटन को उज्ज-यिनी से श्रेष्ठतर बनाना चाहते थे। केशव यह क्यों नहीं समझता ?

केशव सेनापति ! तू यह क्यों नहीं समझता कि त्यागभट्ट में उतनी क्षमता नहीं कि वह गुजरात को चार दिन भी सम्हाल सके।

केशव सेनापति ! तू यह क्यों नहीं समझता कि मुझे राज्य नहीं चाहिए, मुझे गुजरात चाहिए।

गुजरात, जो काश्मीर, काशी और मालवा से श्रेष्ठतर हो।

लेकिन अब तो सवेरा होने को है। वौसिरि अब तक आया क्यों नहीं ?

नहीं आया तो न सही। अब मैं ही चलता हूँ···जो होना है सो हो जाय····

इतना सोचकर कुमारपाल ने वृक्ष की कोटर में रखी अपनी भया-नक तलवार निकालकर हाथ में ली और लता—गुल्मों से बाहर निकल आया।

सौभाग्य ही था कि ठीक उसी समय काक अपने साथियों सहित वहां आ पहुँचा। अन्यथा कुमारपाल अधीर हो रहा था और विपक्ष के गुप्तचरों चारों ओर चक्कर काट रहे थे। कुछ भी हो सकता था।

अपनी ओर अंधकार में तीन मानव-आकृतियों को बढ़ता देखकर कुमारपाल सतर्क हो गया। उसकी वज्र मुष्टि अपनी तलवार की मूठ पर कस गई। वह अपने स्थान पर किसी भी आकस्मिक घटना का सामना करने के लिए प्रस्तुत निश्चल खड़ा रह गया। तभी उसने बहुत धीमी आ-वाज सुनी—"महाराज ! यह मैं हूँ वौसिरि।"

कुमारपाल ने वौसिरि का स्वर पहचान लिया। वह आश्वस्त हुआ और बोला—

"इतनी देर कैसे की वौसिरि ? और ये तुम्हारे साथ कौन हैं।"

"मेरे पिता काक भटराज हैं, महाराज ! और वीरभद्र है। देर का कारण तो उचित अवसर की प्रतीक्षा ही है, प्रभु ! दुर्गपाल के गुप्तचरों का जाल सारे पाटन और पाटन से बाहर बिछा हुआ है। बहुत अधिक सावधानी की आवश्यकता है।"

वौसिरि ने यह कहा और काक भटराज ने आगे बढ़कर कुमारपाल को प्रणाम कर कहा—

"महाराज ! अब एक क्षण का भी विलम्ब नहीं। आप प्रस्तुत हैं ?"

"चलो।"—उत्तर में कुमारपाल ने यह एक ही शब्द कहा और वे लोग चल पड़े। वीरभद्र कुछ आगे बढ़कर चलने लगा कि कहीं कोई भय की या सन्देह की स्थिति दिखाई दे तो सावधानी का संकेत किया जा सके। उसके पीछे, कुछ दूरी रखकर कुमारपाल को बीच में लेकर काक और वौसिरि चले।

मार्ग तेजी और सावधानी से तय किया गया। नगर-प्राचीर के उसी स्थान पर पहुँचकर जहाँ से वे लोग कूदकर आए थे, सबसे पहले काक चीते की भाँति उछलकर प्राचीर पर चढ़ गया। जवाहरसिंह वहीं चक्कर काट रहा था, किन्तु अब वह कोई चूँ-चपड़ कर सके इतनी हिम्मत उसमें नहीं थी। काक को देखते ही वह दूसरी दिशा में मुंह फेरकर चलने लगा।

कुमारपाल, वीरभद्र और वौसिरि को भी प्राचीर पर चढ़ जाने में कोई कठिनाई नहीं हुई, कोई देर नहीं लगी। जैसे छायाएँ सरक रही हों इस प्रकार बिना कोई आवाज किए चारों व्यक्तियों का काफिला नीचे, अँधेरी गली में सरक गया और बेचारा जवाहरसिंह काक भटराज से अपने प्राणों की रक्षा कर देने के लिए भगवान को लाख-लाख धन्यवाद देता हुआ प्राचीर पर इस प्रकार चक्कर काटता रहा जैसे उसने न कहीं कुछ देखा और न सुना।

× × ×

पाटन के पूर्वाकाश में पौ फट चुकी थी। रात भर अँधेरे में डूबा आकाश अब मानो मगन-मन सुनहरे स्वप्न देखने लगा था।

पक्षी नीड़ों से बाहर झांकने लगे थे, गाने लगे थे। आज उनके कलरव में कुछ अधिक मिठास घुली हुई हो ऐसा जाने क्यों लग रहा था।

कुछ और समय व्यतीत हुआ। प्रभात की पहली किरन ने नवजागरण का सन्देश फूंका।

प्रातःकालीन ध्यानादि से निवृत्त होकर आचार्य हेमचन्द्र अपने पाट पर आकर विराजे और ताड़ पत्र पर अंकित किसी ग्रन्थ का अवलोकन करने लगे। मुनि रामचन्द्र, मुनि बालचन्द्र आदि आचार्यश्री के अनेक शिष्यगण भी अपने-अपने स्थान पर अपने-अपने पठन अथवा लेखन के कार्य में दत्तचित्त हो गए।

तभी साधारण वस्त्र पहने एक श्रावक ने आचार्यश्री के समीप पहुँचकर उन्हें सादर वन्दन किया—मत्थेण वन्दामि !

आचार्यश्री ने ताड़पत्रों पर से अपनी तेजस्वी दृष्टि ऊपर उठाई, एक पल उस विनत श्रावक को देख, उनके अधरों पर एक मधुर, नैसर्गिक मुस्कान बिखर गई और उन्होंने कहा—

"धर्मलाभ ! तो तुम आ गए ?

"गुरुदेव.....!"

"गुजरात और भारतवर्ष का भाग्य ! अब जाओ, सद्धर्म के उत्कर्ष के लिए, मानवता के हित के लिए, प्राणी मात्र के कल्याण के लिए जाओ। धर्मलाभ !"

वह श्रावक पुनः आचार्यश्री के चरण स्पर्श कर कुछ कदम बिन मुड़े पीछे हटकर द्वार से बाहर निकल गया।

वह कुमारपाल था। कल तक जंगल-जंगल भटकने वाला। आज गुजरात का नाथ !

किन्तु अभी कहां ? अभी तो राजसभा में निर्णय होना था। और राजसभा में पहुँचने तक अभी बहुत-सी खाइयाँ बीच में थीं, जिनमें बड़े-बड़े रक्तपिपासु मगरमच्छ मुंह फाड़े विचरण कर रहे थे।

कुमारपाल उदयन मंत्रीश्वर के प्रासाद की ओर धीर कदमों से आगे बढ़ रहा था। उसके चारों ओर नगरवासियों की भीड़ इधर से उधर आ जा रही थी। उसी भीड़ में उदयन मंत्रीश्वर के चतुर से चतुर सुभट वेश बदले हुए कुमारपाल को लगभग घेरे हुए चल रहे थे।

रात्रि के अन्तिम प्रहर में जब काक भटराज के साथ कुमारपाल ने मंत्रीश्वर के प्रासाद में गुप्तरूप से प्रवेश किया था तब मंत्रीश्वर ने कहा था—"महाराज ! अब तो कुछ घड़ियों की ही बात है। किन्तु ये कुछ घड़ियाँ ही सबसे अधिक कठिन हैं। आप कुछ देर विश्राम कर लें।"

किन्तु कुमारपाल ने कहा था—"मंत्रीश्वर ! इतना भटका हूँ कि अब मुझे थकान होती ही नहीं। मुझे गुरुदेव के दर्शन करने जाना है।"

"यह क्या कहते हैं आप, महाराज ! नैया को किनारे तो लग जाने दीजिए। फिर सब कुछ होता रहेगा।"

"नहीं, मंत्रीश्वर, मैं गुरुदेव के दर्शन करने तो जाऊँगा ही। जो होना हो सो हो जाय।"

और कुमारपाल माना नहीं था। वह सुरक्षित आचार्यश्री के दर्शन करके लौट आए यह व्यवस्था करने में उदयन जैसे मंत्री को भी पसीने आ गए थे। किन्तु वह हो गया और गुजरात का भावी राजा आचार्यश्री का आशीर्वाद प्राप्त करके सुरक्षित मंत्रीश्वर के प्रासाद में लौट भी आया।

(तेरह)

राजगढ़ का विशाल प्रांगण जन-मेदिनी से पट गया था। गुजरात और गुजरात के अधीनस्थ प्रदेशों के दण्डनायक, मण्डलेश्वर,सामन्त, जागीरदार, श्रेष्ठिगण इत्यादि के अतिरिक्त पाटन और पाटन से दूर-दूर तक के गुजरात के निवासी आज महाराज सिद्धराज जयसिंहदेव के उत्तराधिकारी, अपने नए गुजरात के नाथ का चयन करने के लिए बड़े उत्साह से वहाँ एकत्रित हो रहे थे।

प्रांगण में एक सुशोभित उच्च स्थान पर राज सिंहासन रखा हुआ था। उस पर दिवंगत सिद्धराज की चरण पादुकाएँ रखी हुई थीं। गुजरात के मंत्रीगण वहाँ आते, नमन करते और अपने स्थान पर बैठ जाते थे।

केशव सेनापति अपने लिए नियत स्थान पर एक अचल चट्टान की भाँति खड़े थे।

ठीक वैसे ही स्थान पर, दूसरी ओर, अश्वारोही सैन्य के अध्यक्ष कृष्णदेव मौन, मस्त भाव से खड़े थे।

सेनापति केशव के चेहरे पर चिन्ता की कुछ रेखाएँ देखी जा सकती थीं। इसके विपरीत कृष्णदेव की चपल आँखों में से अहंकार झांकता हुआ दिखाई दे सकता था।

धीरे-धीरे राजसभा का मुख्य स्थल राज्य के सभी महत्वपूर्ण पुरुषों से भर गया। वह इतना ठसाठस भरा हुआ था कि देखने पर ऐसा लगे कि जैसे अब यदि एक तिल भी कहीं रखना पड़े तो उसके लिए स्थान न मिले।

समय हो गया है यह जानकर महामात्य ने सभास्थल में चारों ओर एक दृष्टि फेरी। उन्होंने देखा कि सबकुछ व्यवस्थित है। बस एक मंत्रीश्वर उदयन का आसन ही अभी रिक्त था। वे कुछ कहें या करें इससे पूर्व ही जन-समुदाय में हलचल मची और जैसे कोई तलवार काई को चीरती चले उसी प्रकार लोगों की भीड़ को चीरते हुए मंत्रीश्वर उदयन आते हुए दिखाई दिये। अवसर संभवतः अनुकूल नहीं था, किन्तु फिर भी उदयन मंत्रीश्वर के लिए लोगों में इतना सम्मान था कि उनके आने पर उनकी जयकार के स्वर अनेक स्थानों से गूंज ही उठे।

महामात्य महादेव ने तुरन्त लोगों को शान्त रहने का संकेत किया। यह उन्होंने ठीक ही किया। एक ऐसे अवसर पर जबकि गुजरात के राज-सिंहासन के उत्तराधिकारी का निर्णय होना हो, कोई भी ऐसी बात नहीं होनी चाहिए थी जो किसी पक्ष का समर्थन करती प्रतीत हो। निर्णय होने तक तटस्थ भाव रखा जाना आवश्यक और उचित था। गुजरात की जनता को तटस्थ, निष्पक्ष भाव से योग्यतम वास्तविक अधिकारी का चयन करना था।

महामात्य के संकेत का ठीक प्रभाव पड़ा। जनसमुदाय एकाएक पूर्ण-रूपेण शान्त हो गया। उदयन मंत्रीश्वर शान्त भाव से, धीर कदमों से आगे बढ़ते हुए सिद्धराज की चरण पादुकाओं को नमन कर अपने आसन पर बैठ गए।

राजसभा का कार्य आरम्भ हुआ ही चाहता था।

राजमाता लोलादेवी, त्यागभट्ट, केशव सेनापति, दुर्गपाल त्रिलोचन-पाल, मल्हार भट्ट, शोभन मंत्री इत्यादि का मन निराश तो नहीं, किन्तु कुछ बुझा-बुझा सा अवश्य था।

क्योंकि उन सबके हजार प्रयत्नों और षड़यन्त्रों की बाधाओं को पार कर कुमारपाल अपने दोनों बड़े भाइयों, महीपाल और कीर्तिपाल सहित अपने आसन पर विराजमान था। वह पाटन में प्रवेश न कर सके, पाटन में प्रविष्ट हो भी जाय तो राजसभा में उपस्थित न हो सके, इसके लिए उन्होंने क्या-क्या नहीं किया था? कितनी सतर्कता नहीं बरती थी? किसी भी कीमत पर उसे मौत के घाट उतार देने का उनका दृढ़ संकल्प था।

किन्तु पवन किसके रोके रुका है?

विधि का विधान किसके टाले कभी टला है?

कुमारपाल अपने आसन पर विराजमान था। वह कुमारपाल क्या था, मानो साक्षात् इन्द्र ही पाटन की इस राजसभा को शोभा देखने वहाँ आ विराजे हों ऐसा ही प्रतीत होता था।

बड़े-बड़े शूर सेनानी उस सभा में उपस्थित थे।

किन्तु कुमारपाल की छवि तो न्यारी ही थी। मानो वज्र से ही गढ़ी गई हो ऐसी उसकी देह यष्टि पर एक बार जब किसी की दृष्टि पड़ जाती थी तो फिर वह वहाँ से हटाए नहीं हटती थी। वीर क्षत्रिय वर्ग तो उसके अद्भुत पौरुष को देख-देखकर दीवाना-सा हुआ जा रहा था। और

गुजरात में अत्यन्त प्रभावशाली जैन समुदाय उसकी धार्मिक वृत्तियों को देख और जानकर सहज रूप से उसे गुजरात का नाथ स्वीकार करने के लिए उद्यत था।

क्षत्रिय वर्ग उसकी वीरता से प्रभावित था।

धार्मिक लोग उसके धार्मिक जीवन और विवेक पर बलिहारी थे।

और जो लोग तटस्थ वृत्ति के रहे भी हों तो वे कुमारपाल के स्वनामधन्य पिता त्रिभुवनपाल सोलंकी का स्मरण कर रहे थे—उस त्रिभुवनपाल को, जिसने अपना राज्याधिकार जयसिंहदेव को हँसते-हँसते सौंप दिया था और अपनी तलवार की छाया में बालक जयसिंह को 'सिद्ध राज' बनाया था।

इतना बड़ा त्याग व्यर्थ कैसे जाता ?

हवा कुमारपाल के पक्ष में थी, अवश्य, किन्तु राजनीति में कभी कुछ भी निश्चित नहीं होता।

इस घड़ी तक सिंहासन पर महाराज जयसिंहदेव की पादुकाएं ही विराजमान थीं।

अब गुजरात का नाथ कौन होगा, यह अभी निर्णीत नहीं हुआ था।

खुला निमंत्रण था। राज्य का अधिकारी अपने आप को मानने वाले प्रत्येक दावेदार को उस राजसभा में आमंत्रित किया गया था।

उदयन मंत्रीश्वर के अपने स्थान पर बैठ जाने के बाद एकाएक सभा में सन्नाटा-सा व्याप्त हो गया। अब क्या होता है यह जानने के लिए जनसमुदाय उत्कंठित हो गया था।

महामात्य अपने स्थान पर उठ खड़े हुए और उन्होंने कहा—

"महान गुजरात के महान् नागरिको ! आप सभी को विदित ही है कि आज का यह अवसर हमारे देश के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण है। हमारे दिवंगत महाराज सिद्धराज जयसिंहदेव द्वारा खड़े किए गए अपने इस गुजरात को क्षमतापूर्वक सम्हाल सके ऐसे सुयोग्य और अधिकारी व्यक्ति का चयन आपको आज इस सभा में करना है। गुजरात के शत्रु चारों ओर चौकन्ने बैठे हैं। उन्हें उठकर गुजरात पर चढ़ दौड़ने में तनिक भी विलम्ब नहीं लगेगा यदि उन्होंने देखा कि महाराज सिद्धराज के सिंहासन पर कोई अक्षम, अयोग्य व्यक्ति बैठा हुआ है। यदि ऐसा हुआ तो हमारे गुजरात का कहीं कोई पता नहीं मिलने वाला है।

"अतः सभ्यजनो ! आज आपके विवेक की परीक्षा है। आपने गुजरात के महामात्य को इतनी शक्तियाँ प्रदान कर रखी हैं कि यदि वह चाहता तो अब तक गुजरात के सिंहासन पर कोई भी एक राजा बैठा होता। किन्तु यह प्रश्न किसी एक व्यक्ति का नहीं, किसी एक वंश का नहीं, किसी एक वर्ग या समुदाय का भी नहीं—यह प्रश्न तो सारे गुजरात का है।

"तो मैं आशा करता हूँ कि गुजरात के समस्त सभ्य नागरिक आज अपने विवेक का परिचय देंगे तथा सिंहासन के उत्तराधिकारी का निर्णय नीतिपूर्वक, निस्वार्थ भावना से करेंगे जिससे कि गुजरात सुरक्षित रहे, गुजरात का उत्थान हो....।"

महामात्य बोल ही रहे थे कि सिद्धराज जयसिंहदेव के प्रति अनन्य भक्ति भाव रखने वाले सेनापति केशव से रहा नहीं गया। वे बोल पड़े—

"किन्तु अमात्यवर ! महाराज सिद्धराज जयसिंहदेव की इच्छा इस विषय में स्पष्ट थी। वे कुमारतिलक त्यागभट्टदेव को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त करना चाहते थे....।"

तुरंगाध्यक्ष कृष्णदेव ने केशव सेनापति की बात को काटते हुए कहा—

"महाराज सिद्धराज क्या चाहते थे और क्या नहीं चाहते थे यह जानने वाले क्या आप अकेले ही हैं सेनापति जी ? और भी लोग हैं जो अन्त तक, महाराज की अन्तिम श्वास तक उनके समीप रहे हैं।"

"लेकिन कृष्णदेव जी, महाराज ने त्यागभट्टजी को अपना प्रपन्न पुत्र स्वीकार किया था। उन्हें युवराज बनाया था।" केशव सेनापति ने क्रोध से उबलते हुए कहा।

"हाँ सेनापति जी, ऐसा तो हुआ था। किन्तु उससे क्या ? महाराज ने स्वयं ही अपने युवराज का राज्याभिषेक फिर क्यों नहीं करा दिया अपने जीते जी ? उन्होंने ऐसा नहीं किया। वे ऐसा नहीं कर सकते थे। वे जानते थे कि गुजरात की गद्दी पर राजवंश का ही कोई व्यक्ति आ सकता है। वह भी योग्य हो, तब। इसलिए महाराज अपने अन्तिम समय में अपने विवेक की ओर लौट आए थे....।"

उस समय राजसभा में बिजली-सी कौंध गई थी। मंत्रीश्वर उदयन ने भाँप लिया कि यदि इन दोनों क्षत्रिय वीरों की इस तकरार को तुरन्त

समाप्त नहीं कर दिया गया तो विनाश हो जायेगा, भरी राजसभा में तलवारें झनझना उठेंगी और गुजरात का राजसिंहासन रक्तरंजित हो जायेगा। त्याग की परम्परा में फला-फूला गुजरात का राजसिंहासन यदि संघर्ष का केन्द्र बन गया तो सब सत्यानाश हो जायगा। वे तत्काल अपने आसन से उठ खड़े हुए और बोले—

"आप लोग शान्त हों। सुनें—सेनापति जी, आप वीर पुरुष हैं। आपकी राजभक्ति निष्कलंक हैं। हम जानते हैं कि आप वही करना चाहते हैं जो महाराज सिद्धराज की इच्छा थी। आप ही क्या, गुजरात का प्रत्येक बेटा वही तो करना चाहता है। मैं भी गुजरात का एक मामूली-सा बेटा हूँ। यहां उपस्थित यह सारा विशाल जन समुदाय गुजरात की सन्तान है।

"हम सब चाहते हैं कि महाराज सिद्धराज की इच्छा पूरी हो।

"क्या आप कह सकते हैं कि उदयन ने जीवनभर महाराज सिद्धराज जयसिंहदेव की कल्पनाओं को साकार करने के लिए आकाश-पाताल एक नहीं किया ? सोचिए, और सोचकर उत्तर दीजिए।

"आप त्यागभट्ट के लिए कहते हैं। उसे महाराज ने अपना प्रपन्न पुत्र बना लिया था। और वह मेरा पुत्र है। किन्तु मात्र इसी आधार पर वह गुजरात के सिंहासन का अधिकारी भी है, यह तो सिद्ध नहीं हो जाता। केशव सेनापति जी, कृष्णदेवजी के कथन में सार है। मैं आग्रह करता हूँ आपसे, फिर से विचार कीजिए कि यदि महाराज सिद्धराज अपने प्रपन्न पुत्र को राजगद्दी सौंपना ही चाहते थे तो फिर उन्होंने ऐसा किया क्यों नहीं ? सिद्धराज की सामर्थ्य को क्या आप भूल गए ?

"किन्तु इतने सामर्थ्यवान होते हुए भी वे ऐसा नहीं कर सके।

"और मेरा भाग्य कहिए कि दुर्भाग्य, त्यागभट्ट मेरा भी पुत्र है। यदि मैं चाहता तो क्या आज से एक मास पूर्व ही उसे गुजरात का अधीश्वर न बना देता ? केशव सेनापति''''।"

मंत्रीश्वर का कथन समाप्त नहीं हुआ था किन्तु सभा में उपस्थित समुदाय से अपनी भावनाएँ रोके न रुक सकीं। एक जयघोष उठा—'मंत्रीश्वर उदयन की जय'....

सारी राजसभा, वहाँ उपस्थित सामान्य व्यक्ति भी मंत्रीश्वर की निस्वार्थ भावना से अभिभूत था। वह स्थिति तो ऐसी थी कि उदयन उस समय जिस भी व्यक्ति का नाम राजा के लिए प्रस्तावित कर देते उसी का अनुमोदन तत्काल हो जाता।

किन्तु गुजरात का वह मंत्री, जिसका नाम उदयन था, अगम्य था। अविचलित, शान्तभाव से उसने अपना दाहिना हाथ उठाकर लोगों को शान्त रहने का संकेत दिया और आगे कहा—

"केशव सेनापति जो, हम सभी आपका आदर करते हैं। आपकी राजभक्ति की सराहना करते हैं। किन्तु मेरे प्रश्न का उत्तर दीजिए, विचार पूर्वक उत्तर दीजिए—महाराज सिद्धराज जयसिंह देव की इच्छा क्या थी? क्या उनकी इच्छा यह नहीं थी कि उनका गुजरात, आपका और मेरा और यहाँ उपस्थित तथा अनुपस्थित सभी लोगों का गुजरात महान बने? कहिए, क्या जीवन भर इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए उन्होंने संघर्ष नहीं किया? कहिए, क्या उनकी इस इच्छा की पूर्ति के लिए आपने और इस बूढ़े उदयन ने अपने प्राण नहीं झोंके?

"सेनापति केशव! महाराज की यही आन्तरिक इच्छा थी। एक मात्र इच्छा थी। बाकी सन्तान का मोह किसे नहीं होता? महाराज को भी हो गया होगा। मुझे भी हो सकता है।

"किन्तु न उन्होंने इस मोह को अपने पर हावी होने दिया और न गुजरात का यह एक अकिंचन सेवक, उदयन ही ऐसे मोह को अपने पर हावी होने देगा। केशव सेनापति! इस गुजरात के सिंहासन पर वही व्यक्ति विराजमान होगा जो इसके लिए योग्य होगा। अन्य कोई नहीं।

"और यह निर्णय करने के लिए ही तो हम सबने सारे गुजरात को आज यहाँ एकत्रित किया है। ये सब लोग बैठे हैं न! ये निर्णय देंगे। लोकमत का आदर मैं भी करूँगा, आप भी करें। लोक-कल्याण का रास्ता तो यही है।"

इतना कहकर मंत्रीश्वर अपने आसन पर बैठ गए।

केशव सेनापति और उसके साथियों को कोई शब्द नहीं सूझे। उदयन मंत्रीश्वर के कथन का कहीं कोई काट था ही नहीं। तब महामात्य ने पुनः खड़े होकर कहा—

"गुजरात की राजगद्दी के दावेदार अब एक-एक कर यहां आगे पधारने का कष्ट करें। सबसे पहले त्रिभुवनपाल जी सोलंकी के सबसे बड़े पुत्र महीपाल जी आगे आएँ।"

त्रिभुवनपाल सोलंकी का सबसे बड़ा पुत्र महीपाल, दधिस्थली का मण्डलेश्वर, कुछ शौकीन तबियत का आदमी था। दिन का अधिकांश

समय उसका अपनी शरीर-सज्जा में ही व्यतीत हो जाया करता था। बाल इस प्रकार संवरे रहने चाहिए। मेरी देह पर कौन-से आभूषण अच्छे लगते हैं ? सुरमा लगाने से आँखें सुन्दर दिखाई देती हैं कि नहीं ? इन्हीं सब बातों में महीपाल पड़ा रहता था। जिस शूरमा को शस्त्रों से प्यार होना चाहिए था वह वस्त्रों में उलझकर रह गया था। उसका शूरत्व अपनी सुरमेदानी में बन्द हो गया था।

किन्तु वह त्रिभुवनपाल सोलंकी का ज्येष्ठ पुत्र था और इस नाते राजगद्दी का सबसे पहला दावेदार तो था ही।

अपना नाम पुकारे जाने पर वह अपने आसन से उठा और आगे चला। किन्तु उसकी चाल किसी धीर या वीर की नहीं थी। कुछ डग-मगाते-से कदमों से वह आगे बढ़ा, एकाध स्थान पर उसके वस्त्र भी कहीं उलझकर उसे झटका दे गए। उसकी यह हालत देखकर राजसभा उससे निराश हो गई। कुछ लोग तो हौले-से हँस भी पड़े। फिर भी महामात्य ने उससे पूछा—

"यह गुजरात का विशाल राज्य सिद्धराज छोड़ गए हैं। यदि आपको इस राज्य का राजा बना दिया जाय तो आप इसका संचालन किस प्रकार करेंगे ?"

महीपाल बहुत दिनों से अपने राज्याभिषेक के आमंत्रण की प्रतीक्षा दधिस्थली में बैठा कर रहा था। किन्तु गुजरात की उस गौरवशाली राज-सभा में उपस्थित होकर वह अपनी असमर्थता से स्वयं ही परिचित हो गया था। मूर्ख तो था नहीं, अयोग्य अवश्य था। अतः उसने उत्तर दिया—

"महामात्य जी, मुझे इतने बड़े राज्य का क्या करना है ? मैं तो अपनी दधिस्थली में ही प्रसन्न हूँ। यह राज्य तो आप किसी और को ही सौंप दीजिए।"

"बहुत ठीक, महीपालजी, पधारिए। अपनी दधिस्थली में आप चैन की वंशी बजाइए। आप अपनी योग्यता को पहचानते हैं यह गुण तो आप में है।"

महामात्य के इस उत्तर के साथ ही महीपाल अपने स्थान पर जाकर बैठ गया और फिर महामात्य ने कीर्तिपाल को पुकारा और पूछा—

"कहिए कीर्तिपालजी, आपको यदि इस गर्वीले गुजरात का राजा बनाया जाय तो आप शासन किस प्रकार चलाएँगे ?"

"अरे महामात्यजी, आप जो बैठे हैं ! मंत्रीश्वर उदयनजी जो बैठे हैं। फिर मुझे क्या करना पड़ेगा ? मैं तो जैसा आप कहेंगे वैसा ही करता जाऊँगा।"

पाठक स्वयं ही अनुमान लगा सकते हैं कि ऐसा उत्तर देने वाला कोई व्यक्ति क्या किसी महाराज्य का शासक बनने योग्य हो सकता है ? कीर्तिपाल का उत्तर सुनकर पुनः सभा में निराशा छा गई।

किन्तु वे निराशा के क्षण जल्दी ही समाप्त हो गए जबकि कीर्तिपाल के पश्चात् कुमारपाल का आह्वान किया गया। महामात्यजी ने कहा—

"आइये, कुमारपालजी, अब आप आगे पधारिए।"

सिंह मानो अपने साम्राज्य में निर्भय विचरण कर रहा हो ऐसी आश्वस्त, धरती को धुजाती चाल से कुमारपाल आगे बढ़ा। कमर से लटकती उसकी लम्बी तलवार लगभग पृथ्वी को चूमती-सी चल रही थी—मानो वह तलवार अपनी गुजरात की धरती को गुपचुप कोई संदेश दे रही हो—क्यों चिन्ता करती है तू मेरी माँ ! मैं जो हूँ तेरी रक्षा के लिए।

उस सभा में उस समय गुर्जरदेश के श्रेष्ठतम वीरत्व का प्रतिनिधित्व था। एक से बढ़कर एक शूरवीर, रणधीर, अभय सेनानी वहाँ उपस्थित थे। उन्होंने जब कुमारपाल को देखा, उसकी बलिष्ठ देह को देखा, उसकी दर्पपूर्ण मुखमुद्रा को देखा, उसके नेत्रों से बरसते हुए आत्मविश्वास के ज्योति-स्फुलिंगों को देखा तो अनायास ही उन्हें लगा कि यही तो, यही तो है हमारा स्वामी—गुजरात का नाथ !

उस गुजरात के नाथ से, किन्तु अब तक तो कुमारपाल से ही, पूछा गया—

"महान् सिद्धराज जयसिंहदेव के इस महान् गुर्जर राज्य की रक्षा आप कैसे करेंगे ?"

प्रश्न सुनकर कुमारपाल के ओठों पर एक नैसर्गिक मुस्कान छा गई। उसने सड़ाक-से अपनी तलवार म्यान से बाहर निकालकर उसे आकाश में ऊपर उठाते हुए उत्तर दिया—

"राज्यों और साम्राज्यों का निर्माण और रक्षण वीरों की बलिष्ठ भुजाएं तथा उनकी तीक्ष्ण तलवारें ही दिया करती हैं महामात्य महोदय !

किसी अन्य उत्तर की भी अपेक्षा है क्या ? मेरी यह भुजा और मेरी यह तलवार ही गुजरात के राज्य का रक्षण और परिवर्धन करेगी।"

कुमारपाल के इस उत्तर से राजसभा डोल उठी। वीर क्षत्रिय वर्ग तो कुमारपाल के वीरत्व पर बलिहार हो गया....

अनायास, अन्तर्प्रेरणा से, स्वयमेव, सहसा, समस्त राजसभा में से सहस्रों कण्ठों से एक जयकार गूंज उठा—

"गुर्जरेश्वर महाराज कुमारपाल की जय। गुजरात के नाथ राजाधिराज कुमारपाल महाराज की जय !!"

उदयन मंत्रीश्वर की दीर्घदृष्टि ने अभिषेक की सारी सामग्री पहले से ही तैयार करा रखी थी। राजपुरोहित तैयार बैठे थे। उस जय-जयकार के बीच ही महामात्य तथा मंत्रीश्वर उदयन ने महाराज कुमारपाल को आदर सहित गुजरात के राजसिंहासन पर आरूढ़ कराया। महाराज कुमारपाल का राजतिलक कर दिया गया।

गुजरात के इतिहास का एक और नया अध्याय प्रारम्भ हुआ।

एक राजा जो कल तक जंगल-जंगल भूखा-प्यासा भटक रहा था वह आज अपनी तपस्या के चरमोत्कर्ष के साथ अपने उचित गौरवपूर्ण स्थान पर आ गया।

गुजरात के भाग जाग गए।

●

(चौदह)

❻ ❻

गुर्जरेश्वर की जय-जयकार तथा राजतिलक को चकाचौंध में त्याग-भट्ट, त्रिलोचनपाल, मल्हारभट्ट और बर्बरक अपने स्थान से कब छूमंतर हो गए यह किसी ने नहीं देखा।

उदयन मंत्रीश्वर ने देखा—चौकड़ी अदृश्य हो गई है। ठीक है।

किन्तु सेनापति केशव अपने स्थान पर किसी प्रस्तर प्रतिमा की तरह खड़ा या गड़ा हुआ था।

वह प्रस्तर प्रतिमा हिली, आगे बढ़ी, सिंहासन के समीप तक आई, उसने अपनी कमर से अपनी तलवार खोली और महाराज कुमारपाल के चरणों में उसे चुपचाप रख दी।

यह देखकर मंत्रीश्वर उदयन ने कहा—

"सेनापति जी ! यह क्या ?"

"मैं गुर्जरेश्वर महाराज का अपराधी हूँ, मंत्रीश्वर ! अपनी तलवार महाराज के श्रीचरणों में रखकर अपने अपराध का दण्ड प्राप्त करना चाहता हूँ।"—केशव सेनापति ने ऐसे कहा जैसे पत्थर की कोई मूर्ति बोल रही हो।

मंत्रीश्वर उदयन जानते थे कि सेनापति केशव सिद्धराज जयसिंह देव को एक देवता की तरह मानते थे। उनकी अचल राजभक्ति व्यक्तिपूजा की सीमा तक जा पहुंची थी। अतः उन्होंने अब तक जो कुछ भी किया था वह चाहे विचारों के भटकन में, किसी बहकावे में आकर किया हो, किन्तु गुजरात के सिंहासन के प्रति तथा उस पर आसीन गुर्जरेश्वर के प्रति उनकी भक्ति में कहीं कोई शंका नहीं थी। वे बोले—

"सेनापति जी ! हम सब मानव हैं। मानव यदा-कदा भटक भी जाता है, उससे भूल भी हो जाती है। किन्तु अपनी भूलों को जान लेने के पश्चात जो मानव उसके लिए पश्चात्ताप करता है वह पवित्र होता है। और आपने तो कोई ऐसी भूल की भी नहीं है। आपने जो कुछ भी किया

वह स्वर्गीय महाराज सिद्धराज के प्रति अपनी अनन्य भक्तिवश ही किया। अतः गई-गुजरी को भुला दीजिए। गुजरात के सेनापति की तलवार उसके हाथ में ही शोभा देती है, पृथ्वी पर नहीं। उठाइये अपनी तलवार गुजरात के महासेनापति जी !"

"नहीं, मंत्रीश्वर, नहीं। अब मैं गुजरात का सेनापति नहीं रहा। यह तलवार मैंने गुर्जरेश्वर के चरणों में रख दी है। सदा-सदा के लिए।"

महाराज कुमारपाल जितने युद्धवीर थे उतने ही क्षमावीर भी थे। वे उठे, उन्होंने केशव सेनापति को तलवार को उठाया और उसे पुनः सेनापति की कमर में बाँधते हुए कहा—

"सेनापति केशव ! आप अब तक जिस पद पर थे उसी पद पर बने रहेंगे। बल्कि मानवता के नाते आपका दर्जा हमारी दृष्टि में और भी अधिक ऊँचा हो गया है।"

"यह आपकी कृपा है, महाराज ! मैं सचमुच भटक गया था। आज मुझे विश्वास हो गया कि स्वर्गीय महाराज जयसिंहदेव का सच्चा उत्तराधिकारी अपने स्थान पर आ गया है और उसके हाथ में गुजरात का भविष्य सुरक्षित है, उज्ज्वल है। किन्तु मैं आप से अपने अपराध के लिए मृत्युदण्ड की माँग करता हूँ महाराज !"

"क्या कहते हैं आप केशव सेनापति जी ! आप तो बालकों जैसी बात कर रहे हैं।"—उदयन मंत्रीश्वर ने कुछ चिंतित होते हुए कहा, क्योंकि वे केशव सेनापति की जिद को जानते थे। फिर उन्होंने महाराज कुमारपाल से प्रार्थना की—"प्रभु ! गुजरात को केशवजी जैसे वीर पुरुषों की बहुत जरूरत है। आप इन्हें आदेश दें कि अर्थहीन भावुकता में न पड़कर ये गुजरात के महासेनापति के पद पर रहकर गुजरात की सेवा करें....।"

"सेवक क्षमा चाहता है, मंत्रीश्वर, मेरा समय पूरा हो चुका। यदि महाराज ने मुझे मृत्युदण्ड नहीं दिया तो मुझे फिर जल समाधि तो लेनी ही है। मैं प्रणबद्ध हूँ।"

"प्रणबद्ध ? कैसा प्रण ?"

"मैंने प्रण लिया था मंत्रीश्वर, कि या तो त्यागभट्टजी को गुजरात के सिंहासन पर बिठाऊँगा या फिर जीवित ही जल-समाधि लूँगा। अब मैं अनुभव करता हूँ कि वह मेरी भूल थी। गुजरात के सच्चे उत्तराधिकारी तो

महाराज ही थे। किन्तु मेरा प्रण भी अटल है। प्राण दे सकता हूँ, प्रण भंग नहीं कर सकता। मैं क्षत्रिय हूँ, मंत्रीश्वर!"

"आप महामानव हैं केशव सेनापति जी! किन्तु आप विचार क्यों नहीं करते?"

"मंत्रीश्वर! आप तो असाधारण पुरुष हैं। मैं आपके समक्ष तर्क में विजय नहीं पा सकता। और मुझे भय है कि यदि मैं कुछ देर और यहाँ ठहरा तो मेरा प्रण भंग हो सकता है। आपसे कभी कोई जीत पाया है? अतः महाराज! गुर्जरेश्वर महाराज कुमारपाल! मुझे आज्ञा दीजिए···· मेरा अन्तिम प्रणाम स्वीकार कीजिए····मेरे अविनय के लिए मुझे क्षमा कीजिए। क्षमा, घणीखमा, अन्नदाता!!"

यह कहकर केशव सेनापति शीघ्र ही मुड़कर वहाँ से तीव्र गति से चल पड़े।

किसी ने उन्हें रोका नहीं।

ऐसे मरण-तरंगी व्यक्ति को कोई रोक भी कैसे सकता था?

× × +

सभा-प्रांगण से बाहर आकर अपने ऊँचे, पानीदार, श्यामवर्ण अश्व पर बैठकर केशव सेनापति सीधे राजमार्ग पर से होता हुआ पाटन के मुख्य द्वार की ओर चल पड़ा। मार्ग भीड़-भाड़ भरा था। सारे पाटन में आनन्द और उत्साह हिलोरें मार रहा था। लोग परिचित-अपरिचित किसी भी व्यक्ति से अपने मन की बात जी खोलकर कह रहे थे।

"धन्य भाग अपने गुजरात के भाई, महाराज सिद्धराज के बाद अपना क्या होगा यह चिन्ता तो मिट गई कि नहीं?"

"चिन्ता? अरे अब किसकी चिन्ता? देखा नहीं महाराज कुमारपाल की तलवार को?"

"देखा नहीं? किसने नहीं देखा? तुमने नहीं देखा होगा। मैंने तो देखा। मुझे तो ऐसा लगा था कि जैसे वह तलवार अभी आकाश को फाड़कर ही रख देगी।"

"मेरी तो समझ में नहीं आता कि ऐसे महाराज अब तक कहाँ चुप बैठे थे? क्यों चुप बैठे थे?"

"समझ में कोई बात उसे आती है जिसकी खोपड़ी में भेजा भी हो, खाली भूसा नहीं····।"

"क्या मतलब ? क्या मतलब है तुम्हारा ? मेरी खोपड़ी में भूसा नहीं है ?....मेरा मतलब है, भेजा नहीं है ?"

"होगा भी थोड़ा बहुत तो वह भूसे में लिपटा पड़ा होगा।"

"ठीक है। जो है सो है। तुम तो यह बताओ कि तुम कह क्या रहे थे।"

"पहले तुम यह बताओ कि तुम पूछ क्या रहे थे ?"

"मैं कुछ नहीं पूछ रहा था। मैंने आज तक किसी से कुछ नहीं पूछा। मैं गुजराती हूँ। मैं तो पूछ रहा था कि इतने दिन तक अपने ऐसे इन्द्र जैसे महाराज कुमारपाल कहाँ छिपे बैठे थे ? क्यों छिपे बैठे थे ?"

"श्रीमान् गुजराती जी, सूरज यदि क्षण भर के लिए किसी बादल की ओट में हो जाता है तो उसे यह नहीं कहते कि सूरज कहाँ छिपा बैठा है....।"

"मैं सूरज की बात नहीं कर रहा हूँ। मैं महाराज की बात पूछ रहा हूँ। मालूम होता है कि यदि मेरा भेजा भूसे से ढका हुआ है तो तुम्हारे भेजे में भी भूसा भरा हुआ है ? बात चल रही है महाराज की, कथा सुनाने लगे सूरज की।"

"अरे घनचक्कर ! सब बात समय-समय की होती है। जो बात जिस समय होनी चाहिए उसी समय होती है। सुना नहीं था उस दिन आचार्यश्री हेमचंद्राचार्य ने क्या कहा था ?"

"सुना था।"

"हुँ। सूना था। क्या सुना था ?"

"वह तो जो तुम कह रहे हो वही तो सुना था भाई ! क्यों ज्यादा भेजा खाते हो। साफ-साफ कहो ना ?"

"कहा नहीं था आचार्यश्री ने कि बन्धुओ ! निस्वार्थ भाव से अपने शुभ कर्म करते रहो। आपका मंगल होगा। बोलो हुआ कि नहीं मंगल ?"

"आज मंगल नहीं, सोमवार है; या और कोई बार है। जो भी हो, पर मंगल नहीं है....।"

"अरे मूर्ख ! मैं वार की बात नहीं कर रहा हूँ, मैं कह रहा हूँ कि गुजरात के लिए जो मंगलकारी बात थी वह आखिर हो गई कि नहीं ? महाराज कुमारपाल आखिर अपने मंडलेश्वर त्रिभुवनपाल सोलंकी के सुपुत्र

हैं। क्या वे किसी से झगड़ा-टंटा कर सकते हैं ? अरे, जैसे मंडलेश्वर वीर और साथ ही त्यागी महापुरुष थे वैसे ही यदि ये महाराज भी परमवीर और साथ ही महात्यागी भी न निकलें तो तुम मेरा नाम बदल देना।"

"ठीक बात है। तुम्हारा नाम बदलने से गुजरात का बहुत भला हो जायगा ?"

जाने कैसी-कैसी बातें लोक में चल रही थीं। आशा, उत्साह और आनन्द का उफान-सा आ गया था उस दिन पाटन में।

उस भीड़-भाड़ में से अपने तेज तुरंग को सावधानी से निकालता हुआ और पट्टनियों की आपस की बातों के कुछ अंश जो कान में पड़ जाते थे उन्हें सुनता हुआ केशव सेनापति पाटन के नगर द्वार की ओर बढ़ रहा था।

वह अपने प्यारे पाटन का त्याग कर रहा था।

उसका कलेजा मुंह को आ रहा था।

किन्तु टूक-टूक होते कलेजे को थामे केशव सेनापति आगे बढ़ रहा था। वह बहुत दुःखी था। उदासी उसके चेहरे से स्पष्ट झलक रही थी। उसे इस प्रकार दुःखी और उदास मौन चला जाता देखकर स्थान-स्थान पर पट्टनी लोग विस्मय में डूबकर उसे देखते रह जाते थे।

किन्तु केशव सेनापति कुछ नहीं देख रहा था। उसकी अन्तर् की आँखों में दिवंगत सिद्धराज महाराज की छवि उभरी हुई थी और उसका विचार केवल एक ही बिन्दु पर केन्द्रित था—जल समाधि !

पाटन से कुछ दूर गुजरात के राजाओं की कुलदेवी कंटकेश्वरी माता का एक मन्दिर था। परम्परा थी कि सिंहासनारूढ़ होने के पश्चात् नया राजा कुलदेवी के दर्शन करने आता था। केशव सेनापति का अश्व जब उस मन्दिर के समीप से आगे जा रहे पथ पर अग्रसर था तब अचानक उसने सुना, कोई उसे ही पुकार रहा था—

"सेनापति जी ! सेनापति जी ! रुकिए तनिक। हम यहाँ हैं।"

केशव सेनापति ने मुड़कर देखा—त्यागभट्ट, त्रिलोचनपाल तथा मल्हारभट्ट कुछ वृक्षों की ओट में अपने-अपने अश्वों पर सवार थे। एक बार तो उसने सोचा कि वह चुपचाप आगे बढ़ जाए, किन्तु फिर अपने अश्व की वल्गा को मोड़कर वह उस त्रिकुटी के समीप आया। त्यागभट्ट ने कुछ आगे बढ़कर कहा—

"हम आपको ही प्रतीक्षा कर रहे थे। हमें निश्चय था कि आप अवश्य आएंगे। सेनापति जी ! इस समय तो बाजी हमारे हाथ से निकल गई है किन्तु हम शान्त नहीं बैठेंगे। हम कुमारपाल को जीवित नहीं रहने देंगे। वह इस मन्दिर में कुलदेवी की पूजा करने तो आएगा ही, और परम्परा के अनुसार उसे अकेला ही आना पड़ेगा। तब....।"

"तब क्या, त्यागभट्टजी ?"

"तब हम उसे ही माता की भेंट चढ़ा देंगे। वह आएगा किन्तु लौटकर नहीं जायगा।"

केशव सेनापति को यह सुनकर आघात लगा। उसने कहा—

"त्यागभट्टजी ! मनुष्य से भूल तो हो जाती है, किन्तु भूल को धारसु लेना चाहिए।"

"आपका तात्पर्य ? आप क्या कह रहे हैं ?"

"त्यागभट्टजो ! महाराज कुमारपाल अब गुर्जरेश्वर हैं। एक गुजराती के नाते हमें उनका आदर करना चाहिए। हमने उन्हें समझने में भूल की थी। वे गुजरात का राजा बनने के लिए ही उत्पन्न हुए हैं और उनके हाथों में गुजरात का भविष्य सुरक्षित है। हमें पिछली बातें भूलकर एक महान् गुजरात को बनाने में उनका सहयोग करना चाहिए। अब यही हमारा पुनीत कर्त्तव्य है।"

त्यागभट्ट, त्रिलोचनपाल और मल्हारभट्ट केशव सेनापति की यह बात सुनकर विस्मित रह गए। सोचने लगे कि यह अचानक इन्हें क्या हो गया। आखिर त्यागभट्ट ने कहा—

"सेनापतिजी, आप यह क्या कह रहे हैं ? महाराज सिद्धराज ने मुझे युवराज बनाया था और मैं अपना हक लेकर ही रहूँगा।"

"त्यागभट्टजी ! मुझे जो कहना था वह मैंने कह दिया। अन्तिम बात यही कह सकता हूँ कि हक तो जिसका था उसे मिल गया। अब आप यदि सच्चे गुजराती हैं तो अपने महान् पिता मंत्रीश्वर उदयन के आदर्श जीवन पर कुछ विचार कीजिए। उनके महान् त्याग से कुछ सोखने का प्रयत्न कीजिए। वे चाहते तो स्वयं गुर्जरेश्वर बन सकते थे। आपको तो राजा बना ही सकते थे। किन्तु उन्होंने पुत्र-मोह से अथवा सत्ता के लोभ से अपने देश के साथ गद्दारी नहीं की। आप लोग भी ऐसा न करें, यही मेरा अन्तिम निवेदन है।"

त्यागभट्ट और उसके साथियों पर केशव सेनापति की इस कल्याण-कारी शिक्षा का कोई प्रभाव नहीं पड़ा। त्यागभट्ट ने अभिमान के साथ कहा—

"सेनापतिजी ! आप यदि हमारा साथ नहीं देना चाहते तो न दें। हमने तो जो निश्चय किया है उसे पूरा करके ही रहेंगे। आप कुमारपाल से डर गए हैं तो....।"

"त्यागभट्टजी ! एक शब्द भी आगे न बोलें, अन्यथा जाते-जाते मेरे सिर पर एक पाप का बोझ और बढ़ जायगा। केशव सेनापति किसी से डरता नहीं है किन्तु वह विवेक से काम लेना चाहता है। आपके स्थान पर कोई और होता तो मेरा यह खड्ग उसकी जीभ काट लेता या मस्तक ही धड़ से अलग कर देता। नमस्कार !"

यह कहकर केशव सेनापति ने अपने अश्व को मोड़ा और तेजी से वहाँ से चल पड़ा।

त्यागभट्ट, त्रिलोचनपाल और मल्हारभट्ट उसके अश्व की टापों की दूर होती जाती आवाजों को सुनते और धूल को उड़ती देखते रह गए।

उसके बाद गुजरात के उस सपूत केशव सेनापति को कभी किसी ने नहीं देखा। अवश्य ही उस प्रणवीर ने अपना प्रण पूरा किया ही होगा और कहीं जाकर जल-समाधि ले ली होगी।

卐

(पन्द्रह)

महाराज कुमारपाल ने राज्य व्यवस्था को ठीक करने में एक दिन की भी देर नहीं की। एक राजा के जाने तथा दूसरे राजा के आने के बीच का सन्धिकाल किसी भी राज्य के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण और खतरनाक होता है। शत्रु देश इस ताक में रहते हैं कि अवसर मिले और अव्यवस्था का लाभ ले लिया जया।

महाराज कुमारपाल ने अपने शूर-सामन्तों को नए सिरे से सम्मानित किया। उन्हें यथोचित जागीरें अथवा अन्य पुरस्कार प्रदान किए। श्रेष्ठिवर्ग में से तथा सुयोग्य व्यक्तियों को सम्मानित किया तथा उन्हें राज्य शासन में उचित पद प्रदान किए। केशव सेनापति द्वारा रिक्त किए गए स्थान पर उन्होंने अन्यतम वीर काक भटराज को गुजरात के महासेनापति पद पर नियुक्त किया। लाट प्रदेश के उस ब्राह्मण योद्धा का स्वप्न अन्ततः पूर्ण हुआ। वह किसी दिन गुजरात का सेनापति बनना चाहता था सो अपनी योग्यता के बलबूते पर एक सामान्य भट से भटराज और भटराज से महासेनापति बन ही गया। संकटकाल में वर्षों साथ देने वाले वौसिरि को उन्होंने खंभात सौंपा।

यद्यपि शोभन मंत्री ने त्यागभट्ट के पक्ष का साथ दिया था किन्तु उन्होंने अपनी भूल जान ली थी, स्वीकार कर ली थी, अतः महाराज कुमारपाल ने उन्हें अपने स्थान पर बना रहने दिया। यह देखकर शोभन मंत्री भाव-विभोर हो गए। वे वृद्ध हो चले थे। महाराज से उन्होंने कहा था—"महाराज ! आपकी उदारता, आपका क्षमा भाव अनन्य है। आप धन्य हैं। किन्तु मैं अब वृद्ध हुआ। जीवन का शेष समय प्रभुभक्ति में ही व्यतीत करना चाहता हूँ।"

"ठीक है,"—महाराज ने उत्तर दिया था—"कुछ समय आप अपने स्थान पर रहकर कार्य कीजिए और अपने सुयोग्य पुत्र वल्लभ को कार्यदक्ष कर दीजिए। फिर आपके स्थान पर वह आ जायगा।"

इस प्रकार महाराज ने प्रमुख पुरुषों को तो यथास्थान नियुक्त किया ही और उन्हें यथोचित सम्मान प्रदान किया, किन्तु साथ ही वे उन

सामान्य से सामान्य व्यक्तियों को भी नहीं भूले जिन्होंने उन्हें उस समय कोई छोटी से छोटी मदद भी की थी जब वे निर्वासन का कष्ट भोग रहे थे और इधर से उधर भटक रहे थे। उन व्यक्तियों में कोई साधारण कृषक था जिसने उन्हें कभी दो रोटियाँ दी थीं अथवा अन्य कोई सामान्यजन था जिसने उन्हें एक रात के लिए कभी आश्रय दिया था।

गुजरात के उस महान् नृपति ने किसी भी सामान्य से सामान्य अथवा गरीब से गरीब व्यक्ति का भी विस्मरण नहीं किया। उपकार का भरपूर बदला उसने सभी को दिया।

इन परमावश्यक राजकार्यों से निवृत्त होकर महाराज कुमारपाल ने अविलम्ब आचार्य हेमचन्द्र के दर्शन करने तथा परम्परानुसार कुलदेवी कंटकेश्वरी की पूजा हेतु जाने का निश्चय किया।

किन्तु इससे भी पूर्व वे मंत्रीश्वर उदयन के साथ राजमाता लीलादेवी से मिलकर उन्हें आश्वस्त करने गए। कोई भी कर्तव्य उनकी दृष्टि से ओझल नहीं हो रहा था। लीलादेवी को आशंका थी कि अब कुमारपाल उनकी दुर्गति करेगा क्योंकि उसकी वर्षों की लम्बी भटकन में लीलादेवी का प्रमुख हाथ था। अतः वे पाटन छोड़कर काशी जाने की तैयारी कर रही थीं।

उसी समय महाराज और मंत्रीश्वर वहाँ पहुँचे। दोनों ने राजमाता को सविनय प्रणाम किया और पूछा—

"यह आप कहाँ जाने की तैयारी कर रही हैं माताजी ?"

"मैं....मैं अब काशी जाकर रहूँगी कुमार....महाराज !"

"नहीं, माताजी, महाराज नहीं कुमारपाल ही कहिए आप अपने पुत्र को। तथा हमें छोड़कर आप काशी क्यों जायेंगी भला ?"—महाराज ने कहा।

"कुमारपाल ! पुत्र ! मैंने तुम्हें बहुत कष्ट दिए हैं....।"

"नहीं माताजी, आपने मुझे कोई कष्ट नहीं दिया। जो कुछ भी हुआ वह तो विधि का विधान था, उसमें आपका क्या दोष ? गई-गुजरी बातों को भूल जाइये। आपने मुझे पुत्र कहकर मुझे धन्य कर दिया है। अब अपने पुत्र को छोड़कर कहीं जाने का विचार आप त्याग दीजिए।"

महाराज कुमारपाल की इस बात का समर्थन मंत्रीश्वर ने भी किया—

"हाँ, माताजी, महाराज ठीक कह रहे हैं। आप सुखपूर्वक राज-माता के गौरव के साथ यहीं रहिए।"

"अरे उदयन, तुम दोनों बड़े विचित्र आदमी हो। इतना क्षमाभाव तुम लोग कहाँ से ले आए हो ?"

"बस, माताजी, निश्चय हो गया। आप कहीं नहीं जायेंगी। अब मैं चलता हूँ। कुछ आवश्यक कार्य शेष हैं। प्रणाम !"

"यशस्वी बनो ! सुखी रहो...।" कहते-कहते राजमाता लीलादेवी का हृदय उन दोनों महापुरुषों के प्रति प्रेम तथा कृतज्ञता से भर आया।

× × ×

जैन स्थानक में धर्माराधन तथा सरस्वती की आराधना अहर्निश चलती रहती थी। उस पवित्र एवं शान्त धर्मस्थान पर वातावरण ही कुछ ऐसा रहता था कि जो भी व्यक्ति कुछ समय के लिए भी वहाँ चला जाता उसका हृदय बड़ी शान्ति प्राप्त करता था। पवित्र एवं पुण्य विचार उसके मन-मस्तिष्क में स्फुरित होने लगते थे।

आचार्य हेमचन्द्र की उपस्थिति से वहाँ के वातावरण में पवित्रता का सौरभ प्रवाहित होता रहता था।

महाराज कुमारपाल जब आचार्यश्री के दर्शनार्थ वहाँ पहुँचे तो राज्य सम्बन्धी अनेकों समस्याओं से घिरे उनके मन को सहज रूप से बहुत शांति का अनुभव हुआ। उन्होंने आचार्यश्री को वन्दन किया और पाट से नीचे एक स्वच्छ आसन पर बैठ गए। उनके वहाँ आने पर आचार्यश्री के कुछ शिष्यगण जो आचार्यश्री के द्वारा लिखाए जा रहे किसी ग्रन्थ का लेखन कर रहे थे वे अपना लेखन-कार्य रोककर विनयपूर्वक उस स्थान से उठकर अन्यत्र चले गए।

आचार्यवर ने राजा को 'धर्मलाभ' प्रदान करते हुए कहा—

"महाराज कुमारपाल ! अब आप पर बहुत बड़ा दायित्व आ गया है।"

"आपके शुभाशीर्वाद से मैं अपने इस गम्भीर दायित्व का निर्वाह करने में समर्थ हो सकूंगा आचार्यश्री !"

"आप अपने सामर्थ्य, अपनी योग्यता तथा अपने सद्गुणों से ही ऐसा कर सकेंगे। साधु के पास तो शुभाशीर्वाद के अतिरिक्त और होता भी क्या है ?"

"पूज्य आचार्यवर ! आपश्री के पास जो कुछ है वह तो त्रैलोक्य में किसी के भी पास नहीं है। आपके चारित्र्य की सम्पदा तो तीनों लोकों की समस्त ऋद्धि-सिद्धि से भी अधिक है। मुझ पर आपकी असीम कृपा आरम्भ से ही रही है। खंभात में उस दिन आपने मेरे जीवन की रक्षा की थी। अन्यथा आज यह कुमारपाल होता ही कहाँ ?"

"मैंने कुछ नहीं किया राजन् ! प्रारब्ध में जो था वही हुआ। वही होता है और वही होगा। किन्तु मैं कहता था कि अब आप गुजरात के राजा हैं। अब आपको अकेले अपने लिए नहीं, सारे गुजरात के लिए जीना है। बल्कि आप जैसे धर्मप्राण व्यक्ति को तो प्राणिमात्र के कल्याण के लिए कार्य करना है।"

"आज्ञा शिरोधार्य है, गुरुदेव ! आपश्री की शिक्षा व्यर्थ नहीं जायगी।"

"ऐसा ही हो। ऐसा ही विश्वास है। जयसिंहदेव भी इस बात को समझ सके थे। उनका प्रयत्न भी ऐसा ही रहा। किन्तु वे अन्त तक उलझे ही रह गए। फिर भी उन्होंने गुजरात के लिए जितना किया उतना अब तक अन्य कोई राजा नहीं कर सका था। उन्होंने गुजरात को शौर्य भी प्रदान किया और साहित्य एवं संस्कार भी। आप गुजरात को शौर्य के साथ-साथ धर्म भी प्रदान करेंगे तो आपका भी और गुजरात का भी कल्याण होगा। सोने के साथ सुहागे की बात हो सकेगी।"

"पूज्य गुरुदेव ! मैं तो किस योग्य हूँ ? एक साधारण सिपाही हूँ। एक अनगढ़ प्रस्तर शिला हूँ। इस गुजरात का वास्तविक हेम तथा स्वर्गीय सौरभ तो आपश्री ही हैं।"

आचार्य हेमचन्द्र ने तब एक मधुर स्मित के साथ कहा—

"राजन् ! परस्पर प्रशंसा के लिए समय नहीं है। वह लाभप्रद भी नहीं है। किन्तु इतना कहदूं कि इस साधारण सिपाही में से एक दिग्विजयी सम्राट तथा इस अनगढ़ पाषाणखंड में से एक मनोज्ञ मानवाकृति को प्रगट होना है। उससे लोक का कल्याण होगा।"

महाराज कुमारपाल को लगा कि जैसे आचार्यश्री ने फिर से कोई भविष्यकथन ही किया हो। वे रोमांचित-से हो आए। पल-दो पल ठहर कर उन्होंने कहा—

"आचार्यवर ! वन्दन स्वीकार करें। आज्ञा प्रदान करें।"

"हाँ, अब तुम्हें जाना चाहिए। अपनी कुलदेवी के दर्शनार्थ जा रहे हो न ?"

"हाँ गुरुदेव ! किन्तु....।"

"मुझे कैसे ज्ञात हुआ, यही न ? इसका विचार न करो। अपना कर्म करो। गुजरात के राजाओं की परम्परा शैवों की है। कोई बाधा नहीं। मैं तुम में सच्चे शिवत्व तथा श्रेष्ठ जैनत्व को साकार देख रहा हूँ। राजधर्म कठोर है। उसका निर्वाह तो तुम्हें करना ही है। किन्तु उसके साथ ही सदैव ध्यान रखना कि तुम्हारे कारण अथवा तुम्हारे रहते किसी भी निरपराध छोटे से छोटे प्राणी को भी कभी कोई त्रास न पहुँचे ?"

"ध्यान रहेगा, गुरुदेव ! अन्य कोई आदेश ?"

"धर्मलाभ ! हाँ, एक बात कहना रह गई—अपनी कुलदेवी के दर्शनार्थ अकेले जाओगे न ? यही परम्परा है। तो नगर के मुख्य द्वार से न जाकर किसी अन्य छोटे मार्ग से निकल जाना। मन्दिर में तुम्हारी कुलदेवी तुम्हारा रक्षण करेंगी।"

× + ×

भोला राजा आचार्यश्री को वन्दन करके जब स्थानक से बाहर आया तो विचार करने लगा कि आचार्यश्री ने यह अन्तिम बात किस प्रयोजन से कही होगी ? उसे ठीक से कुछ समझ में नहीं आया। किन्तु वह इतना जानता था कि कलिकालसर्वज्ञ के प्रत्येक शब्द में अर्थ रहता है और वह हितकारी ही होता है। उसे आचार्यश्री के शब्द-शब्द में अगाध श्रद्धा थी।

अतः उसने राजमार्ग को छोड़कर एक अन्य मार्ग की ओर ही अपने कदम बढ़ा दिये। उस मार्ग से चलकर नगर-प्राचीर में बनी एक छोटी सी खिड़की पर वह पहुंचा। वह खिड़की सामान्यतया बन्द ही रहती थी। किसी विशेष प्रसंग पर ही वह खोली जाती थी। अतः उस खिड़की का रक्षक प्रायः निश्चिन्त होकर लम्बी ताने रहता था।

किन्तु आज जब अचानक अकेला गुर्जरेश्वर वहाँ आया तो उसे देखकर वह रक्षक चौंककर ऐसे खड़ा हो गया जैसे उसने कोई भूत देख लिया हो। वह पहले अपनी पगड़ी सम्हाले या गुर्जरेश्वर को प्रणाम करे यह उसे कुछ समझ में नहीं आया। केवल भौंचक्का-सा वह खड़ा का खड़ा रह गया।

महाराज कुमारपाल को हँसी आ गई। उन्होंने पूछा—

"क्या नाम है तुम्हारा ?"

'देवीसिंह, अन्नदाता ! घणीखमा''''।"

"ठीक है, ठोक है। देवीसिंह, आदमी को सोने के समय सोना और जागने के समय पर जागना चाहिए। ध्यान रखना। खिड़की खोल दो।"

"अन्नदाता," कहते-कहते देवीसिंह ने कमर में बँधी चाबी निकालकर खिड़की का ताला खोला और कपाट उन्मुक्त कर दिए।

"मैं तीन-चार घड़ी में लौटकर आऊँगा, देवीसिंह !"

"अन्नदाता ! सेवक हाजिर रहेगा।"

"सोया हुआ नहीं—जागता हुआ। समझे ?"

"समझ गया, अन्नदाता ! क्षमा''''।"

बिना कुछ कहे महाराज कुमारपाल खिड़की से बाहर निकल गए।

वह रास्ता सुनसान था। कंटकेश्वरी देवी का मन्दिर कुछ दूर था। राजा अपने विचारों में तल्लीन आगे बढ़ता गया।

वास्तविकता यह थी कि त्यागभट्ट और उसके साथियों ने कुमारपाल पर घातक हमला करने के अपने षड़यन्त्र को मूर्त रूप इस प्रकार प्रदान किया था कि उन्होंने पाटन के मुख्य द्वार के बाहर कुछ हत्यारों को नियुक्त कर दिया था कि जब अकेला कुमारपाल उस द्वार से बाहर आकर आगे बढ़े तब एकान्त में उसकी जीवन लीला समाप्त कर दी जाय। त्रिलोचनपाल और मल्हारभट्ट उन हत्यारों के साथ थे कि कहीं महाराज के प्रताप के आगे उन किराए के टट्टुओं के हाथ-पैर न फूल जायं और वे उद्देश्य की पूर्ति न कर सकें।

अकेला त्यागभट्ट कंटकेश्वरी देवी के मन्दिर में एक विशाल स्तम्भ की ओट में नंगी तलवार लेकर खड़ा था कि कदाचित् कुमारपाल किसी प्रकार नगर द्वार के बाहर से बचकर मन्दिर में पहुँच हो जाय तो वहाँ से तो वह जीवित नहीं ही लौट सके। मन्दिर के पुजारी और एक कापालिक को उसने प्रभूत दान देकर अपनो ओर मिला लिया था।

निडर, निर्द्वन्द्व किन्तु सजग महाराज कुमारपाल मन्दिर पर पहुँचे। उन्हें देखकर पुजारी के हाथ-पाँव काँपने लगे। चोर के पाँव नहीं होते। किन्तु जैसे-तैसे उसने महाराज को प्रणाम किया और हाथ जोड़े-जोड़े प्रार्थना की—

"अन्नदाता ! महाराज ! पधारिये। अपनी यह तलवार यहीं देहरी के बाहर रख दीजिए, प्रभु ! कोई शस्त्र लेकर भीतर प्रवेश नहीं करना चाहिए। देवी कुपित हो जाती है।"

"अच्छा ? ठीक। चलो।" —कहकर कुमारपाल ने अपनी तलवार द्वार के बाहर ही रख दी।

किन्तु पुजारी उनके साथ भीतर नहीं गया। हाथ जोड़े हुए घबड़ाए स्वर में उसने कहा—

"महाराज ! राज-राजेश्वर ! देवी की आज की विशेष पूजा के लिए गर्भगृह में अन्य कापालिक उपस्थित है।"

"ऐसा ? अच्छा यह भी ठीक है।" —उत्तर देकर कुमारपाल भीतर चले गए।

मन्दिर के गर्भगृह में देवी की मूर्ति के समीप एक काला-सा राक्षस-नुमा कापालिक बैठा ऊलजलूल शब्दोच्चारण कर रहा था। लाल चन्दन का लेप उसके ललाट पर ही नहीं, हाथों और वक्ष स्थल पर भी था जिसे देखने से ऐसा लगता था कि जैसे किसी काली चट्टान पर लहू फैला हुआ हो। उसके गले में रुण्ड माला लटक रही थी। वह जब अपने हाथ और सिर हिलाता था तब वे रुण्ड खड़-खड़ा उठते थे। अत्यधिक मदिरापान के कारण उस कापालिक के नेत्र लाल-लाल अंगारों की भाँति दहक रहे थे। उसका यह रूप देखकर महाराज कुमारपाल को मन ही मन बड़ी जुगुप्सा हुई।

किन्तु किसी प्रकार शान्त रहकर देवी को नमस्कार करके उन्होंने उस कापालिक से कहा—

"कहो, पूजा का विधान क्या है ?"

"महाराज ! सात बकरों की बलि आपके हाथों से देवी को चढ़ाई जानी है....।"

"क्या कहा ? बकरों की बलि ? यह नहीं हो सकता।"

"किन्तु महाराज ! ऐसी ही परम्परा है....।"

"कापालिक महाशय ! गुजरात में अब ऐसी कोई परम्परा नहीं रहेगी जिससे समाज का अहित होता हो अथवा किसी भी निरपराध प्राणी को त्रास पहुँचता हो।"

"लेकिन महाराज ! कुलदेवी रुष्ट हो जायेंगी।"

"कोई देवी किसी पाप कर्म से प्रसन्न नहीं होती। प्रत्येक देव और देवी शुद्ध हृदय की शुद्ध भावना को ही ग्रहण करते हैं।"

महाराज ने दृढ़तापूर्वक कहा। कापालिक को घबराहट के मारे पसीना छूटने लगा था। उसने याचना करती-सी एक दृष्टि कुमारपाल के पीछे फेंकी।

उसी समय देवी के दाहिने हाथ में से छूटकर, हल्की हवा के साथ उड़कर एक पुष्प महाराज कुमारपाल के मस्तक पर आकर गिरा।

और उसी समय जब महाराज कुमारपाल ने देवी के दैदीप्यमान मुख की ओर अपनी दृष्टि उठाई तब उन्हें देवी के चमकते हुए नेत्रों में अपने पीछे से हाथ में नंगी तलवार लेकर झपटते हुए त्यागभट्ट दिखाई दिया।

पलक झपकते न झपकते कुमारपाल मुड़े और उन्होंने शेर की तरह उछलकर एक हाथ से त्यागभट्ट के तलवार थामे दाहिने हाथ और दूसरे से उसकी गर्दन को दबोच लिया। वह फौलादी जकड़ इतनी मजबूत थी कि त्यागभट्ट के हाथ से उसकी तलवार छूटकर 'झन्न' से मन्दिर के फर्श पर गिर पड़ी और अपनी गर्दन पर भयानक दबाव के कारण वह एक हलकी सी 'आह' करके रह गया। उसकी आँखों की पुतलियाँ बाहर निकल पड़ने को हुईं।

कुमारपाल के घृणा के साथ त्यागभटट को एक धक्का दिया। वह दूर जाकर उसी स्तम्भ से जा टकराया जिसके पीछे वह अब तक अवसर की तलाश में छिपा खड़ा था। कुमारपाल ने फर्श पर गिरी हुई तलवार उठाई और उसकी नोक त्यागभट्ट की छाती पर रखते हुए कहा –

"क्यों त्यागभट्टजी ! कायरों को शोभा दे ऐसे ही ये कुकर्म करके आप गुजरात का राजा बनना चाहते थे ? खूब सुशोभित करते आप गुजरात के सिंहासन को ! धन्य है आपकी वीरता ! धन्य है आपका विवेक ! —धिक्कार है आपको !!"

निराश, लज्जित, भौंचक्का त्यागभट्ट क्या उत्तर देता ?

कुमारपाल ही बोले—"त्यागभट्टजी ! अब यहाँ से सिधारिये। आप उदयन मंत्रीश्वर के पुत्र हैं ? उस महापुरुष के उज्ज्वल चरित्र पर यह कलंक भी लगना था कि उन्होंने आप जैसे पुत्र को जन्म दिया। विधि की लीला है। जाइये, मंत्रीश्वर का पुत्र होने के नाते आज आपको क्षमा

करता हूँ। किन्तु भविष्य में यदि गुजरात की सीमा में आपके दर्शन हुए तो गुजरात के राजा को अपने कर्तव्य का निर्वाह ही करना ही पड़ेगा। फिर न कहिएगा कि कुमारपाल ने आपको सावधान नहीं किया था।"

चाबुक की मार खाए हुए किसी श्वान की भाँति त्यागभट्ट वहाँ से चुपचाप चला गया।

उसके जाने के बाद कुमारपाल ने कापालिक की ओर मुड़कर कहा—

"कहिए कापालिक महाशय, आपकी देवी प्रसन्न हुई अथवा अभी उन्हें रक्त की प्यास शेष है ? बकरों के रक्त की बजाए तो मनुष्य का रक्त अधिक शुद्ध होता होगा ? कहें तो देवी की प्यास बुझा दूं ?"

कुमारपाल ने कथन का आशय समझकर बेचारे कापालिक के होश उड़ गए। उसका नशा तो कब का हिरण हो चुका था। वह कुमारपाल के पैरों में गिरकर गिड़गिड़ाने लगा—"महाराज ! दयालु देवता ! क्षमा ! क्षमा ! अन्नदाता ! मैं तो एक गरीब ब्राह्मण हूँ। इन त्यागभट्टजी के बहकावे में आ गया था। मुझे तथा पुजारी जी को धन देकर इन्होंने इस नीच कृत्य के लिए तैयार कर लिया था। भूल हो गई महाराज; गरीब ब्राह्मण पर दया कीजिए महाराज···!"

"उठो, उठो। जाओ अपने घर। लेकिन याद रखना कि यह पाटन है अब यहां हिंसा नहीं होगी। ब्राह्मण हो तो ब्राह्मण की तरह जीवनयापन करो, हत्यारों की तरह नहीं। समझे ?"

प्राणों का दान पाकर वह कापालिक वेशधारी ब्राह्मण गिरता पड़ता वहाँ से चल पड़ा।

मन्दिर का पुजारी कब का कहाँ हवा हो गया था, कुछ पता नहीं।

महाराज कुमारपाल ने देवी को नमन किया और पाटन की ओर चल पड़े।

□

(सोलह)

❀❀

संस्कृत भाषा में एक उक्ति है—'कुसुमादपि मृदूनि, वज्रादपि कठोराणि।' अर्थात्, कुसुम से भी कोमल तथा वज्र से भी कठोर।

महाराज कुमारपाल में महापुरुषों का यह गुण था। यथास्थान वे कुसुम से कोमल और वज्र से कठोर भी थे। किसी अनाथ, असहाय, विपन्न, रंक को देखकर उनका कुसुम-सा कोमल हृदय दुःख से भर आता था। किसी निरपराध छोटे-से-छोटे प्राणी को कोई यातना पहुँचती दिखाई देती तो उनका हृदय दया से पिघल उठता था, फूल-सा मुरझा जाता था।

किन्तु जन-कल्याण का प्रश्न जहाँ होता, जहाँ प्राणी का अस्तित्व भयग्रस्त होता, जहाँ राज्य में सुशासन की बात होती, वहाँ वे वज्र से कठोर भी हो सकते थे।

सामन्तराज तुरंगाध्यक्ष कृष्णदेव एक वीर योद्धा अवश्य था, किन्तु दुर्भाग्य से वह वज्रमूर्ख भी था। वह कुमारपाल का बहनोई था। प्रेमल देवी से उसका विवाह हुआ था और देवी जैसी प्रेमलदेवी को उस अहंकारी और तरंगी सामन्त ने किसी नगरवधू के मोहपाश में पड़कर बहुत दुःख दिये थे। कुमारपाल जब गुर्जरेश्वर बने तब उन्होंने अपनी बहन को प्रेम-भेंट के रूप में एक बड़ी जागीर दी थी।

लेकिन कृष्णदेव की आंखें तो आसमान पर चढ़ी हुई थीं। अहंकार की अब कोई सीमा नहीं रही थी। कुमारपाल के राज्याभिषेक से पूर्व ही उसने मंत्रीश्वर और कुमारपाल से घमण्ड से कहा था—'राजा तो मैं कुमारपाल को बना दूंगा, किन्तु सत्ता किसकी होगी?' मंत्रीश्वर उदयन तो जमाने के घाघ थे। यदि कृष्णदेव का अहंकार आसमान को छूता था तो मन्त्रीश्वर की दूरदृष्टि त्रिलोक का माप काढ़ती थी। कृष्णदेव द्वारा वचन माँगे जाने पर उन्होंने चतुराई से वचन दिलवा दिया था—'जो तुम्हें चाहिए वह मुझे नहीं चाहिए।"

वज्रमूर्ख कृष्णदेव मन्त्रीश्वर की चतुराई को समझ नहीं पाया था। गंगाजल हाथ में लेकर कुमारपाल द्वारा दिए गए इस वचन से वह संतुष्ट

हो गया था। वस्तुतः कुमारपाल तो कृष्णदेव को यह गोलमोल वचन भी देना नहीं चाहते थे। उन्होंने मंत्रीश्वर से कहा था—

"मेहता ! मैंने सात बार सारे भारतवर्ष का भ्रमण किया है। और अब आठवीं बार भी भटकना पड़े तो भटक लूंगा, किन्तु इस मूर्ख की सहायता से राजा बनना और उसके हाथ की कठपुतली बनकर राज्य करना मुझे स्वीकार नहीं।"

किन्तु मन्त्रीश्वर ने समझाया था—

"महाराज ! यह तो थोड़े समय की बात है। अभी कृष्णदेव को संतुष्ट कर लेने में ही आपके गुजरात का कल्याण है। फिर आप क्या जानते नहीं कि अहंकारी आदमी तो स्वयं अपने अहंकार से ही विनष्ट हो जाता है ?"

"लेकिन वह बड़ा दुष्ट है, मेहता ! उसने मेरी बहन को बहुत कष्ट दिया है।"

"जानता हूँ, महाराज ! किन्तु बहन के दुःख को अब दूर करने और उस दुष्ट की दुष्टता को समाप्त करने के लिए भी तो यह जरूरी है कि आप गुजरात की गद्दी पर आएँ। आप जब गुजरात के नाथ बनकर बैठेंगे तब गुजरात की कितनी बहनों का भला होगा यह तो विचारिए महाराज !"

और कुमारपाल ने विचार किया था।

वे अब गुर्जरेश्वर महाराज कुमारपाल थे।

किन्तु कृष्णदेव अब अपने साथी क्षत्रिय सामन्तों के बल पर सत्ता का नंगा नाच दिखाने पर आमादा हो गया था। राजा तो कुमारपाल थे, किन्तु कृष्णदेव स्वयं को राजाधिराज समझता था और वैसा ही व्यवहार करने लगा था। पूरे राजमहल में उसने अपनी सत्ता जमा रखी थी। उसने अपने अनुयायी गोध्रक पंथ के सैनिकों का जाल राजप्रासाद में फैला दिया था। उसकी आज्ञा के बिना वहाँ पत्ता भी नहीं हिल सकता था। महाराज कुमारपाल से कौन कब मिलेगा अथवा नहीं मिल सकता, इसका निर्णय भी वही करता था। वह बहुत ऊँचे सपने देख रहा था। उसके मुंहलगे सामन्त, जागीरदार और राव-राणा उसे आसमान पर चढ़ा रहे थे।

यह स्थिति असह्य थी। किन्तु शायद क्षमाशील और धैर्यवान महाराज कुमारपाल किसी सीमा तक इस स्थिति को भी निभा ले जाते।

लेकिन अन्त यहीं तक भी तो नहीं था। राजसभा हो, राजा की सवारी नगर में निकल रही हो अथवा प्रासाद का एकान्त हो, कृष्णदेव अपने मूर्खता भरे अहंकार का प्रदर्शन खुलकर करने लगा था। वह कदम-कदम पर महाराज कुमारपाल पर व्यंग्य बाणों की वर्षा किया करता था। उन्हें खुले आम अपमान के घूंट पिलाया करता था।

गुजरात के नाथ और वह भी कुमारपाल जैसे समर्थ गुर्जरेश्वर के साथ इस प्रकार का अभद्र व्यवहार करके कृष्णदेव अपनी मृत्यु को निमंत्रित कर रहा था।

राजा की सवारी जब नगर में निकलने को होती और महाराज कुमारपाल जब अपने राज गजराज कलह पंचानन पर सवार होने लगते तब कृष्णदेव उन्हें रोककर कहता—"ठहरिए, महाराज, आपको अभी राज रीति सीखनी है। पहले मुझे बैठने दीजिए।" और वह स्वयं पहले सवार होकर छत्र के नीचे जा बैठता तथा कुमारपाल के आने पर थोड़ा-सा खिसककर उन्हें स्थान दे देता, जैसे उन पर दया कर रहा हो।

लोग यह सब देखते थे, सुनते थे। कृष्णदेव के पिटठू सामन्तगण यह तमाशा देखकर हँस पड़ते थे। किन्तु स्वाभिमानी पट्टनी लोग दाँत किटकिटाने लगते थे। उन्हें गुर्जरेश्वर का यह अपमान अपनी मृत्यु से भी अधिक कड़वा प्रतीत होता था। उन्हें विस्मय होता था कि कुमारपाल जैसा वीर शिरोमणि त्रिभुवनपाल सोलंकी का बेटा, गुर्जरेश्वर, यह सब सहन कैसे कर रहा है?

किन्तु सीमा आ रही थी सहन करने की और कृष्णदेव के पाप का घड़ा बूंद-बूंद भरता जा रहा था।

सायंकाल का समय था। महाराज कुमारपाल अपने प्रासाद में अकेले विचारमग्न स्थिति में इधर-उधर टहल रहे थे। कुछ दूर एक स्तम्भ की आड़ में बर्बरक हमेशा की तरह अपने दण्ड पर दोनों हाथ और हाथों पर अपनी ठोड़ी टिकाए पत्थर की मूर्ति जैसा खड़ा था। उसकी अंगारों जैसी आँखें हर क्षण महाराज कुमारपाल पर टिकी रहती थीं।

बर्बरक ठीक इसी प्रकार सिद्धराज जयसिंहदेव के साथ और उनके आस-पास रहा करता था। यह संसार का एक आश्चर्य ही हो गया था कि महाराज कुमारपाल ने उसे साध लिया था। अन्यथा वह भूत सिद्धराज

जयसिंहदेव के अतिरिक्त अन्य किसी के प्रति भक्ति-अवनत होने वाला जीव नहीं था। कुमारपाल ने ऐसा कैसे कर लिया या उस भूत ने कुमार पाल में जाने ऐसे क्या गुण देख लिए कि वह उन्हें सिद्धराज के स्थान पर ही मानने लग गया। यह एक रहस्य ही है। सम्भव है कि कुमारपाल के क्षमा तथा दया भाव के कारण ही यह शक्य हुआ हो।

उसी समय मंत्रीश्वर उदयन वहां आए। उन्होंने महाराज कुमार-पाल को आज कुछ विशेष ही गंभीर मनःस्थिति में पाया। पूछा—

"महाराज ! क्या बात है ? आज आप कुछ विशेष विचारमग्न प्रतीत होते हैं।"

"मेहता ! अब हद हो गई है। आज निर्णय कर ही लेना पड़ेगा।"

"कैसी हद महाराज ? क्या बात है ?"

"देखो, ये मेरे कक्ष से बाहर चारों ओर, प्रासाद में, प्रांगण में, प्राचीरों पर—ये सब जो सैनिक घूम रहे हैं वे नए हैं, गोध्रक पंथ के हैं। कृष्णदेव जी ने इन्हें हाल ही में नियुक्त किया है।"

"हां, महाराज ! यह तो मैं देख रहा हूँ। किन्तु ये सब तो गुर्जरेश्वर की सुरक्षा के लिए हैं।"

"नहीं, मेहता, ये गुर्जरेश्वर को बन्दी बनाकर रखने के लिए हैं। इतना ही नहीं, कल की राजसवारी के विषय में तुमने सुना नहीं क्या ?"

"सुना है महाराज, सवारी हमेशा की भाँति निकलेगी और सरस्वती के तीर तक जायगी।"

"वह सवारी सरस्वती के पार तक भी जायगी और फिर वहाँ से कभी लौटेगी नहीं।"

महाराज कुमारपाल की यह बात सुनकर मंत्रीश्वर उदयन भी चौंक पड़े। एक-दो दिन से वे आबू, शाकम्भरी, नड्डूल तथा मालवा की हलचलों को समझने-सम्हालने में इतने व्यस्त थे कि राजमहल में इस बीच क्या कुछ घटित हो गया इसकी पूरी जानकारी वे प्राप्त नहीं कर पाए थे। उन्होंने महाराज से पूछा—

"महाराज ! यह आपने क्या कहा ? राजसवारी सरस्वती के किनारे तक जायगी, उस पार भी जा सकती है, और फिर कभी लौटेगी नहीं—इसका अभिप्राय ?"

"इसका अभिप्राय अपने तुरंगाध्यक्ष से पूछो, मेहता ! वह अभी आने ही वाला है। पूछ लेना।"

"महाराज ! शीघ्र बताइये। समय कम भी हो सकता है। जीवन भर में उदयन मेहता की इस पहली असावधानी के लिए क्षमा भी कीजिए। कहिए, महाराज, यह क्या मामला है ?"

"आप व्यस्त थे मेहता जी, आपका कोई दोष नहीं। किन्तु कृष्णदेव जी का इरादा है कि कल वे मुझे सरस्वती के पार पहुँचा दें और फिर कभी लौटने न दें। वे गुर्जरेश्वर कुमारपाल को अपने हाथ का खिलौना समझते हैं। अब वे उस खिलौने को दूर फेंककर—स्वयं गुर्जरेश्वर बन जाना चाहते हैं....।"

मंत्रीश्वर उदयन का हाथ अनजाने ही अपनी तलवार पर चला गया। पल दो पल अचम्भे और क्रोध की स्थिति में रहकर उन्होंने कहा—

"महाराज ! मैं देखता हूँ....।" इतना कहकर उदयन तेजी से मुड़कर जाने को हुए किन्तु महाराज ने उन्हें रोकते हुए कहा—

"मेहता ! चिन्ता न करो। कृष्णदेव जी अब आते ही होंगे। अब मैं ही उन्हें देख लूंगा। लो, शायद वे आ ही रहे हैं—आप उस स्तम्भ की ओट में होकर तमाशा देखिए। शीघ्रता कीजिए।"

मंत्रीश्वर उदयन अदृश्य हो गए। कृष्णदेव ने कक्ष में प्रवेश किया। उसकी आँखें रतनारी थीं और उसके कदम सीधे नहीं पड़ रहे थ। महाराज कुमारपाल ने द्वार की ओर पीठ कर ली थी और उन्होंने स्वयं को एक नई तलवार की धार परखने में व्यस्त कर लिया था।

कृष्णदेव ने महाराज के समीप पहुँचकर कहा—

"क्या हो रहा है राजा जी ? तलवार से खेल रहे हैं क्या ? अरे, देखना कहीं हाथ में चोरा न आ जाय ! तलवारों से खेलना अच्छी बात नहीं।"

"कृष्णदेवजी, आइये, यह एक नई तलवार आई है। इसे बनाने वाले ने इसका मूल्य एक कोटि स्वर्ण मुद्राएँ बनाया है। कहता था कि लोहे के स्तम्भ को केले के पेड़ की तरह न काट दे तो मेरा सिर हाजिर रहेगा।" —महाराज कुमारपाल ने कृष्णदेव के व्यंग्य की उपेक्षा करते हुए कहा।

महाराज का कथन सुनकर कृष्णदेव ने पुनः कटु व्यंग्य के साथ कहा—

"राजाजी, तलवारें तो आपने जंगलों में भटकते-भटकते अपनी भूख मिटाने के लिए बेच खाई हैं....।"

"कृष्णदेव जी, सावधान ! आप भी क्षत्रिय हैं। भवानी का अपमान न करें।"

"अरे राजाजी, मान-अपमान की बात तो रहने दो। कल तक भिखारी की भाँति चने माँगते-चबाते फिरने वाले आदमी को आज मान-अपमान भी समझ में आने लगा ?"

महाराज कुमारपाल ने असीम धैर्य का परिचय देते हुए शान्ति से कहा—

"देखो कृष्णदेवजी, ऐसी निरर्थक बातों को रहने दो। आप वीर हो, सामन्त शिरोमणि हो। गुजरात के राज्य के आधार हो। विवेक से काम लो। विवेक को दसवीं निधि कहा गया है। गुजरात के शत्रु सिर उठा रहे हैं....।"

"अरे राजाजी, आप उसमें अपना माथा क्यों खपाते हो ? वह तो मैं सब देख लूंगा। माथा खपा-खपाकर आप करोगे भी क्या ? जैसी बहन वैसा ही भाई दोनों में अक्कल है भी कितनी....?"

"कृष्णदेवजी, बहुत हो गया। आप मेरे सम्बन्धी हो इसलिए इतने दिन सहन कर लिया और अब आखिरी बार चेताए देता हूँ—आप मेरा अपमान नहीं कर रहे, गुजरात के राजा का अपमान कर रहे हैं, गुजरात की महान् प्रजा का अपमान कर रहे हैं। सावधान !"

"राजा का अपमान ? कौन से राजा का अपमान ? जो पचास बरस तक भीख माँगता फिरा ? तुम्हें राजा बनाया किसने है यह भी याद है ? वह देखो, खिड़की से बाहर देखो जरा—ये सब मेरे वीर सामन्त खड़े हैं। मेरे एक इशारे पर ये राज को इधर से उधर कर देंगे। कुमारपालजी, चुपचाप राजा बने बैठे रहो। तुम्हारा राजाधिराज मैं बैठा हूँ।"

"कृष्णदेव जी.....अन्तिम बार...सुन लीजिए, अन्तिम बार सावधान किए देता हूँ कि यह तमाशा अब बन्द कीजिए। गुजरात में एक ही राजा है। और उस राजा का अपमान करने वाला यदि स्वयं ब्रह्मा भी हो तो उसे क्षमा नहीं किया जा सकता।"

"अच्छा ? तो क्या कर लोगे तुम मेरा ? देखी है यह तलवार ?"—कहते हुए कृष्णदेव ने अपनी तलवार खींच ली।

"आपके पाप का घड़ा भर गया कृष्णदेवजी ! लो, तो अब सम्हालो," "—कहते हुए महाराज कुमारपाल ने अपनी तलवार का एक भरपूर जनेऊ-वढ़ वार किया और कृष्णदेव को एक ही झपाटे में कंधे से कमर तक चीर-कर रख दिया। वह कटे हुए पेड़ की तरह फर्श पर गिर पड़ा।

अनर्थ की जड़ को ही महाराज कुमारपाल ने अन्ततः उखाड़ फेंका।

यदि उन्होंने ऐसा न किया होता तो बर्बरक अब किसी भी क्षण उछल कर कृष्णदेव को कच्चा ही चबा जाता।

अथवा बूढ़े मंत्रीश्वर ने ही सामने आकर उस उद्धत और मूर्ख सामन्त को ललकारा होता।

गुजरात के राजा का अपमान कोई भी गुजरात का सपूत सहन कर सके, यह असम्भव था।

इधर कृष्णदेव गिरा, उधर बाहर एकत्रित षड़यंत्रकारी सामन्तों को भीतर क्या घटित हो गया इसकी कुछ भनक लगी न लगी कि महाराज कुमारपाल नंगी तलवार लिए तेजी से द्वार की ओर बढ़े। मंत्रीश्वर उदयन ने स्तम्भ की ओट से बाहर निकलकर दौड़ते हुए पुकार लगाई—

"महाराज ! महाराज ! बस, अब रुक जाइये.....।"

"नहीं, मेहता, नहीं। अब आरम्भ कर दिया है तो इस यज्ञ की पूर्णा-हुति ही करके मामूंगा। देखता हूँ कौन सामने आता है ?"—कहते हुए महा राज कुमारपाल राजप्रासाद के प्रांगण में कूद पड़े।

साक्षात महारुद्र के समान महाराज कुमारपाल को अपने ऊपर कूद-कर चढ़े आते देखकर तलवार के धनी उन सामन्तों, जागीरदारों और राव-राणाओं के होश उड़ गए। अचानक सिंह के प्रगट होने पर जिस प्रकार भेड़ों का झुण्ड भयभीत होकर भाग खड़ा होता है उसी प्रकार वे सब प्रासाद के द्वार की ओर भागे। किसी का साहस नहीं था कि वह गुर्जरेश्वर की आँख से आँख भी मिला सके।

महाराज कुमारपाल ने बर्बरक को आदेश दिया—"बर्बरक ! द्वार बन्द कर दे। इनमें से एक भी व्यक्ति बाहर न निकल पाए।"

बर्बरक तो जैसे उड़कर द्वार पर पहुँच गया। उस भूत को द्वार के बीचों बीच खड़ा देखकर सामन्तों को भागे राह न मिली। सामने वह भूत था। पीछे काल के समान कराल कुमारपाल था।

वे सब षड़यंत्रकारी सामन्त बचने का अन्य कोई उपाय न देखकर द्वार के पास बने तहखाने में भड़भड़ाते हुए उतर गए। महाराज कुमारपाल ने मंत्रीश्वर से कहा--"मेहता जी ! अब इस भूगर्भ द्वार पर अपने खम्भात का एक अच्छा ताला जड़ दीजिए और इन षड़यंत्रकारियों को प्रातः काल तक इस भूगर्भ में ही अपनी कुटिल मंत्रणाएँ करने दीजिए।

"और हाँ, मेहताजी, कृष्णदेवजी को भी सम्हाल लीजिए। यदि प्राण बचे हों तो वैद्यराज को बुलवाकर उपचार करा दीजिए अन्यथा आदर सहित उन्हें घर पहुँचा दीजिए।"

"सब हो जायगा, महाराज ! किन्तु अब आप शान्त हों।"

"मैं तो शान्त ही था, शान्त ही हूँ और शान्त ही रहूँगा मेहता जी ! आप चिन्ता न करें। किन्तु मेरे राज्य में अशान्ति उत्पन्न करने वाला कोई तत्व भी रह नहीं पाएगा इसे भी आप वज्रलेख ही समझें।"—इतना कह-कर महाराज कुमारपाल प्रासाद के भीतर चले गए।

कृष्णदेव के पतन के साथ गुजरात में भीतरी विद्रोह की प्रत्येक संभावना का अन्त हो गया। प्रत्येक सामन्त, जागीरदार, राव-राणा आदि ने भली प्रकार समझ लिया कि जो कुमारपाल बर्बरक को वश में कर सकता है और तुरंगाध्यक्ष कृष्णदेव जैसे समर्थ सेनानी को एक ही झटके में किनारे कर सकता है वह अजेय है। उससे शत्रुता मोल लेना अपनी मृत्यु को आमंत्रण देना है। अतः जो लोग कृष्णदेव के पिछलग्गू बनकर उसके बहकावे में आकर अपनी मूंछें ऐंठ रहे थे वे क्षमा मांग कर अपने महाराज की सेवा में सच्चे मन से जुट गए। उदार महाराज कुमारपाल से उन सभी को क्षमादान मिल गया था।

राजसवारी नियमानुसार दूसरे दिन भी निकली और वह सरस्वती के तीर तक गई भी। किन्तु उस दिन उसकी शोभा निराली ही थी। अब राजगजराज पर छत्र के नीचे महाराज कुमारपाल के साथ उद्दण्ड, धृष्ट, अहंकारी कृष्णदेव के स्थान पर महारानी भोपलदेवी विराजमान थीं। उन की सौम्य-सुन्दर शोभा को देखकर पाटन के निवासी हर्ष से नाच उठे थे।

भीड़-भड़क्के में लोगों को बातचीत करते सुना जा सकता था—

"क्या शोभा है भैया ! सवारी देखने का सुख तो आज ही मिला। देखो तो, महारानी जी हैं कि साक्षात देवी।"

"ठीक कहते हो भाई, ऐसा लगता है जैसे इन्द्र और इन्द्राणी ही हमारे पाटन की शोभा देखने को स्वर्ग से नीचे उतर आए हों।"

"बिल्कुल ठीक। सोलह आने सच और यह गजराज कलहपंचानन क्या ऐरावत से कम है ? देखो तो इसका रूप !"

"अरे तुम इसके रूप की बात करते हो ? कुछ जानते भी हो ? इसके गुण जानो तो झूम उठो। इस कलहपंचानन में एक हजार हाथियों का बल भी है। बस, चाहिए इसे समझने वाला महावत फिर उतार दो इसे युद्ध में पूरी की पूरी हाथियों की सेना के सामने। फिर देखो इसका पराक्रम।"

"सुना तो हमने भी है," किसी पट्टनी ने प्रसन्न-प्रसन्न होते हुए हाँ में हाँ मिलाई। "लेकिन भाई, किसी से कही नहीं तो एक बात पूछूँ ?"

दूसरे ने उसके कुछ समीप सरक कर कहा—"पूछो क्या पूछते हो?"

"मैं पूछता था····अपने तुरंगाध्यक्ष जी आज कहाँ लोप हो गए ? वे तो हमेशा अपने महाराज को एक किनारे सरकाकर खुद छत्र के नीचे बैठा करते ···थे।"

"वे गए जहाँ उन्हें उनके कदम ले गए। जहाँ रावण को राम ने भेजा था वहीं हमारे हमारे महाराज ने भेज दिया कृष्णदेव जी को भी।"

"होना ही था। ऐसा होता ही है।"—एक ब्राह्मण पंडित खड़े सवारी की शोभा देख रहे थे और उन लोगों की वार्त्ता सुन रहे थे। उन्होंने ही ये तथ्य वचन कहे थे।

एक आदमी ने उन पंडितजी को कुरेदा—"पंडित जी ! आप तो ज्ञानी हैं। ध्यानी हैं। यह सब एक रात में ही कैसे हो गया ? अपने तुरंगाध्यक्ष जी तो महाबली थे····।"

"विनाश काले विपरीत बुद्धिः"—इतना ही मंत्रोच्चारण करके पंडित जी वहाँ से चुपचाप खिसक लिए। राजनीति के चक्र में अधिक आगे न बढ़ने में ही उन्होंने अपनी कुशल समझी। न जाने कौन आदमी, किस वेश में, किसके लिए गुप्तचरी कर रहा हो ?

गुर्जरेश्वर महाराज कुमारपाल की सवारी काफी आगे बढ़ गई थी। पीछे के लोग धीरे-धीरे अपने-अपने काम-काज में लग गए। सीधे-सच्चे, स्वाभिमानी पट्टनी उस दिन बहुत प्रसन्न दिखाई दे रहे थे।

———

(सत्रह)

६ ७

पाटन में फिलहाल विद्रोह दबा दिया गया था। पाटनवासी प्रसन्न थे।

किन्तु गुजरात में एक नया राजा आया था। सर्व-समर्थ सिद्धराज जयसिंहदेव परलोक सिधार गए थे। उनके रहते गुजरात के पड़ौसी शत्रु-राज्य सिर उठाने का साहस नहीं कर सकते थे। लेकिन इस नए राजा की शक्ति को अभी किसी ने जाना नहीं था। आबू-चन्द्रावती का राजा विक्रम सिंह, शाकम्भरी का आनकराज (अर्णोराज) मालवा का बल्लाल और नड्डूल का केल्हण—ये सब अवसर की खोज में थे और सोचने लगे थे कि कल तक दर-दर भटकते फिरने वाला कुमारपाल क्या गुजरात का शासन चला पाएगा ? अभी वह स्थिर नहीं हो पाया है, और यह अवसर है कि अपने भाग्य को आजमा लिया जाय, गुजरात के टुकड़े-टुकड़े करके उसे आपस में बाँट लिया जाय।

इन लोगों में से आबू का विक्रमसिंह सबसे अधिक भयानक था। वह आस्तीन का साँप था। ऊपर से वह गुजरात का एक सामन्त राजा बना हुआ था, और था भी, किन्तु भीतर ही भीतर वह शाकम्भरी के आनकराज और मालवा के बल्लालराज को उकसाने में लग गया था।

विक्रमसिंह धूर्त शिरोमणि था। मीठा बोलते-बोलते किस प्रकार पीठ में छुरा भोंक दिया जाय यह वह खूब अच्छी तरह जानता था। उसका ठिगना कद, कुछ चपटी-मोटी नाक, मक्कारी से चमकती आँखें—ये सब प्रगट करते थे कि वह बड़ा चालाक आदमी है। पराक्रमी शत्रु से धूर्त मित्र अधिक खतरनाक होता है।

विक्रमसिंह ने आबू के ऊँचे शिखरों से गुजरात के लिए खतरे की घण्टी बजानी आरम्भ कर दी थी, जिसे शाकम्भरी का आनकराज, मालवा का बल्लाल और नड्डूल का केल्हण बड़े हर्ष के साथ सुन रहे थे और उसके सुर में सुर मिलाने के लिए उद्यत हो रहे थे।

इन्हीं परिस्थितियो में त्यागभट्ट भी पाटन से भागकर आबू जा पहुँचा।

भुस का ढेर तो इकट्ठा हो ही चुका था। एक चिनगारी की देर थी। वह चिनगारी भी आ पहुँची।

त्यागभट्ट, त्रिलोचनपाल और मल्हारभट्ट जब विक्रमसिंह के पास चन्द्रावती पहुँचे तो विक्रमसिंह मन ही मन में बहुत प्रसन्न हुआ। किन्तु वह एक ही घाघ था। अपने मन की बात वह दूसरों को बताए नहीं और दूसरे की सारी बातें उगलवाले, यह कला उसे खूब आती थी। वह फूंक-फूंककर कदम रखना चाहता था। वह त्यागभट्ट का उपयोग भी कर लेना चाहता था। और अपनी योजना उसे एकदम बताना भी नहीं चाहता था।

उसने खुले दिल से त्यागभट्ट का स्वागत किया—"पधारिये, युवराज! चन्द्रावती में आपका स्वागत है। ये दुर्गपालजी और मल्हारभट्टजी भी आए हैं, बड़ी प्रसन्नता की बात है। सिद्धराज महाराज के सच्चे स्वामिभक्त सेवक और सामन्त और करते भी क्या? किन्तु केशव सेनापतिजी का क्या हुआ त्यागभट्टजी? वे अपने प्रण से डिग जायं ऐसे पट्टनी तो वे नहीं हैं।"

त्यागभट्ट ने छोटा-सा उत्तर दिया—

"विक्रमसिंहजी, केशव सेनापतिजी नहीं आए।"

"लेकिन क्यों? वे हैं कहाँ?"

"क्यों, यह तो जानता हूँ। लेकिन कहाँ, यह किसी को ज्ञात नहीं?"

"पहेलियाँ न बुझाइये युवराज! साफ-साफ कहिए।"

"साफ-साफ ही कह रहा हूँ। केशव सेनापतिजी सिद्धराज महाराज की इच्छा को अपने प्राण देकर भी पूरा करने वाले आदमी हैं। किन्तु जब वे ऐसा नहीं कर सके तो अपना प्रण पूरा करने कहीं चले गए हैं।"

'लेकिन कहाँ? कैसा प्रण?"

"उन्होंने प्रण किया था कि या तो वे मुझे गुजरात के सिंहासन पर बिठाएंगे या जीवित ही जलसमाधि ले लेंगे। और अपना यही प्रण पूरा करने वे किस ओर निकल गए, पता नहीं।"

यह सुनकर विक्रमसिंह जैसा धूर्त और अवसरवादी आदमी भी कुछ क्षणों के लिए स्तब्ध-सा रह गया। उन कुछ क्षणों में ही उसने केशव सेना-

पति की महानता को खूब अच्छी तरह समझ भी लिया। फिर भी वह बोला—

"किन्तु त्यागभट्टजी, आपको गुजरात के सिंहासन पर बैठाने के सारे अवसर समाप्त तो नहीं हो गए। हम लोग हैं, आनकराजजी हैं, बल्लालराजजी हैं, केल्हणजी हैं—केशव सेनापतिजी भी होते तो मैदान हमारा ही था।"

"विक्रमसिंहजी, शायद इसी मैदान का ही रोना हो गया। केशवजी सीधे-सीधे युद्ध का मैदान ही पसन्द करते थे। वह भी अपने बलबूते पर। गुजरात के किसी शत्रु को गुजरात पर चढ़ाकर ले जाया जाय यह वे किसी मूल्य पर स्वीकार नहीं कर सकते थे। वे कहते थे कि एक सच्चा गुजराती गुर्जर देश का कोई भी सपूत ऐसा विचार स्वप्न में भी नहीं कर सकता। उनका मानना था कि घर के मतभेद घर में ही निबटाए जाने चाहिए। इसके अलावा....."

"इसके अलावा और क्या त्यागभट्टजी ?"

कहे कि न कहे, इस विचार में त्यागभट्ट पल-दो पल ठहरा रहा फिर उसने कहा ही—

"विक्रमसिंहजी, शायद हमसे कुछ भूल भी हो गई, और हमारी उस भूल के परिणामस्वरूप केशव सेनापतिजी को हम लोगों से संभवतः घृणा भी हो गई थी....।"

त्यागभट्ट ने कंटकेश्वरी माता के मन्दिर में घटी घटना आखिर विक्रमसिंह को बता ही दी और कहा—

"विक्रमसिंहजी, केशव सेनापतिजी को हमारी यह योजना, कुमारपाल को इस प्रकार अकेले में घेरकर धोखे से समाप्त कर देने का प्रयत्न अनुचित लगा। ऐसा मुझे उनकी अन्तिम बातों से आभास हुआ था।"

विक्रमसिंह धूर्त्त था, अवसरवादी था, लेकिन क्षत्रिय तो था ही। त्यागभट्ट ने जब कंटकेश्वरीदेवी के मन्दिर के षडयन्त्र वाली बात कही तब उसे सुनकर और सेनापति केशव के व्यवहार को जानकर उसने एक पल, मात्र एक पल के लिए ही अपनी आँख मूंदकर उस महान् देशभक्त और सच्चे वीर को मन ही मन नमन किया।

किन्तु अधिक समय तक भावनाओं में बहने वाला जीव वह नहीं

था। वह जानता था कि दुर्गपाल त्रिलोचन भी पाटन की आन पर जान देने वाला और गुजरात के गौरव की रक्षा के लिए मर-मिटने की तमन्ना रखने वाला व्यक्ति है। अतः इससे पूर्व कि पाटन का यह दुर्गपाल भी कहीं केशव सेनापति की ही राह न पकड़ ले, उसने बात को उस समय के लिए एकदम समाप्त कर देने में ही बुद्धिमानी समझी। उसने कहा—

"शाम हो गई है। त्यागभट्टजी, दुर्गपालजी, भट्टजी, आइये हमारे यहाँ अर्बुद पर्वत के ऊँचे शिखरों से ढलते हुए सूरज की शोभा को देखने में बड़ा आनन्द आता है। आइये, आपको दिखाऊँ।"

सब लोग उठ खड़े हुए। विक्रमसिंह ने सोचा कि उसने देशभक्ति की बात को एकदम उड़ा दिया है। वह अपने साथियों को अर्बुदगिरिमाला की शोभा दिखा रहा था।

किन्तु पाटन के दुर्गपाल के मन में भीतर ही भीतर कहीं कोई शल्य चुभने लगा था।

कोई शंका उसके मन में उठने लगी थी कि क्या जो कुछ वह कर रहा है वह ठीक कर रहा है?

उसे अपना पाटन, अपना गुजरात याद आ रहा था और वह विचारों में डूबने-उतराने लगा था।

× × ×

त्यागभट्ट गजविद्या का विशेषज्ञ था। हाथियों को साधने और युद्ध भूमि में उनका अधिक से अधिक लाभ उठा लेने की कला में उसका कोई सानी नहीं था।

दूसरे दिन प्रातःकाल जब मंत्रणा पुनः आरम्भ हुई तब विक्रमसिंह ने कहा—

"त्यागभट्ट जी! आप हस्तियुद्ध में पारंगत हैं। आनकराजजी के पास काफी अच्छी गजसेना है। किन्तु पाटन की गजसेना का मुकाबला वह कर सके इतनी नहीं है। हमें किसी प्रकर हजार-पाँच सौ हाथियों का इन्तजाम और कर लेना चाहिए। आप क्या सोचते हैं?"

"ठीक है। यह इन्तजाम मैं कर सकता हूँ। मुझे विन्ध्याटवी में नर्मदा के किनारे कुछ दिन खोज करनी पड़ेगी, बस।"

"तो आप अब एक दिन का भी विलम्ब न कीजिए। आज ही विन्ध्याचल की ओर निकल जाइए। वहाँ से जितने अधिक से अधिक हाथी

आप इकट्ठे कर सकें वे कर लाइये और शाकम्भरी में आनकराज जी से जा मिलिये। इधर मैं कुमारपाल को पाटन से बाहर खींचता हूँ।"

"कैसे ? वहाँ मंत्रीश्वर उदयन जैसे बैठे हैं। काक भटराज जैसे चालाक महारथी खड़े पैर उनकी आज्ञा में हैं। और विक्रमसिंह जी, मुझे तो लगता है कि यह कुमारपाल भी रखड़-रखड़कर, घिस-घिसकर काफी चतुर हो गया है। किसी धोखे में न रहिएगा। उसकी व्यावहारिक बुद्धि काफी तीक्ष्ण प्रतीत होती है।"

"होगी त्यागभट्टजी ! किन्तु उसका पाला भी विक्रमसिंह से पड़ा है। इन सबको सोता ही रख दूंगा।"

विक्रमसिंह का यह अन्तिम वाक्य सुनकर त्यागभट्ट को जिज्ञासा हुई किन्तु दुर्गपाल त्रिलोचनपाल कुछ चौंका। उसने पूछा—

"आपने क्या विचार किया है विक्रमसिंह जी ?"

"देखिए दुर्गपालजी, दीवारों के भी कान होते हैं। यह बात हमारी बस हमारे तक ही रहनी चाहिए। आप सब तो अपने हैं अतः कहने में कोई हर्ज नहीं, लेकिन सावधानी रखिएगा।"—विक्रमसिंह ने यह कहा तो त्यागभट्ट ने आश्वासन दिया—

"आप चिन्ता न करें विक्रमसिंह जी ! दुर्गपालजी और मल्हार भट्टजी तो मेरे दाएँ और बाएँ हाथ ही हैं। आप निश्चित होकर अपनी योजना बताइए ताकि हम लोग भी चेते रहें।"

तब विक्रमसिंह ने अपनी योजना बताई—

"कुमारपाल साधु हेमचन्द्र के चक्कर में पड़कर आधा अधूरा जैन ही हो गया है। यह तो आप जानते हैं न ?"

"हाँ।"

"तो मैंने यहां चन्द्रावती में एक सुन्दर जिनमन्दिर का निर्माण कराया है। उसके लिए एक भव्य समारोह का आयोजन करूँगा। कुमार पाल को उस समारोह में आमन्त्रित करूँगा। वह आएगा। अभी तो चन्द्रावती और गुजरात में मैत्री है न ? अर्बुदनरेश विक्रमसिंह अभी तो महाराज कुमारपाल का एक सामन्त है न ?"—ये वाक्य विक्रमसिंह ने बड़ी कड़बाहट के साथ कहे थे। वह आगे बोला—

"तो वह आएगा, त्यागभट्टजी ! और....और फिर वापस पाटन नहीं जाएगा....।"

त्यागभट्ट, त्रिलोचनपाल और मल्हारभट्ट, तीनों ने विक्रमसिंह की यह बात सुनी और स्तब्ध, मौन रहकर उसके मुंह की ओर देखने लगे। जहाँ त्यागभट्ट के हृदय में आशा की डोर झूलने लगी थी वहां त्रिलोचनपाल के मन में फिर से एक अजाना अवसाद-सा घिर आया था। मल्हारभट्ट के मन में क्या था यह उस समय जाना नहीं जा सका।

तीनों को चुप देखकर विक्रमसिंह ने आगे कहा—

"त्यागभट्टजी, मेरे पास यहाँ आबू के पहाड़ों में बड़े-बड़े कलाकार हैं। मैं कुमारपाल के स्वागत के लिए एक ऐसा प्रासाद खड़ा करवाऊँगा जो मेरे संकेत पर क्षण मात्र में ऊपर से नीचे तक धधक उठेगा। अब आप समझे ?"

"समझा तो सही विक्रमसिंहजी, किन्तु यह आग का खेल है। इसमें बहुत सावधानी की आवश्यकता होगी।"

"आप चिन्ता न करें। आपने अभी विक्रमसिंह की करामात देखी नहीं है, अब देखिएगा। हमारे यहां इन अरावली की उपत्काओं में बड़े गुणी आदिवासी भील रहते हैं। वे ऐसा अग्नियंत्र तैयार करेंगे कि प्रासाद के भूगर्भ में उसे आग दिखाते ही सारा प्रासाद एक साथ जल उठेगा। और रही आग से खेलने की बात, सो तो ऐसा है त्यागभट्ट जी कि राजपूत तलवार की धार से और आग से ही नहीं खेला तो फिर खेला ही क्या ?"

विक्रमसिंह के इस भीषण षड़यंत्र की बात सुनकर त्रिलोचनपाल मुरझा-सा गया। कुछ भी हो, वह पाटन का दुर्गपाल रहा था। वह सच्चा पट्टनी था। उसे अपने गुजरात से प्यार था। और उसे केशव सेनापति की बात याद थी। उनका आदर्श अब उसके सामने था। एक बार महाराज कुमारपाल को कायरों की तरह धोखे से मार डालने के षड़यंत्र में वह सम्मिलित हो गया था अवश्य, किन्तु अब उसकी आत्मा उसे कचोट रही थी। उसका क्षत्रियत्व उसे धिक्कारने लगा था। उसे लगने लगा था कि जैसे ये कायरों और हत्यारों को शोभा दें ऐसे निकृष्ट षड़यन्त्र उसकी राजपूती को धिक्कार रहे हों। उसने कहा—

"विक्रमसिंहजी, आपकी योजना तो ठीक, किन्तु क्या हम महाराज कुमारपाल को आमने-सामने के युद्ध में पराजित नहीं कर सकते ? आप हैं, आनकराजजी हैं, बल्लालराज हैं, केल्हणजी भी आ जाएँगे—इतनी शक्ति, इतना सैन्य, इतने राजा मिलकर क्या एक कुमारपास को वश में नहीं कर सकते ?"

"दुर्गपालजी ! आप तो भोले हैं। राजनीति में यह सब चलता है। जैसे भी हो, अपने शत्रु का हनन करना ही चाहिए।"—विक्रमसिंह ने उत्तर दिया।

"किन्तु विक्रमसिंहजी, वीरों की भाँति युद्ध करने तथा जघन्य हत्या करने में अन्तर तो है ही।"

"लक्ष्य एक ही है दुर्गपालजी, कुमारपाल को समाप्त करना। और वह जैसे भी हो वैसे हम करेंगे। यदि वह मेरे अग्नि-प्रासाद में से किसी भी प्रकार जीवित बचकर चला ही गया तो फिर रणक्षेत्र तो है ही।"

"हाँ, दुर्गपालजी, अब अधिक सोचने-विचारने का समय नहीं है।"—त्यागभट्ट ने कहा।

"यही मैं कहने वाला था," विक्रमसिंह बोला, "त्यागभट्टजी, अब आप लोगों को यहाँ से प्रस्थान कर देना चाहिए। कुछ भी हो, उदयन की आँख बहुत तेज है। यदि उसे पता चल गया कि आप लोग यहां हैं तो वह चेत सकता है। उसे हमारी योजना की भनक लग सकती है।"

"ठीक है विक्रमसिंहजी, हम लोग चलते हैं। विन्ध्याटवी से हाथी एकत्रित करके हम आनकराजजी के पास शाकम्भरी पहुँचते हैं। फिर आगे देखा जायगा।"—कहकर त्यागभट्ट उठ खड़ा हुआ। उसके साथ ही त्रिलोचनपाल और मल्हारभट्ट भी खड़े हो गए।

उन्हें विदा करते हुए विक्रमसिंह ने कहा—"यहाँ के समाचार आपको शाकम्भरी में मिल जायँगे। तैयार रहिए। अब पीछे हटने का समय नहीं है दुर्गपालजी !"

त्रिलोचनपाल ने कोई उत्तर नहीं दिया। वह चुपचाप अपने अश्व की कांठी को ठीक-ठाक करने में व्यस्त रहा।

कुछ समय पश्चात् तीनों तीव्रगामी अश्व अरावली की पर्वतमालाओं के पार दूर विन्ध्याचल गिरिमाला की दिशा में दौड़े चले जा रहे थे।

\+ \+ \+

शाकम्भरी का राजा आनकराज दिखने में छोटे-मोटे पहाड़ जैसा और स्वभाव से बड़ा अक्खड़ व्यक्ति था। महाराज सिद्धराज जयसिंह ने उसे भीषण पराजय दी थी और मुंह में तिनका लेकर उसे गुजरात के नाथ से दया की भिक्षा मांगनी पड़ी थी।

किन्तु वह सोचता था कि वे दिन अब गए। कल तक इधर-उधर भटकते फिरने वाला कुमारपाल क्या राज करेगा ? वह तो साधु हेमचन्द्र का भक्त होने के नाते उदयन मन्त्री की कृपा से ही राजा बन गया है। उसमें गुजरात का राज्य चलाने की अपनी स्वयं की शक्ति क्या होगी ?

अतः वह अक्खड़ राजा अपने व्यवहार में अब अपनी असलियत प्रगट करने लगा था। बात-बात में वह महाराज कुमारपाल के लिए अपमानजनक शब्द कह देता था। उसके मन में यह विश्वास बैठ गया था कि अब तो पाटन पर चढ़ दौड़ने की ही देर है। फिर वह कुमारपाल को वहाँ से भगाकर शाकम्भरी को फिर से स्वतन्त्र राज्य बना लेगा। उसे अपनी शक्ति का घमंड था और वह कुमारपाल की शक्ति को जानता नहीं था।

उसकी एक रानी देवलदेवी महाराज कुमारपाल की बहन थी। उसे आनकराज का यह व्यवहार ठीक प्रतीत नहीं होता था। वह उसे समझाती भी थी किन्तु अक्खड़ आनकराज पर कोई प्रभाव पड़ नहीं रहा था।

आनकराज सम्हल जाय और विवेक से काम ले, इस बात की संभावना नहीं थी। और पाटन की बेटी पाटन का अपमान सहन करती चली जाय यह भी असम्भव था।

विस्फोट अवश्यंभावी था।

एक दिन ऐसा ही हो भी गया।

चाँदनी रात में शाकम्भरीनरेश अपनी रानी देवलदेवी के साथ चौसर खेल रहे थे। अपने उद्धत और अक्खड़ स्वभावानुसार वे बात-बात में गुजरात और महाराज कुमारपाल के सम्बन्ध में हलके शब्दों का प्रयोग कर लेते थे। देवलदेवी ने उन्हें एक-दो बार टोका भी—"महाराज ! आप चौसर खेलिए। निरर्थक बातें करने से क्या लाभ ?"

किन्तु आनकराज पर कोई असर नहीं हो रहा था। आखिर एक बार जब उसने महारानी का एक गोट पीट लिया तो वह बोला—

"लो, मैंने यह मूंडके को मूंड लिया।"

उसका संकेत जैन साधुओं की ओर था, विशेष रूप से आचार्य हेमचन्द्र की ओर। यह सुनकर देवलदेवी का क्रोध सीमा से बाहर हो गया। वह आचार्य हेमचन्द्र जैसे पुण्यात्मा महापुरुष के प्रति ऐसे अपशब्द सहन न कर सकी। उसने उत्तेजित होकर कहा—

"बस, महाराज, अब हद हो गई। आप राजा हैं, मेरा भाई कुमारपाल राजा है। राजा लोग आपस में निबटते रहें, मुझे कोई कोई मतलब नहीं। किन्तु आप गुरुदेव के प्रति एक भी अपमानजनक शब्द बोलें यह मैं सहन नहीं कर सकती।"

"सहन नहीं कर सकती तो क्या कर लेगी ? और तेरा वह राजा—वह भिक्षुक, चने और सत्तू माँग-माँग कर खाने वाला वह द्वार-द्वार का भिखारी कहाँ का राजा बन गया ? उस दद्रुपीड़ित को वे दिन भूल गए क्या ?"—अनकराज ने कहा।

देवलदेवी ने तपाक से उत्तर दिया—"महाराज ! कुमारपाल वे दिन भूला या नहीं यह तो आपको अब जल्दी ही मालूम पड़ जायगा। किन्तु शायद आप ही वह दिन भूल गए हैं जब मुंह में तिनका लेकर जानवर की तरह आपने सिद्धराज से अपने प्राणों की भीख मांगी थी और शायद आप वह दिन भी भूल गए हैं—जब मालवा के रणक्षेत्र से कायरों की तरह दुम दबाकर भाग खड़े हुए थे····।"

"बस-बस, अधिक जबान चलाने की आवश्यकता नहीं। जा अपने उस भिखारी भाई के पास और कह दे उससे कि हिम्मत हो तो आ जाय मैदान में····।"

"जा रही हूँ। इसी घड़ी, इसी क्षण जा रही हूँ। यहां का पाप में डूबा अन्न और जल अब मेरे लिए हराम है। अब यहाँ लौटूंगी तो शाकम्भरी विजेता के साथ—सावधान ! शाकम्भरीराज, सावधान।"

चौसर उलटकर छेड़ी गई सिंहनी के समान देवलदेवी वहाँ से चल पड़ी। सीधी प्रासाद से बाहर आकर उसने आवाज दी—"गोविन्दराज ! मेरी युद्धभद्री तैयार कर ला। मैं इसी क्षण पाटन जा रही हूँ।"

सामन्त गोविन्दराज सकते में आ गया था। किन्तु देवलदेवी की अटल निश्चयात्मक मुखमुद्रा देखकर वह चुपचाप जाकर साँड़नी सजा लाया।

देवलदेवी ने एक घूंट पानी भी नहीं पिया। वह साँड़नी पर सवार हुई और एक घटिका में एक योजन की दूरी पार कर लेने वाली पवनपंखी युद्धभद्री पाटन की दिशा में उड़ चली।

× × ×

देवलदेवी जब पाटन पहुँची तो उसे देखकर महाराज कुमारपाल

बहुत प्रसन्न हुए। वर्षों बाद उनकी बहन की सूरत उन्हें दिखाई दी थी। वे बोले—

"अरे देवल, तू आ गई, बहुत अच्छा हुआ। मैं तुझे कितना याद करता था? वहाँ शाकम्भरी में सब कुशल तो है न? आनकराजजी कैसे हैं?"

"भाई! मैं आ गई हूँ। शाकम्भरीराज को कह आई हूँ कि अब जब वहाँ लौटूंगी तब शाकम्भरीविजेता महाराज कुमारपाल के साथ ही लौटूंगी।"

"अरे देवल, ऐसा क्या हो गया?"

"क्या बताऊँ भाई, शाकम्भरीराज का अभिमान बहुत बढ़-चढ़ गया है। वे तुम्हारा, पाटन का और यहां तक कि गुरुदेव हेमचन्द्राचार्यजी का भी अपमान बात-बात में करते हैं। मैं, गुजरात की बेटी यह सहन नहीं कर सकी।"

"ऐसा? तब तो तूने ठीक ही किया। सुख से रह। आनकराजजी को एक पाठ और अब पढ़ाना ही पड़ेगा। यहां पाटन में भी सब समाचार पहुँच तो रहे हैं किन्तु यह तूने ही बताया कि शाकम्भरीराज के भी पंख निकल रहे हैं। अच्छा, तू थक गई होगी। आराम कर। मैं कुछ कामकाज देखलूं जरा।"

"भाई, अब युद्ध के अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग शेष नहीं रहा।"

"चिन्ता न कर। वह तैयारी तो हो ही रही है। आबू होते हुए मालवा तक जाना है। बीच में शाकम्भरीराज से भी मिलना हो ही जायगा। जा, निश्चित रह।"

देवलदेवी रनिवास में चली गई।

उसी समय काक भटराज को साथ में लिए हुए मंत्रीश्वर उदयन वहां आए। आते ही उन्होंने महाराज को प्रणाम करने के पश्चात् कहा—

"महाराज! चन्द्रावती से निमन्त्रण आया है। विक्रमसिंह ने एक समारोह आयोजित किया है। संगमरमर के सुन्दर, श्वेत पाषाणों से उसने एक जिनमन्दिर वहां बनवा दिया है। उसी उपलक्ष्य में उसने आपको वहां बुलवाया है।"

"ठीक है मेहताजी, यह भी ठीक ही है। मुझे लगता है कि अब एक ही साथ सारे काम निबटा लेने पड़ेंगे।"—महाराज ने उत्तर दिया।

"किन्तु प्रभु ! शाकम्भरी और मालवा भी तो सुलग रहे हैं। नड्डूल के केल्हण का भी कोई भरोसा नहीं। और यह विक्रमसिंह तो मीठी छुरी है। वह लोमड़ी के जैसा मक्कार और चीते के समान चालाक है। वह कहता क्या है और करता क्या है, इसका कुछ पता नहीं लगता।"

"इस बार यह पता ठीक से लगा लेना है मेहताजी ! उसे कहलवा दीजिए कि कुमारपाल आ रहा है।"

"किन्तु महाराज ! आप इस समय पाटन से बाहर जायँ तो चारों ओर से शत्रु अवसर का लाभ लेने के लिए उतावले बैठे हैं। हमारा प्रत्येक कदम बहुत सोच समझकर उठाया जाना चाहिए।"

"मैंने तो सोच लिया है मेहताजी, आप भी सोच लीजिए। लेकिन मेरा विचार है कि यदि हम चुपचाप बैठे रहे तो इन लोगों की हिम्मत बढ़ती ही चली जायगी। मुझे तो अब एक प्रहार और दो टुकड़े के अलावा और कोई रास्ता ठीक दिखाई नहीं देता।"

महाराज कुमारपाल का यह कथन सुनकर मंत्रीश्वर उदयन उनके अदम्य आत्मविश्वास की मन ही मन प्रशंसा किए बिना न रह सके। फिर भी उन्होंने अन्तिम रूप से निर्णय लेने से पूर्व कुछ और समय प्राप्त करने की दृष्टि से काक भटराज से कहा—

"क्यों काक, तुम चुप हो, क्या सोचते हो ?"

महाराज कुमारपाल ने भी कहा—"हाँ काक, अब तुम गुजरात के सेनापति हो। बोलो, तुम्हारी राय क्या है ?"

"महाराज ! मुझसे पूछते हैं तो फिर मैं कहूँगा कि एक दिन की देर करने में भी अब हानि हमारी ही है। त्यागभट्टजी उधर शाकम्भरी की तरफ गए हुए हैं। ये सब लोग मिलकर अपनी शक्ति एकत्र करें इसके पूर्व ही हमें बाघ को उसकी गुफा में धर दबोचना चाहिए।"

"देखा मेहताजी, काक भटराज ने भी मेरे कथन का समर्थन कर दिया है। अब आप कहिए कब चलना है ? हमारी रणनीति क्या होगी ?"

"महाराज ! विचार तो मैं भी कर चुका था, बस पुनर्विचार ही कर रहा था। अब जब निर्णय हो ही चुका है तो फिर ऐसा रहेगा कि महामात्य महादेव पाटन की रक्षा करेंगे। पर्याप्त सैन्य के साथ वे यहीं रहेंगे। मैं और वागभट्ट आपके साथ चन्द्रावती चलेंगे और वहीं से

शाकम्भरी। काक भटराज, काक सेनापति, ईलदुर्ग होते हुए उधर बल्लाल के सिर पर जा चढ़ेंगे। उसे उसकी मांद से बाहर नहीं निकलने देना है। क्यों काक, कर लोगे यह काम ?"

"मंत्रीश्वर ! आपका शिष्य हूँ। और आप ही तो कहा करते हैं कि काक और काम—ये तो एक ही वस्तु के दो नाम हैं।"

"ठीक है," मंत्रीश्वर उदयन ने कहा "तब ऐसा करना कि उस बल्लाल को मालवा से ठेठ कर्नाटक तक खदेड़कर ही आना जहां से वह आया था। समझे ?"

"ऐसा ही होगा, मंत्रीश्वर !"

"और रास्ते में नडूल के केल्हण को कह देना कि वह चन्द्रावती के मार्ग में अपने सैन्य सहित महाराज से आकर मिले। उसका पानी भी माप लेना है।"

काक सेनापति को यह आदेश देकर मंत्रीश्वर उदयन ने महाराज कुमारपाल से कहा—

"महाराज ! आदेश दें तो कच्छ के रा' को भी कहला दूं कि वे भी आपसे चन्द्रावती में आकर मिल जायँ।"

"ठीक ही रहेगा। ये लोग साथ रहेंगे तो इन पर अपनी दृष्टि भी बनी रहेगी।" महाराज कुमारपाल ने अपनी सम्मति प्रदान की।

"इसी दृष्टि से ऐसा सोचा है, महाराज ! अन्यथा विक्रमसिंह और शाकम्भरीराज के लिए तथा यदि और भी कोई आना चाहे तो उसके लिए भी आप अकेले ही काफी हैं।"

"यदि मंत्रीश्वर उदयन मेरे साथ में हों तो।" —कहकर महाराज कुमारपाल हँस पड़े।

उदयन ने कहा—

"यह तो आपकी कृपा है प्रभु ! वरना यह मारवाड़ी ऊदा मेहता क्या चीज है ? तराजू के बाँट इस पलड़े से उस पलड़े में करता रहे बस।"—मंत्रीश्वर ने विनम्रतापूर्वक उत्तर दिया।

●

(अठारह)

वर्षों पूर्व मारवाड़ के किसी ग्राम से केवल एक लोटा-डोर लेकर आजीविका की खोज में आया ऊदा मेहता आज गुजरात के अधीश्वर के बाद राज्य का सबसे अधिक शक्तिशाली व्यक्ति था।

महाराज सिद्धराज जयसिंहदेव के समय से आज तक उसने कितनी तराजुओं के कितने पलड़ों को ऊपर-नीचे कर दिया था इसका साक्षी तो इतिहास ही है।

पर जब मारवाड़ से गुजरात आया था तब लोटा-डोर के अतिरिक्त उसके पास एक और भी वस्तु थी—उसकी बुद्धि। अवसर को अचूक पकड़ लेने की प्रत्युत्पन्नमति।

अब एक और अवसर आ गया था जब उसकी बुद्धि की चमक गुजरात के शत्रुओं को एक बारगी ही चकाचौंध कर देने वाली थी।

महाराज कुमारपाल का सैन्य चन्द्रावती के बाहर पहुँचकर पड़ाव डाल चुका था। मंत्रीश्वर उदयन की एक आँख नडूल के केल्हण पर थी जो अपना सैन्य लेकर आ गया था और उनकी दूसरी आँख विक्रमसिंह की गतिविधियों पर थी।

क्या उनके पास कोई तीसरी आँख भी थी ?

यदि थी तो वह चारों ओर घूम रही थी—शाकम्भरी, मालवा, मेदपाट (मेवाड़) और कर्नाटक।

महाराज कुमारपाल आ पहुँचे हैं यह समाचार जानकर विक्रमसिंह उनकी अगवानी के लिए आया और बड़े भक्तिभाव से उनसे मिला। महाराज के आगमन से उसे अत्यन्त हर्ष हुआ हो, महाराज ने उस पर बड़ी कृपा की हो, ऐसे भाव प्रगट करता हुआ वह आया और बोला—

"महाराज ! आपने मुझ पर बड़ी कृपा की। इस सेवक की प्रार्थना पर आप पाटन से इतनी दूर चले आए यह आपका उपकार मैं कभी नहीं भूलूंगा।"

उत्तर मंत्रीश्वर ने ही दिया—

"विक्रमसिंहजी, आपने बुलाया तो महाराज आते कैसे नहीं ? आप तो गुजरात के स्तम्भ हैं। चन्द्रावती गुजरात का द्वार है। और कहिए, इधर के क्या समाचार हैं ?"

"सब कुशल है मंत्रीश्वर। आज रात्रि को हमारा समारोह देखेंगे तो आपका मन बहुत प्रसन्न होगा। आजकल चाँदनी रातें हैं। मैंने जो मन्दिर बनवाया है उसकी शोभा चाँदनी रात में चौगुनी हो जाती है। दूध जैसा सफेद संगमर्मर चाँदी जैसा चमकता है....।"

मंत्रीश्वर उदयन विक्रमसिंह की बात सुन रहे थे और उसकी धूर्तता भरी आँखों में जो चमक थी उसे देख रहे थे। बोले—

"अच्छा विक्रमसिंहजी, तब तो बड़ा आनन्द आएगा। आपका आयोजन आज का ही है न ?"

"हाँ, मंत्रीश्वर, आज पूर्णिमा है। सभी तरह से शुभ ही शुभ है। रात्रि का एक प्रहर व्यतीत होने पर महाराज पधारें। मैंने महाराज के स्वागत के लिए एक छोटा-मोटा नया ही प्रासाद भी मन्दिर के ठीक सामने ही बनवा लिया है। हमारे यहाँ अर्बुदगिरि में बड़े-बड़े श्रेष्ठ कलाकार हैं यह तो आप जानते ही हैं। महाराज उनकी कला का कमाल आज देखेंगे।"

"अवश्य देखेंगे विक्रमसिंहजी, इसीलिए, तो महाराज पधारे हैं। वैसे महाराज गुर्जरेश्वर ने भारतवर्ष के बड़े-बड़े कलाकारों को देखा है। आज आपकी कला भी देखेंगे। आप निश्चित रहिए। अपनी तैयारी रखिए।"

विक्रमसिंह कोई भोला-भाला जीव नहीं था। वह मंत्रीश्वर उदयन की विचक्षण गहरी दृष्टि के विषय में भी भली भाँति जानता था। अतः उनकी बात सुनकर वह थोड़ा मन ही मन में काँप गया। उसे कुछ सन्देह हुआ कि इस विचक्षण मारवाड़ी ने कहीं मेरी योजना के विषय में किसी प्रकार जान तो नहीं लिया है ? यदि ऐसा हुआ तो सब किया-कराया धूल तो हो ही जायेगा, जान के लाले भी पड़ जायेंगे।

पल दो पल के लिए उसके मन में यह आशंका जागी और मंत्रीश्वर ने उसके मस्तिष्क में चल रही इस विचार-सरणि को ऐसे पढ़ लिया जैसे कोई पुस्तक पढ़ी जाती है। फिर उन्होंने कहा—

"अच्छा विक्रमसिंहजी, अब आप भले ही पधारें, आपको बहुत से काम होंगे। आखिर आपने गुर्जरेश्वर महाराज को घर बुलाया है। आपने एक प्रहर रात जाने पर आने को कहा है न ? ठीक है।"

विक्रमसिंह ने अब वहाँ से चुपचाप चल देने में ही कुशल समझी। उसे भय था कि बातों ही बातों में यह मारवाड़ी मेहता—गुजरात का यह सबसे भयानक मंत्री—जाने उसके मुख से क्या-क्या निकलवाले। सो वह फौरन उठ खड़ा हुआ और हाथ जोड़कर महाराज कुमारपाल से बोला—

"अच्छा महाराज ! तो सेवक आज्ञा लेता है।"

"हाँ हाँ, विक्रमसिंह जी, पधारिये। लेकिन हाँ, इधर अपने आनकराज जी के क्या हाल हैं ? सुना है उनका स्वास्थ्य कुछ ठीक नहीं है।"—महाराज कुमारपाल ने कहा।

विक्रमसिंह इस प्रश्न को सुनकर कुछ घबराया-सा दीखा, क्योंकि इस प्रश्न में निश्चित रूप से व्यंग्य छिपा हुआ था। उसने उत्तर दिया—

"महाराज ! मैंने तो कोई ऐसी बात नहीं सुनी····।"

"अरे, आप उनके इतने समीप हैं और आपको पता नहीं ? खैर, हो सकता है। हमने तो पाटन में सुना कि उन्हें आजकल कुछ दौरा-सा पड़ने लगा है और उसके दिमाग में गरमी कुछ अधिक बढ़ गई है।"

"महाराज !····।"

"विक्रमसिंहजी, चिन्ता की कोई बात नहीं है लेकिन आपका आज का यह आयोजन पूर्ण हो जाय फिर हमारा उधर ही जाने का विचार है। उनकी तबियत का हाल-चाल पूछ लेंगे। अब इतनी दूर आ ही गए हैं तो शाकम्भरी भी होते जायेंगे। आप भी हमारे साथ चलिएगा।"

"हाँ, हाँ, महाराज, अवश्य। आपका आदेश है तो अवश्य चलूंगा।" विक्रमसिंह ने उत्तर दिया और महाराज को प्रणाम कर वहाँ से विदा हो गया।

उसके चले जाने पर महाराज कुमारपाल ने मंत्रीश्वर उदयन से से पूछा—

"मेहता जी, दाल में कुछ काला दिखाई देता है क्या ? आपकी बातों से तथा विक्रमसिंह के रंग-ढंग से मुझे कुछ ऐसा ही अनुमान हो रहा है।"

"महाराज ! आपका और मेरा अनुमान ठीक ही होगा, ऐसा मुझे लगता है। यह विक्रमसिंह बड़ा धूर्त आदमी है। त्यागभट्ट भी इधर से होकर गया है तथा आनकराज जी अकड़ रहे हैं। इन सब बातों को देखकर मुझे विश्वास हो चला है कि कहीं-न-कहीं कोई गड़बड़ है अवश्य। वह

क्या है तथा विक्रमसिंह की क्या योजना है वह हमें शीघ्र ही ज्ञात हो जायगा। मैंने वीरभद्र को इस काम पर लगा रखा है।"—मंत्रीश्वर ने कहा।

"किन्तु वह तो कहीं दिखाई नहीं दे रहा।"

"वह अब आता ही होगा महाराज!"

उसी समय द्वारपाल ने हाथ जोड़कर निवेदन किया—

"महाराज! एक कोई भूत जैसा भील आया है। कहता है कि मुझे मंत्रीश्वर से मिलना है। मैंने उसे भगाना चाहा किन्तु वह टलता ही नहीं। कहता है मंत्रीश्वर से बहुत आवश्यक कार्य है।"

मंत्रीश्वर उदयन फौरन समझ गए कि यह वीरभद्र ही होना चाहिए उन्होंने कहा—

"महाराज! इस व्यक्ति को भीतर आने दीजिए। देखें तो कौन है?"

"उसे भीतर भेज दो।"—महाराज कुमारपाल ने द्वारपाल को आज्ञा दी। वह शीश झुकाकर चला गया और दूसरे ही क्षण एक भील ने शिविर के अन्दर प्रवेश किया।

वह कोई भील ही था। जो कोई भी देखता वह सीधा और साफ तौर पर समझ सकता था कि वह कोई जंगली भील ही है।

किन्तु उदयन की आँख सामान्य लोगों की आँख से कुछ अधिक देख लिया करती थी। उस आँख ने भोल वेशधारी वीरभद्र को क्षणमात्र में पहचान लिया और उनके चेहरे पर आश्वासन का भाव आ गया। उन्होंने कहा—

"वीरभद्र! क्या समाचार है?"

महाराज कुमारपाल को एकदम आश्चर्य हुआ। उन्होंने भी वीरभद्र को भील ही समझा था। वे बोले—

"आश्चर्य है। वीरभद्र, मैं तो तुझे पहचान ही नहीं पाया। शाबाश! हाँ तो क्या समाचार है?"

"महाराज! मंत्रीश्वर! विक्रमसिंहजी धोखा कर रहे हैं।"

"हूँ....तो अनुमान सत्य निकला," मंत्रीश्वर बोले, "क्या योजना है उसकी?"

"विक्रमसिंहजी ने आज के समारोह में महाराज के स्वागत के लिए जो प्रासाद तैयार कराया है उसके तल में अग्नियंत्र लगाए गए हैं जो क्षण मात्र में सारे प्रासाद को अग्नि की ज्वालाओं से घेर सकते हैं।"

"किसने तैयार किए हैं ये अग्नियंत्र ?"

"प्रभु ! अरावली की गिरिमालाओं में आदिवासी भील रहते हैं। अपना बर्बरक है न, उसी के जाति बन्धु। वे ऐसे कामों में बड़े दक्ष होते हैं। यह कारस्तानी उन्हीं लोगों से विक्रमसिंहजी ने कराई है। मुझे इस षड्-यंत्र की तह तक जाने में काफी कठिनाई आई।"

"फिर ! तूने कैसे जाना ?"

"प्रभु, आप देख रहे हैं मेरा यह वेश। भील लगता हूँ न ? बस मुझे भी उनका भाईबन्द बनना पड़ा। ये भील देसी मदिरा के बहुत प्रेमी होते हैं। यह मैं जानता था। उसी का सहारा लेकर एक-दो भीलों के मुख से इस भयानक षड्यंत्र की बात उगलवाकर आया हूँ।"

"ठीक है, वीरभद्र, आज तूने बहुत बड़ा काम किया है। जा, अब विश्राम कर। लेकिन आपसास ही रहना।" मंत्रीश्वर ने वीरभद्र को विदा किया और फिर महाराज कुमारपाल से कहा—

"महाराज, देखा आपने इस विक्रमसिंह को ? कहता था न कि हमारे यहाँ इस अर्बुद गिरिमाला में बड़े-बड़े कलाकार हैं। यही है उसकी कलाकारी।"

"चिन्ता नहीं, मेहता, इसे भी अब ठिकाने लगाना पड़ेगा सो लगा देंगे।"

"शाकम्भरी से लौटने पर, महाराज ! पहले नहीं। शाकम्भरी तक तो इसे अपने साथ ही ले चलना है। वरना यह दगाबाज पीछे से हमला कर सकता है। साथ में रहेगा तो नजर में रहेगा।"

"ठीक है, मैंने भी यही सोचा था। आनकराजजी से युद्ध अनिवार्य है। उस युद्ध में इस विक्रम और नड्डूल के केल्हण दोनों पर दृष्टि रखनी होगी।"

राजा और मंत्री दोनों में कुछ देर तक विचार-विमर्श और भी चलता रहा। विक्रमसिंह के षड्यंत्र से पार पाने के विषय में महाराज कुमारपाल ने मंत्रीश्वर से पूछा—

"अब इस मक्कार के आज के समारोह को कैसे पताना है ?"

"हाँ, महाराज, उसका इन्तजाम अभी किए देता हूँ," कहकर मंत्रीश्वर ने आवाज दी—"कोई है ?"

द्वारपाल तत्क्षण उपस्थित हुआ। मंत्रीश्वर ने उसे आदेश दिया—

"महाराज को कुछ अस्वस्थता का अनुभव हो रहा है। शीघ्र ही किसी को भेजकर राजवैद्यजी को बुला लाने को कह दे। ऐसा कर, भीमसिंह को ही भेज दे यहाँ। मैं उन्हें समझा देता हूँ।"

महाराज की अस्वस्थता की बात सुनकर द्वारपाल का चेहरा उतर गया। वह लपककर गया और उसने महाराज के अंगरक्षक भीमसिंह को भीतर भेज दिया। मंत्रीश्वर ने उसे समझाकर तुरन्त वैद्यराजजी को बुलाने के लिए रवाना कर दिया। उसके चले जाने पर महाराज कुमारपाल ने मंत्रीश्वर से पूछा—

"यह क्या चक्कर चलाया है तुमने मेहता ? मैं तो अच्छा-भला बैठा हूँ।"

"जिनदेव की कृपा से आप सदैव अच्छे-भले ही रहेंगे, महाराज ! किन्तु विक्रमसिंह को सम्हालना है न ? शाम होने को है। रात में समारोह में आप अचानक कुछ अस्वस्थता के कारण जा नहीं पाएँगे। मैं जाकर विक्रमसिंह को ठीक कर आऊँगा। उसे शक न हो, वह चेत न जाय, इसलिए इस बहाने की आवश्यकता है। उसके गुप्तचर आसपास अवश्य घूम रहे होंगे। आनकराजजी के गुप्तचर भी होने चाहिए।"

महाराज कुमारपाल समझ गए।

गुजरात के सैन्य-शिविर में हलके-हलके महाराज की अस्वस्थता का समाचार फैल गया।

रात आई। पूर्णिमा थी, चन्द्रिका छाने लगी, किन्तु सघन वृक्षों के बीच स्थित गुजरात के सैन्य शिविर में अंधकार ने भी अपना प्रभाव जमाना आरम्भ कर दिया था। उसी समय गुजराती सैन्य के दो-चार प्रहरी एक गुप्तचर को पकड़कर महाराज कुमारपाल के शिविर में लाए। उनके नेता ने हाथ जोड़कर निवेदन किया—

"महाराज ! यह व्यक्ति कोई शत्रु का गुप्तचर प्रतीत होता है। अपनी छावनी में इधर से उधर घूमता हुआ पकड़ा गया है।"

उस आदमी की हुलिया ऐसी थी कि जैसे वह कहीं दूर से बहुत शीघ्रता में भागता-दौड़ता वहाँ तक पहुँचा हो। उसके वस्त्र अव्यवस्थित थे। शरीर पर यात्राजन्य धूल-कीचड़ जमे हुए थे। बाल बढ़े हुए थे।

महाराज और मंत्रीश्वर ने ध्यान से उस व्यक्ति को देखा और प्रहरियों के बाहर चले जाने के बाद महाराज ने कड़क आवाज में पूछा—

"कौन हो तुम ?"

किन्तु उसी के साथ मंत्रीश्वर ने कहा—

"दुर्गपाल त्रिलोचनपालजी, आप इस हालत में ?"

सुनकर महाराज भी चौंके और त्रिलोचनपाल भी। महाराज ने कुछ और गौर से देखकर पहचाना—हाँ, है तो त्रिलोचनपाल ही। और त्रिलोचनपाल कुछ प्रसन्न दीखा, यह सोचकर कि मंत्रीश्वर की दृष्टि कितनी पैनी है। उसने कहा—

"महाराज गुर्जरेश्वर ! मेरा प्रणाम स्वीकार करें। हाँ मंत्रीश्वर, मैं त्रिलोचनपाल ही हूँ। भगवान सोमनाथ की कृपा है कि मैं ठीक समय पर यहाँ आ पहुँचा।"

"बात क्या है दुर्गपालजी ?—मंत्रीश्वर ने पूछा।

"मंत्रीश्वर, समय थोड़ा है। विक्रमसिंह महाराज के साथ धोखा कर रहा है। स्वागत के बहाने वह गुर्जरेश्वर की हत्या कर देना चाहता है। उसने आगमहल बनवाया है। एक क्षण में वह समूचा ही धधक उठेगा। मंत्रीश्वर, महाराज इस समारोह में न जायँ। सावधान रहें।"

दुर्गपाल की यह बात सुनकर महाराज और मंत्रीश्वर दोनों कुछ क्षण सोचते रहे कि अचानक उसका हृदय परिवर्तन कैसे हो गया ? मंत्रीश्वर ने आखिर पूछा—

"त्रिलोचनपालजी, आप तो त्यागभट्ट के साथ थे, महाराज के विरोधी थे, अब क्या हो गया ?"

"मंत्रीश्वर, सुबह का भूला शाम को घर आया है, बस इतना ही समझ लीजिए। युद्ध का समय है। न जाने किस क्षण क्या घटना घट जाय। अतः पहले एक सूचना आप तथा महाराज तक पहुँचा दूं—महाराज का महावत चौलिंग भी ऐन वक्त पर दगा करेगा। उसे त्यागभट्टजी ने फोड़ लिया है। समय रहते आपको सावधान कर देने के लिए मैं शाकम्भरी से भागता-भागता यहाँ आया हूँ।"

इस भयानक सूचना से महाराज कुमारपाल तथा मंत्रीश्वर उदयन के माथे पर बल पड़ गए। यह दूसरा षड्यंत्र पहले वाले षड्यंत्र से भी अधिक चिन्ताजनक था। गुर्जरेश्वर का राज गजराज कलह पंचानन हजारों हाथियों में एक ही था और वह चौलिंग के ही बस का था। यदि चौलिंग हो पलट गया तो स्थिति विकट हो सकती थी।

मंत्रीश्वर उदयन ने खड़े होकर गंभीर विचारमुद्रा में शिविर के एक-दो चक्कर काटे और फिर त्रिलोचनपाल से कहा—

"दुर्गपालजी, आपने यह सूचना देकर गुजरात पर बड़ा उपकार किया है।"

"मंत्रीश्वर, मुझे लज्जित न करें। मैं भटक गया था, भूल गया था, किन्तु आखिर मैं पट्टनी हूँ। योद्धा हूँ। मैंने पाटन का दुर्गपाल रहकर अपना धर्म निभाया है। केशव सेनापतिजो महान् पट्टनी थे। उन्होंने मेरी आँखें खोल दीं। मेरी आत्मा ने मुझे बहुत धिक्कारा है मंत्रीश्वर!"

इतना कहकर त्रिलोचनपाल ने केशव सेनापति के विषय में सारी बातें कुछ विस्तार से बताईं तथा त्यागभट्ट की समस्त गतिविधि की सूचना भी दी। तब मंत्रीश्वर ने उससे कहा—

"दुर्गपालजी, केशव सेनापति सचमुच महान् पट्टनी थे। सिद्धराज जयसिंहदेव महाराज की महान् पुरुषों की परम्परा की अन्तिम कड़ी थे वे। आप भी सच्चे पट्टनी हैं। पाटन के दुर्गपाल का स्थान आपका था और आपका ही रहेगा। किन्तु अब समय थोड़ा है। अब तो कल ही आनक-राजजी से भिड़ जाना होगा। अन्यथा त्यागभट्ट को यदि आपके यहाँ आने की सूचना मिल गई तो वह अपनी चाल बदल देगा। वह हस्तियुद्ध में बहुत निष्णात है। अतः दुर्गपालजी, इस युद्ध की समाप्ति तक आप इसी वेश में रहें। हमारे बंदी बने रहें। शत्रुओं को इतनी ही जानकारी होनी चाहिए कि कोई साधारण गुप्तचर पकड़ा गया है, बस।"

इतना कहकर मंत्रीश्वर ने ताली बजाकर द्वारपाल को बुलाया और कड़कती आवाज में कहा—

"प्रहरियों को भेज। इस गुप्तचर को जाब्ते के साथ रखना है।"

नाटक ठीक प्रकार से किया गया। पाटन का दुर्गपाल एक शत्रु के गुप्तचर के रूप में प्रहरियों के घेरे में सुरक्षित रख दिया गया।

इसके तुरन्त बाद मंत्रीश्वर ने श्यामल महावत को बुलाया।

श्यामल चौलिंग का सहायक महावत था। लम्बा-तगड़ा कृष्णवर्ण। कलह-पंचानन यदि चौलिंग के अतिरिक्त किसी के वश में हो सकता था तो श्यामल के ही। उसके आने पर मंत्रीश्वर ने उससे कहा—

"श्यामल, तुम पट्टनी हो ?"

एकाएक ऐसे प्रश्न से श्यामल कुछ समझ नहीं सका कि आज मंत्रीश्वर ने यह प्रश्न उससे क्यों किया ? वे जानते थे कि वह पट्टनी है। उसने हाथ जोड़कर उत्तर दिया—

"प्रभु ! पट्टनी ही हूँ। आज्ञा ?"

मंत्रीश्वर ने सीधा सवाल किया—

"गुजरात के लिए, अपने महाराज के लिए, अपना सिर दे सकते हो ?"

श्यामल सीधा तनकर खड़ा हो गया। दूसरे ही क्षण वह दो कदम आगे बढ़ा और उसने अपना सिर मंत्रीश्वर के सामने झुकाकर कहा—

"सिर हाजिर है, मंत्रीश्वर ! इसमें पूछना क्या था ?"

"अपने बाल-बच्चों के लिए कुछ कहलाना है ? सोच लो। कोई चिन्ता है ?"

"मंत्रीश्वर ! सारे गुजरात की चिन्ता करने वाले गुजरात के नाथ यहाँ बैठे हैं। फिर मुझे अपने बाल-बच्चों की क्या चिन्ता ?"

श्यामल ने सिर झुकाए हुए ही यह उत्तर दिया था। मंत्रीश्वर एक पल चुप रहे। किंतु पल-पल मूल्यवान था। दूसरे ही पल उन्होंने कहा—

"सीधे खड़े हो जाओ, श्यामल ! और ध्यान से जो कहता हूँ उसे सुन लो।"

श्यामल ने आदेश का पालन किया और कहा—"आज्ञा मंत्रीश्वर !'

"श्यामल, कल भीषण युद्ध होगा। कलह पंचानन पर चौलिंग की जगह तुम्हें रहना है। बोलो, उसे सम्हाल लोगे ?"

"यदि चौलिंग सामने न हुआ तो मैं उसे सम्हाल लूंगा मंत्रीश्वर ! किंतु चौलिंग हुआ तो फिर वह उसके अतिरिक्त और किसी की सुनने वाला नहीं हैं।"

"चौलिंग कलह पंचानन पर नहीं होगा श्यामल !"

"तब फिर आप निश्चिन्त रहें।"

"ठीक। अब जाओ और कलह पंचानन से जितनी हो सके उतनी दोस्ती बढ़ाते रहो। और खबरदार! चौलिंग या अन्य किसी व्यक्ति को अपनी इन बातों की जरा भी भनक न पड़े। समझ गए न? खबरदार! चौलिंग को यही सोचने दो कि कल युद्ध में कलह पंचानन पर वही होगा। तुम तैयार रहना। युद्ध के लिए प्रस्थान तक कलह पंचानन पर चौलिंग ही रहेगा। किन्तु उसके बाद युद्ध आरम्भ होने पर चौलिंग कहाँ गया यह बात हवा को भी ज्ञात नहीं होगी। उसके स्थान पर तुम होओगे। ठीक?"

"ऐसा ही होगा, प्रभु!"

"जाओ, श्यामल! कल गुजरात का भविष्य तुम्हारे और कलह पंचानन के हाथ में रहेगा, भूलना नहीं।"

स्वामिभक्ति तथा देशभक्ति की जीवन्त प्रतिमा-सा श्यामल जब शिविर के बाहर चला गया तब मन्त्रीश्वर ने महाराज कुमारपाल से कहा—

"महाराज! अब चिन्ता नहीं है। श्यामल सच्चा पट्टनी है। विश्वास-पात्र है। अच्छा महाराज, अब वैद्यराज आते ही होंगे। आप शय्या पर लेट जायँ। साधारण उदर-पीड़ा है आपको। थोड़े विश्राम तथा नींद की दवा लेने से आप शीघ्र ही पूर्ण स्वस्थ हो जायेंगे। आप समझ गए न महाराज? अब मैं विक्रमसिंह से मिल आता हूँ।"

कटाकटी के इस वातावरण में भी महाराज कुमारपाल मुक्त रूप से हँस पड़े और उन्होंने उत्तर दिया—

"मेहता! तुम्हारी बुद्धि का जवाब नहीं है। जब तक तुम हो, गुजरात अजेय है।"

उसी समय शिविर के द्वार पर हलचल का आभास हुआ। शायद वैद्यराज आ पहुँचे थे। महाराज कुमारपाल जाकर शय्या पर लेट गए। वैद्यराज को सब बातें समझाकर मंत्रीश्वर विक्रमसिंह से मिलने चले गए।

रात्रि का एक प्रहर व्यतीत हो चुका था। विक्रमसिंह बड़ी आतुरता से महाराज कुमारपाल की प्रतीक्षा कर रहा था। देर होती देखकर वह घबरा भी रहा था। सोचने लगा था—क्या बात है? कहीं उदयन को मेरे षड्यंत्र की भनक तो नहीं लग गई? यदि ऐसा हो गया तो बड़ी मुश्किल होगी। कुमारपाल की जगह कहीं मेरी ही दुर्गति न बन जाय।

उसी समय उसे मंत्रीश्वर की पालकी आती दिखाई दी। वह उत्सु-

कता, आतुरता तथा चिन्ता के साथ आगे बढ़ा। अकेले मंत्रीश्वर को देखकर उसका माथा ठनका, किन्तु अपने आप पर किसी प्रकार अधिकार रखता हुआ मंत्रीश्वर का स्वागत करता हुआ वह बोला—

"पधारिए; पधारिए मंत्रीश्वर ! किन्तु महाराज ? महाराज दिखाई नहीं देते ?"

"विक्रमसिंहजी, महाराज तो आ ही रहे थे। आते क्यों नहीं ? आप ने जो बुलाया था। इतने प्रेम से। इतने आग्रह से। तो फिर महाराज को तो आना ही था। किन्तु अचानक महाराज को कुछ अस्वस्थता हो गई है। और कल प्रातःकाल तो युद्ध के लिए प्रस्थान करना ही है। अतः मैंने सलाह दी कि वे थोड़ा विश्राम करलें।"

"महाराज अस्वस्थ हो गए ? अचानक ? यह तो बहुत बुरा हुआ.....।"

"चिंता की कोई बात नहीं है। साधारण पीड़ा है। कभी-कभी ऐसा हो जाता है। ठीक हो जायगा।"

"मंत्रीश्वर, लेकिन मुझे बहुत चिंता हो रही है....।"

"स्वाभाविक है। महाराज की चिन्ता आपको न होगी तो किसे होगी ? और फिर इस समय महाराज आपके अर्बुद क्षेत्र में हैं। तो आप को चिन्ता तो होगी ही। किंतु सब ठीक हो जयगा।"

"मैं अभी अपने कुशल वैद्यराज को भेजता हूँ....।"

"आवश्यकता नहीं विक्रमसिंहजी ! गुर्जरेश्वर के साथ कुशल वैद्य हमेशा रहते हैं। जाने कब, कैसा अवसर जा जाय ? आप समझे न ? इन्तजाम तो सब रखना ही पड़ता है।"—उदयन मंत्रीश्वर ने अपनी छोटी-छोटी, तीखी आँखों के एक कोने को कुछ दबाकर विक्रमसिंह के चेहरे को बड़ी पैनी निगाह से देखते हुए कहा।

विक्रमसिंह खूब अच्छी तरह समझ गया कि जहाँ तक चालाकी का प्रश्न है आज उसे अपना बाप मिला था। अतः उसने तुरन्त बात को दूसरा मोड़ देने के उद्देश्य से कहा—

"तब तो मंत्रीश्वर, इस आयोजन को अब समेट लिया जाय। जब महाराज ही नहीं तब इस आयोजन का क्या मतलब ?"

"हाँ, आप ठीक कहते हैं विक्रमसिंहजी ! यह सब आयोजन आपने बड़े परिश्रम से महाराज के लिए ही तो किया था। लेकिन अब इसे समेट

लीजिए, देर न हो जाय। कल युद्ध के लिए प्रस्थान करना है न ? आपको तैयार भी होना है।"

"मैं ?....हाँ, मैं तो तैयार हूँ, मंत्रीश्वर ! आनकराजजी को बहुत अभिमान हो गया है।"

"बहुतों को हो गया है, विक्रमसिंहजी ! लेकिन अभी गुजरात का नाथ बैठा है। सबको देख लिया जायगा। एक-एक करके या जैसी परिस्थिति....एक साथ भी। तो आप विलम्ब न करें। युद्ध प्रस्थान की तैयारी करलें। मैं स्वयं इसलिए आ गया कि आपको अधिक चिंता न हो। आनक राजजी भी आखिर आप जैसे ही योद्धा हैं। सावधानी रखना हमेशा लाभदायक होता है। अच्छा, अब मैं चलता हूँ विक्रमसिंहजी !"

उदयन मंत्रीश्वर विक्रमसिंह को पानी-पानी करके गुजरात छावनी की ओर लौट पड़े।

विक्रमसिंह अपनी जगह पर बुत बना खड़ा रह गया।

फिर उसके होश लौटे। वह सोचने लगा—यह क्या हो गया ? सारा किया-कराया व्यर्थ गया। इतना ही नहीं, मेरी कलई भी खुल गई। यह उदयन आदमी है या जादूगर ? इस मूल मारवाड़ी से पार पाना ही कठिन है ! देखते-देखते सारी बाजी उलट गया ? मेरी तराजू के सारे बाँट इधर से उधर कर गया ? अब क्या किया जाय ? भला इसी में है कि चुपचाप महाराज कुमारपाल के साथ आनकराजजी के सामने युद्ध में चला जाय, फिर जो हो सो हो। युद्ध ही तो है, जाने किस क्षण कैसा रंग बदले ? और फिर चौलिंग....

यह विचार आते ही वह अपने स्थान से हिला और अपने प्रासाद की ओर चल पड़ा। मानो वह इस विचार को ही अपने मस्तिष्क से निकाल देना चाहता हो। इस रहस्य पर विचार करना ही न चाहता हो। उसे भय लगा कि उसके मस्तिष्क में चल रहे विचार को भी कहीं वह धूर्तराज, वह मेरा बाप, वह जादूगर, जिसका नाम उदयन है, कहीं पढ़ न ले।

\+ \+ \+

रात्रि के अन्तिम प्रहर से ही गुजरात तथा शाकम्भरी दोनों के सैन्य शिविरों में हलचल होने लगी। धीरे-धीरे, सावधानी के साथ, दोनों ओर की सेनाएँ आगे बढ़कर मोर्चाबन्दी में जुट गईं। दोनों पक्षों के गुप्तचर पल-पल की सूचनाएँ इधर से उधर प्रेषित कर रहे थे।

अब भोर होने को थी। उसी समय आनकराज का एक दूत महाराज कुमारपाल के पास सन्देशा लेकर आया। मंत्रीश्वर उदयन ने वह सन्देशा पढ़ा। शाकम्भरीराज ने एक संस्कृतपद लिखवाकर भेजा था—

'रे रे सर्प विमुंच दर्पमसमं किं स्फारफूत्कारतो
विश्वं भीषयसे क्वचित् कुरु बिले स्थानं चिरं नंदितुम्।
नो चेत्प्रौढ़रुत्स्फुरत्तरमरुद्व्याधूतपृथ्वीधर—
स्ताक्ष्यों भक्षयितुं समेति झटिति त्वामेष विद्वेषवान् ॥'

(हे विषधर! गर्व छोड़ दे। यदि शांति चाहता हो तो अपनी फुफकार छोड़कर बिल में घुसकर बैठ जा। अन्यथा भयंकर गरुड़राज तीव्र गति से तेरा काल बनकर आ रहा है।)

यह पद सुनकर महाराज कुमारपाल की भृकुटियाँ तन गईं। उन्होंने कहा—

"मेहता, अपने वाग्भट्ट से कहो कि इसका समुचित उत्तर इसी दूत के साथ भिजवा दे।"

उदयन मेहता का पुत्र वाग्भट्ट वीर और विद्वान् था। कलम और तलवार दोनों का धनी था। उसने तत्क्षण एक पद रचकर आनकराज के पास प्रेषित किये जाने हेतु प्रस्तुत किया—

'अये भेक! च्छेको भव भवतु ते कूप कुहरे
शरणं दुर्मतः किमु रटसि वाचाट! कटुकम्?
पुरः सर्पो दर्पी विषमविषफूत्कारवदनो
ललज्जिह्वो धावत्यहहह भवतो जिघ्रसिषया॥'

(अरे ओ मेढ़क! यह कड़वे वचन क्या बोल रहा है? किसी कुएँ के कोटर में अपनी शरण ढूंढ़ ले। विषज्वाला फैलाता हुआ भयंकर विषधर तेरा काल बनकर तुझे निगल जाने के लिए आ रहा है।)

महाराज कुमारपाल और मंत्रीश्वर उदयन इस ईंट के जवाब पत्थर से संतुष्ट हुए। महाराज ने उस पद वाला वस्त्रलेख आनकराज के दूत को दे दिए जाने पर उससे कहा—

"अपने महाराज को इस उत्तर के साथ हमारा मौखिक सन्देश भी कह देना कि युद्ध तीन दिन का। उसके बाद यदि आवश्यकता पड़े, जोकि पड़ेगी तो नहीं, तो फिर हार-जीत का निर्णय आनकराजजी और मेरे बीच

मल्लयुद्ध द्वारा होगा। यदि वे क्षत्रिय हैं, योद्धा हैं तो मेरी चुनौती को स्वीकार करें और अविलम्ब उत्तर दें। मल्लयुद्ध में जो हारा सो हारा, जो जीता सो जीता। या तो वे यह चुनौती स्वीकार करें या मुंह में तृण लेकर अपनी पराजय स्वीकार करें।"

दूत सिर झुकाकर लिखित एवं मौखिक सन्देश लेकर चला गया। तब मंत्रीश्वर उदयन ने कुछ चिन्ता व्यक्त करते हुए महाराज कुमारपाल से कहा—

"महाराज ! यह आपने क्या किया ? मल्लयुद्ध द्वारा हार-जीत की बात में कितना खतरा है ?"

"मेहता, तुम खतरों से कब से घबराने लगे ?"

"वह बात नहीं है महाराज, किन्तु आनकराज जी भी शारीरिक शक्ति में कम नहीं हैं। संयोग की बात है। न जाने कब क्या हो जाय, प्रभु ! यह आपने क्या किया ?"

"चिन्ता मत करो उदयन ! तुम्हारा महाराज कोई कच्ची मिट्टी का लौंदा नहीं है। आनकराजजो को अपने भुजबल का बड़ा गर्व है न ? उस गर्व को भी अब चूर-चूर कर देना है। ऐसा कि फिर कभी उनकी आँख जमीन से ऊपर न उठे। चलो, व्यर्थ की चिन्ता में अब समय नष्ट न करो। प्रभात की पहली किरण फूटने को है। युद्ध प्रारम्भ होने का शंखनाद करने की तैयारी करो। बस, आनकराज जी का उत्तर आ जाय।"

महाराज कुमारपाल के स्वर में इतनी दृढ़ता थी, उनके चेहरे पर ऐसा अवर्णनीय आत्मविश्वास था कि मंत्रीश्वर उदयन के चिन्तित मन को काफी तसल्ली मिली। उन्होंने गुर्जरेश्वर की देह पर एक पारखी दृष्टि डाली—वज्र को काटकर, ढालकर ही मानो कोई मानव-देह बनाई गई हो—और फिर उन्होंने एक सन्तोष की, निश्चिन्तता की साँस ली।

शाकम्भरीराज ने महाराज कुमारपाल की वीरोचित चुनौती स्वीकर ली।

दोनों ओर के सैन्य-समूह में से युद्धघोष उठा और उसने आकाश को गुंजा दिया। शंखनाद, घंटाघोष, रणसिंघा, ढोल, त्रासा की सम्मिलित ध्वनियों ने वीरों के रक्त में उबाल ला दिया। चारणों-भाटों और कवि-राजों ने सैन्यों के बीच घूम-घूमकर सुभटों की विरुदावली से शूरमाओं के जोश को शतगुणित कर दिया। पदाति सैन्य से पदाति सैन्य, हयदल से

हयदल, गजसेना से गजसेना भिड़ पड़ी। घमासान मच गया। 'मारो-काटो' की आवाजें तलवारों की झनझनाहट के साथ चारों ओर सुनाई देने लगीं।

तलवारें तलवारों से, भाले भालों से, गदाएँ गदाओं से टकरा-टकरा कर टूटने लगीं। मृत एवं घायल सैनिकों के ढेर लगने आरम्भ हो गए। शस्त्रों की झनकार के साथ घायल सैनिकों और हाथी-घोड़ों की चीत्कारें मिलकर युद्ध की विभीषिका का भयानक चित्र अंकित करने लगीं।

सोलंकी सैन्य के बीचों बीच महाराज कुमारपाल का गजराज कलह पंचानन किसी पर्वत शृंग-सा साफ दिखाई दे रहा था। महाराज की दाईं ओर मंत्रीश्वर उदयन और बाईं ओर वागभट्ट थे। महाराज कुमारपाल आगे बढ़ते जा रहे थे और उनके साथ-साथ मंत्रीश्वर और वागभट्ट।

शाकम्भरी के सैन्य में गजराज देवमंगल पर शाकम्भरीराज आनकराज थे। स्वयं त्यागभट्ट उनके महावत के स्थान पर था उसने विन्ध्याचल के पहाड़ों में किसी ऐसे गन्धहस्ती की जी-तोड़ खोज की थी जिसकी गन्ध पाकर ही हजारों हाथियों की सेना उसके सामने गधों की सेना बन कर पूंछ उठाकर भाग खड़ी होती है। अपनी इस खोज में वह सफल नहीं हो पाया था।

किन्तु त्यागभट्ट गजविद्या में पारंगत था और यह बात भारत विख्यात हो चुकी थी। ऐसे कुशल गजविद्याविशारद के अंकुश के नीचे आकर देवमंगल भी कलह पंचानन की जोड़ का सिद्ध हो सकता था। विशेषरूप से तब, जबकि उसका महावत, चौलिंग, शत्रु से मिल गया हो।

चारों ओर उड़ती हुई धूलि तथा रक्त की फुहारों के बीच से त्यागभट्ट ने महाराजा कुमारपाल के कलह पंचानन को देखा। कलह-पंचानन अपनी सूँड में भारी गदा पकड़े उसे चारों ओर भयानक रूप से घुमाता हुआ किसी चलते-फिरते पर्वत के समान आगे बढ़ा चला आ रहा था।

कलह पंचानन का यह रौद्ररूप देखकर कोई ऐरा-गैरा होता तो वह पसीने-पसीने हो जाता। किन्तु त्याभट्ट को आधा भरोसा अपनी विद्या पर और आधा चौलिंग के देशद्रोह पर था। अतः उसने आनकराज से कहा—

"महाराज ! गीदड़ की मौत उसे शहर की ओर ही ला रही है। मैं देवमंगल को सीधा कलह पंचानन की ओर ही ले चलता हूँ। ऐन वक्त पर चौलिंग कलह पंचानन को एकाएक स्थिर कर देगा। वही अवसर

होगा जब हम कूदकर कुमारपाल को दबोच लेंगे। वरना मैंने सुना है महाराज, कि कुमारपाल महावीर भी है और महामल्ल भी, सावधान !"

त्यागभट्ट ने देवमंगल को सीधा कलह पंचानन की ओर बढ़ा दिया।

किन्तु उड़ती हुई धूलि के धुंधलके में वह कलह पंचानन के महावत को पहचान नहीं पाया था।

उसे ज्ञात नहीं था कि कलह पंचानन पर चौलिंग नहीं, श्यामल है।

वह नहीं जानता था कि कलह पंचानन पर धन का लालची कोई देशद्रोही नहीं, अपने देश की आन के लिए अपनी जान पर खेल जाने वाला एक देशभक्त है।

महाराज कुमारपाल भीषण युद्ध कर रहे थे। इसी बीच उन्होंने क्षणभर के लिए अपनी दाईं और बाईं ओर देखकर स्थिति का जायजा लिया। उन्होंने देखा कि एक ओर नड्डूल का सैन्य लगभग चुपचाप खड़ा है। वह युद्ध में भाग ही नहीं ले रहा। मात्र दिखावे के लिए कुछ हलचल वहां की जा रही है।

इसी प्रकार उन्होंने देखा कि दूसरी ओर विक्रमसिंह का सैन्य भी लड़ने का केवल दिखावा कर रहा है और विक्रमसिंह अवसर को भांप रहा है। उसके सैनिक धीरे-धीरे पीछे से खिसकते हुए शाकम्भरी के सैन्य में जाकर मिलते जा रहे हैं।

यह स्थिति बहुत गम्भीर थी। बड़ी भयानक थी।

महाराज कुमारपाल ने क्षणमात्र में निर्णय ले लिया। उन्होंने कहा–

"श्यामल ! कलह पंचानन को सीधा देवमंगल पर छोड़ दे। एकदम।"

श्यामल का संकेत पाकर कलह पंचानन तेजी से देवमंगल की ओर लपका। उसकी गति देखकर और उसकी सूंड में चक्राकार घूमती हुई गदा के प्रहारों से उसके सामने पड़ने वाले शाकम्भरी के सैनिकों में त्राहि त्राहि मच गई।

कलह पंचानन और देवमंगल में अब दूरी बहुत कम रह गई थी। महाराजा कुमारपाल ने आदेश दिया—

"श्यामल ! और तेज ! कलह पंचानन को देवमंगल से भिड़ा दे।"

श्यामल महावत ने संकेत दिया, किन्तु अचानक कलह-पंचानन तेजी से आगे बढ़ते-बढ़ते एकदम रुक गया। यह देखकर महाराज कुमारपाल चौंके। उन्होंने श्यामल से पूछा—

"क्या हुआ श्यामल ? कलह पंचानन रुक कैसे गया ? क्या तू भी···· क्या तू भी पलट गया है ? बोल···· ।"

"नहीं नहीं, महाराज ! सुनिए। त्यागभट्टजी सिंहनाद कर रहे हैं। वे इस विद्या को जानते हैं। यह सिंहनाद हमें सुनाई नहीं देता, किन्तु हाथियों को सुनाई दे रहा है। इसीलिए वे सिंह की आशंका से भयभीत हो रहे हैं। देखिए महाराज, सभी हाथी भयभीत होकर इधर-उधर भागने लगे हैं। इसीलिए अपना कलह पंचानन भी अचानक रुक गया है महाराज! अब इसका तो कोई उपाय भी नहीं है अन्नदाता !"

यह सुनकर महाराज कुमारपाल एकाएक चिन्तित हुए किन्तु उनकी विलक्षण प्रत्युत्पन्नमति उस संकट की बेला में भी काम आ गई। उन्होंने झटपट अपने रेशमी उत्तरीय के दो टुकड़े करके आगे झुककर एक-एक टुकड़ा कलह पंचानन के दोनों कानों में ठूँस दिया।

कलह पंचानन के लिए सिंहनाद समाप्त हो गया। उसने अपनी छोटी-छोटी आँखों से एक बार देवमंगल को घूरा और फिर उस पर झपट पड़ा। उसकी भयानक टक्कर से देवमंगल दो कदम पीछे हट गया।

लेकिन त्यागभट्ट ने देवमंगल को साधा, आगे बढ़ाया और यह मानते हुए कि कलह पंचानन पर चौलिंग ही है, वह कलह पंचानन के मस्तक पर चढ़ जाने के लिए उछला···· ।

उस क्षण त्यागभट्ट के विश्वास के अनुसार कलह-पंचानन को स्थिर रह जाना था। चौलिंग होता तो ऐसा ही होता भी।

किन्तु श्यामल ने उसी क्षण एक हलके से संकेत से कलह पंचानन को एक कदम पीछे कर लिया। अनेकों युद्धों का कुशल लड़ाका कलह-पंचानन चूका नहीं।

चूका त्यागभट्ट।

वह उछला और कलहपंचानन के मस्तक पर उतरने के स्थान पर वह नीचे भूमि पर आ गिरा।

दसियों गुजराती तलवारों ने तत्क्षण उसे चारों ओर से घेरकर बन्दी

बना लिया।

महाराज कुमारपाल ने इस स्थिति को देखा न देखा और वे स्वयं खड़े होकर एक विकट छलांग लगाकर आनकराज के हौदे में जा पहुँचे। उनके शक्तिशाली धक्के से आनकराज हतबुद्धि से उछलकर भूमि पर जा गिरे। महाराज कुमारपाल ने एक क्षण भी नहीं गंवाया और वे भी भूमि पर कूदकर आनकराज के सामने खड़े हो गए--मानो वे कुमारपाल नहीं, शाकम्भरी नरेश के काल ही हों।

कलह पंचानन की भयानक टक्करें अब देवमंगल क्या झेल पाता? और किसके लिए झेलता? वहाँ न त्यागभट्ट था और न आनकराज। वह तो अपनी पूंछ दबाकर उलटकर भाग खड़ा हुआ। शाकम्भरीराज की राजपताका धराशायी हो चुकी थी और उनका स्वर्णखचित, सुसज्जित हौदा देवमंगल की पीठ पर एक ओर लटक रहा था।

और देवमंगल अपनी मंगल मनाता पूंछ दबाए अपनी ही सेना के सिपाहियों को कुचलता हुआ शाकम्भरी के मार्ग पर भागा चला जा रहा था।

शाकम्भरी सैन्य में निराशा छा गई और भगदड़ मच गई।

महाराज कुमारपाल ने आनकराज के सामने खड़े होकर कहा—

"उठिए, शाकम्भरीनरेश! कुमारपाल गिरे हुए शत्रु पर वार नहीं करता। आइये, मैं मल्लयुद्ध के लिए तैयार हूँ। आपका क्या विचार है? इस भिखारी से युद्ध करेंगे या मुंह में तिनका लेकर प्राणों की भिक्षा माँगेंगे, जैसेकि एक बार पहले सिद्धराज महाराज के सामने माँग चुके हैं?"

आशा तो यह थी कि आनकराज कुमारपाल से भिड़ पड़ेगा। किन्तु ऐसा हुआ नहीं। कौन जाने उसे अपनी भूल का ज्ञान हो गया था अथवा उसके साहस ने ही जवाब दे दिया था, किन्तु वह धीरे से उठकर खड़ा हुआ और बोला—

"महाराज कुमारपाल, आप सचमुच महान् सिद्धराज जयसिंहदेव के सुयोग्य उत्तराधिकारी हैं। मेरी ही भूल हो गई थी। मैं आपके प्रति कहे गए कटु वचनों के लिए लज्जित हूँ। मैं अपनी पराजय स्वीकार करता हूँ। आपका बन्दी हूँ।"

उसी समय गुर्जरेश्वर के जयघोष से सारी युद्धभूमि गूंज उठी—गुर्जरेश्वर महाराज कुमारपाल की जय····जय····विजय !!

●

[उन्नीस]

६६

शाकम्भरीराज के इस हृदय परिवर्तन से दोनों पक्षों में प्रसन्नता की लहर दौड़ गई थी। युद्ध तो अपने साथ हिंसा और विनाश ही लाता है। शान्ति होती है, मित्रता होती है, प्रेमभाव होता है तो शुभ होता है।

महाराज कुमारपाल तो क्षमा और दया के भण्डार थे। आचार्य हेमचन्द्र की शिक्षा ने उन्हें मानव से महामानव बनने की ओर प्रेरित किया था। हिंसा से उन्हें घृणा होने लगी थी। बैरभाव उनके हृदय को बहुत दुःखी करता था। वे राजा थे। गुजरात की प्रजा का सहारा थे। प्रजा उनसे सनाथ थी। देश जब चारों ओर हिंसक शत्रुओं से घिरा हुआ हो तो राजा का धर्म हो जाता है कि वह अपने देश की, अपनी प्रजा की रक्षा करे। इस राजधर्म के निर्वाह हेतु वे विवश थे। किन्तु भीतर ही भीतर उनका चित्त किस सनातन तत्त्व की खोज के लिए व्याकुल होने लगा था, यह हमारे पाठक आगे के अध्यायों में जान लेंगे।

शाकम्भरीनरेश को उन्होंने बन्दी नहीं बनाया। उदारतापूर्वक उन्हें क्षमा करते हुए इतना ही कहा—

"शाकम्भरीराज! आप हमारे सम्बन्धी तो हैं ही। अब हमारे मित्र भी हुए। इस मित्रता का निर्वाह कीजिए और इस दिशा में गुजरात के प्रहरी बनकर सुखपूर्वक रहिए। बोलिए, आपको स्वीकार है?"

"सहर्ष स्वीकार है। महाराज कुमारपाल! अब आप इस दिशा से पूर्णतः निश्चिन्त रहें।"—आनकराज ने कृतज्ञतापूर्ण उत्तर दिया।

"ठीक है। किन्तु एक बात और भी है। आपके पुत्र जगदेव और विशालदेव उद्दण्ड हैं। आपके बाद वे शाकम्भरी के सिंहासन पर आएं यह किसी के लिए भी अच्छा नहीं होगा। आपके बाद कांचनबा के पुत्र सोमेश्वर को ही शाकम्भरी का सिंहासन मिलना चाहिए।"

महाराज कुमारपाल की इस शर्त को आनकराज ने स्वीकार करते हुए कहा—

"ऐसा ही होगा, महाराज ! मैं वचन देता हूँ।"

यह वार्त्तालाप महाराज कुमारपाल के शिविर में हुआ। युद्ध की समाप्ति के बाद दोनों ओर के सैनिकों को एक-दो दिन का विश्राम प्रदान किया गया था। काक सेनापति मालवा के बल्लाल का अन्त कर शानदार विजय प्राप्त करके लौट चुके थे। अतः थके हुए सैनिकों को कुछ विश्राम प्रदान करने में कुछ हानि नहीं थी। शाकम्भरी तथा मालवा की एक साथ हुई पराजय ने गुजरात की सीमाओं को फिलहाल शान्त और सुरक्षित कर दिया था। आबू का विक्रमसिंह और नडूल के केल्हण को तो अब कोई गिनती ही नहीं थी। महाराज कुमारपाल ने विक्रमसिंह के स्थान पर वास्तविक अधिकारी परमार धारावर्षदेव को नियुक्त कर दिया था। धारावर्षदेव उस समय भारतवर्ष के अन्यतम वीरों में से एक थे। सुना जाता था कि वे एक ही वीर से एक साथ तीन-तीन भैंसों को छेद सकते थे। इतनी शक्ति और पराक्रम था उनमें। तथा पाटन के प्रति उनकी भक्ति अविचल थी।

इस प्रकार गुजरात के लिए सामरिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अर्बुदप्रदेश भी अब सुरक्षित हो गया था।

महाराज कुमारपाल ने आनकराज को सप्रेम विदा किया। उसके बाद उन्होंने मंत्रीश्वर उदयन से कहा—

"मेहताजी, आपके सब काम निबट गए। सैनिकों को पर्याप्त विश्राम भी मिल गया। अब पाटन कब चलना है ?"

"जब आपकी आज्ञा हो महाराज !"

"तो कल ही प्रस्थान कर दिया जाय।"

"कल प्रातःकाल का समय बहुत शुभ है, महाराज !"

"तो शुभ समय में शुभ काम हो जाय।"

"हो जायगा, महाराज !"

उदयन मंत्रीश्वर के उन संक्षिप्त उत्तरों में आज महाराज कुमारपाल को कुछ नयापन-सा लगा, किसी रहस्य का आभास-सा हुआ। मंत्रीश्वर के चेहरे पर जो एक हल्की-सी मुसकान खिली हुई थी उसे देखकर भी महाराज को लगा था कि हो न हो, कुछ न कुछ बात अवश्य है। उन्होंने पूछा—

"क्यों मेहता, मुझसे कोई बात छिपा रहे हो क्या ?"

"प्रभु ! आपसे कोई बात छिपाकर मुझे कहाँ जाना है ? मैंने कहा न कि कल प्रातःकाल शुभ मुहूर्त्त में शुभ कार्य हो जायगा।"

'अर्थात् पाटन का विजयी सैन्य पाटन की ओर रवाना हो जायगा ?'

"वह भी हो जायगा, महाराज !"

"वह भी हो जायगा ? क्या मतलब मेहता जी ? इसका अर्थ है कि कुछ और भी होने को है ?"

'महाराज ! प्रत्येक नया सबेरा नई सृष्टि को लेकर आता है। कल का प्रभात पाटन के लिए क्या शुभ सन्देश लाता है यह देखना है।"

"मेहता, साफ-साफ कहो क्या मामला है ? अवश्य तुम मुझसे कुछ छिपा रहे हो। अवश्य तुम्हारे मस्तिष्क में कोई न कोई खुराफात चल रही है। मुझे इसका आभास हो रहा है। बोलो, क्या बात है ?"

"मैं बताती हूँ, क्या बात है।"—कहती हुई महारानी भोपलदे ने महाराज के शिविर में प्रवेश किया। उन्हें देखकर महाराज कुमारपाल तो विस्मित रह गए—महारानी भोपलदे, और यहाँ ? इस युद्ध शिविर में ? पाटन से इतनी दूर, शाकम्भरी में ? यह कैसे ? उनके मुख से शब्द निकले—

"महारानी ! तुम....तुम यहाँ ? पाटन में सब कुशल तो है ?"

"सब कुशल है महाराज ! चिन्ता न करें। और मंगल-वेला में उपस्थित होने के लिए मैं यहाँ आई हूँ।"

"यह सब क्या गोलमाल है महारानी ? मेहता जी भी गोल-गोल बातें कर रहे हैं और तुम भी ऐसे ही बोल रही हो। अब ठीक-ठीक बताओ क्या बात है ?"—महाराज कुमारपाल ने कुछ अधीर होते हुए पूछा।

"बताती हूँ महाराज ! बड़े हर्ष की बात है। आनकराज जी की पुत्री जल्हणा गुजरात की रानी बनना चाहती है। वह गुजरात के राजा से प्रेम करती है....।"

"महारानी ! यह तुम क्या कह रही हो ? असंभव। गुजरात के राजा की एक ही रानी है और वह तुम हो।"

"वह तो हूँ ही, महाराज, लेकिन मैं कुछ पुरानी पड़ गई हूँ। एक अच्छी-सी, सुन्दर-सी, नई रानी के आने से गुर्जरेश्वर का रनिवास चमक उठेगा....।"

"महारानी, यह हँसी की बात नहीं है," महाराज कुमारपाल ने कहा, "आज तक तुमने दुःख में वर्षों मेरा साथ निभाया है। तुम्हारे प्रेम के सहारे ही मैं इतनी आपदाओं में भी खड़ा रहा हूँ। अब तुम यह कैसी बात कर रही हो ? यह कभी नहीं होने का।"

"महाराज ! मेरी बात तो सुनिए। आपके विशुद्ध प्रेम के विषय में जिसे शंका उत्पन्न हो उससे बढ़कर मूर्ख तो कोई भी नहीं होगा। किन्तु महाराज, अपने गुजरात को क्या राज्य का उत्तराधिकारी नहीं चाहिए ? मैं अब पचास वर्ष की होने आई। गुजरात का उत्तराधिकारी मैं गुजरात को नहीं दे सकी। वह उत्तराधिकारी शाकम्भरीराज की सुपुत्री जल्हणा देगी महाराज !"

महाराज कुमारपाल महारानी के इस कथन के विरोध में कुछ कहने जा ही रहे थे कि उदयन मंत्रीश्वर ने बात को सहारा देते हुए कहा—

"महाराज ! गुर्जरेश्वर ! इस बूढ़े की बात सुनें। आपके तथा महारानीबा के उज्ज्वल, आदर्श दाम्पत्य प्रेम के विषय में सारा संसार जानता है। किन्तु प्रभु, आप तो धर्मात्मा पुरुष हैं। राजधर्म भी आपके धर्म का एक अंग है महाराज ! गुजरात को अपना राजवारिस चाहिए। राजा के नाते वह आपको प्रदान करना ही चाहिए। महारानीबा स्वयं पाटन से भागी-भागी यहाँ तक आई हैं। आनकराजजी की प्रार्थना पर, मेरी सम्मति से वे जल्हणा कुमारी से मिल भी आई है....।"

"हूँ, तो यह सारा षड्यंत्र रचा जा रहा था मेहता, और मुझे भनक तक नहीं लगने दी ? तुम्हारी गोल-गोल बातों का रहस्य अब मुझे समझ में आया है।"

"महाराज ! अपराध क्षमा हो। युद्ध की थकान के बाद थोड़ा-सा विनोद रहेगा तो इस बूढ़े शरीर की थकान उतर जायगी, यह विचार किया था। महारानीबा ने भी आदेश दिया था कि जब तक वे जल्हणाकुमारी से भेंट करके लौट न आएँ तब तक मैं चुप ही रहूँ....।"

"तुम दोनों ने मिलकर यह अच्छा तमाशा कर डाला। मेहता तुम बड़े दुष्ट हो।"

महाराज कुमारपाल का विस्मय और उनकी अनिच्छा महारानी भोपलदे तथा मंत्रीश्वर उदयन की प्रार्थना और विनोद में घुल गए।

भावना पर कर्तव्य की सदैव विजय होती है।

× × ×

गर्वीले गुजरात का गौरवशाली विजयध्वज चारों दिशाओं में फहरा कर गुर्जरेश्वर महाराज कुमारपाल पाटन लौट रहे थे।

जब वे अपने विजय-प्रयाण के लिए पाटन से निकले थे तब सब कुछ चिन्ताजनक रूप से अनिश्चित था। आशंकाओं के बादल गुजरात के आकाश पर मंडरा रहे थे—क्या होगा? चारों ओर शत्रुओं का जमघट जुट रहा था। कौन, किधर से आकर गुजरात को नोंच-खसोट लेगा, कौन कौन से सामन्त, श्रेष्ठि, राजपदाधिकारी आदि महाराज कुमारपाल के विरुद्ध षड्यंत्र में सहयोग देंगे, गुजरात के सिंहासन पर कौन रहेगा और कौन चला जाएगा—सब कुछ अनिश्चित था।

किन्तु गुजरात के आकाश पर छाए हुए भय तथा आशंकाओं के सारे बादल अब छँट गए थे। कुमारपाल नामक प्रभंजन ने उन सभी काले कजरारे बादलों को एक ही सनसनाते झपाटे में साफ कर दिया था।

कृष्णदेव के गर्व का खर्व करके उन्होंने गुजरात के भीतर सिर उठाने वालों को सदा के लिए सुला दिया था और विक्रमसिंह, आनकराज, बल्लाल और केल्हण को एक साथ ठिकाने लगाकर गुजरात की चारों दिशाओं को सुरक्षित कर दिया था।

पट्टनियों के आनन्द, उत्साह और उमंग का क्या कहना? उनके स्वाभिमानी वक्षस्थल बल्लियों उछल रहे थे। उनके समक्ष यह सिद्ध हो गया था कि महान सिद्धराज के पश्चात् दूसरा महान् गुर्जरेश्वर आ गया था। गुर्जरधरा की महानता की परम्परा प्रवहमान थी।

प्रभात की पुण्यवेला में विजयी महाराज कुमारपाल के दर्शन करके आनन्दित होने तथा अपने जीवन का एक और आनन्द महोत्सव मनाने पाटन की प्रजा धीर गम्भीर सरस्वती नदी के किनारे तक पहुंच गई थी।

और जब महाराज का राज गजराज कलह पंचानन दिखाई दिया तब गुर्जरेश्वर की जय-जयकार से आकाश फट पड़ने को हुआ। मस्ती में झूमता, मानो अपने और अपने स्वामी के पराक्रम को जानता हो, इस प्रकार कलह पंचानन ठुमकता सा मदमाती चाल से आगे बढ़ रहा था। सोने के हौदे में महाराज कुमारपाल तथा महारानी भोपलदे विराजमान थीं। कीर्तिपाल पीछे बैठा चँवर ढुला रहा था। अंगरक्षक भामसिंह कीर्तिपाल के साथ ही सन्नद्ध खड़ा था।

महाराज के गजराज के पीछे गुजरात के विचक्षण मंत्रीश्वर उदयन का हाथी था। वीर वाग्भट्ट का हाथी था। शाकम्भरी की रानी सधवा देवी का हाथी था।—पराक्रम और प्रेम की एक अटूट अमिट रेखा-सी खिची जा रही है।

ऊँचे, तेजस्वी, चंचल श्यामवर्ण के अश्व पर काक सेनापति चले आ रहे थे।

वीर-शिरोमणि परमार धारावर्षदेव थे। शाकम्भरी राजपुत्र सोमेश्वर थे।

और था दुर्गपाल त्रिलोचनपाल।

मानो वीरत्व की शोभा यात्रा निकली हो!

इस शोभा यात्रा को देख-देखकर और इसमें सम्मिलित होकर पट्टनी प्रजा निहाल हो रही थी। उसके मन में दृढ़ विश्वास बैठ गया था कि गुजरात अजेय है, गुजरात महान् है—महान् ही रहेगा।

नगरी के भीतर तो राजपथ, प्रासादों, अट्टालिकाओं, छज्जों, झरोखों, चबूतरों, छतों, स्तम्भों, यहां तक कि वृक्षों की शाखाओं पर भी मनुष्य ही मनुष्य दिखाई देते थे। उनमें पुरुष थे, नारियां थीं, बच्चे थे, बूढ़े थे, अपंग भी और आलसी भी थे। कोई नहीं था उस दिन पाटन में ऐसा व्यक्ति जो इस आनन्द महोत्सव से वंचित रह जाना चाहता हो।

भगवान सोमनाथ, गुर्जरदेश तथा महाराज कुमारपाल की जय-जय कार थमने का नाम ही नहीं लेती थी।

श्रेष्ठिगण स्वर्ण-मुद्राओं की वर्षा कर रहे थे।

अबीर, गुलाल, चंदन और पुष्प बरस रहे थे।

पाटन की सन्नारियाँ मधुर कंठ से मंगल गान गा रही थीं।

महाराज का गजराज एक उपाश्रय के सामने जाकर स्वतः ही ठहर गया, जैसे वह इस मार्ग को, इस स्थान को जानता हो, तथा यह भी जानता हो कि महाराज कुमारपाल को यहाँ तो ठहरना ही है।

उपाश्रय के द्वार पर अभी-अभी उदित हुए सूर्य की भांति शोभायमान आचार्य हेमचन्द्र आ खड़े हुए थे।

महाराज कुमारपाल ने आचार्यश्री के दर्शन किए और वे शीघ्रता से अपने गजराज से नीचे उतरकर हाथ जोड़े हुए आचार्यश्री के समक्ष खड़े हो गए। वन्दन करते हुए वे बोले—

"गुरुदेव! आशीर्वाद प्रदान कीजिए।"

हेमचन्द्राचार्य ने मधुर स्मित किया और कहा—

"धर्मलाभ ! महाराज कुमारपाल अब आप राजा से राजर्षि बनिए।"

यह शुभ एवं सांकेतिक शुभाशीर्वाद प्रदान करके आचार्यश्री ने उच्च स्वर से एक श्लोक कहा—

"दृष्टस्तेन शरान्किरन्नभिमुखः क्षत्रक्षये भार्गवो,
दृष्टस्तेन निशाचरेश्वरवधव्यग्रो रघुग्रामणीः।
दृष्टस्तेन जयद्रथप्रमथनोन्निद्रः सुभद्रापति—
दृष्टो येन रणांगणे सरभसश्चौलुक्य चूडामणिः॥

(जिसने रणांगण में चौलुक्य चूड़ामणि कुमारपाल को देख लिया उस ने क्षत्रियों का क्षय करने वाले भार्गव परशुराम, निशाचरों का वध करने के लिए व्यग्र श्रीराम तथा पापी जयद्रथ का वध करने वाले अर्जुन को ही साक्षात् देख लिया।)

□

[बीस]

अनादि और अनन्त इस संसार में, अनादि और अनन्त काल के साक्ष्य में अनन्त पुरुषों ने जन्म लिया है तथा मरण को भी प्राप्त किया है।

सभी प्रकार के पुरुष होते हैं। श्रेष्ठ पुरुष भी, सामान्य मनुष्य भी तथा निकृष्ट व्यक्ति भी।

आचार्य हेमचन्द्र सूरीश्वर असाधारण महापुरुष थे।

जब अन्य बालक माता की गोद में खेला करते हैं तब उन्हें वीतराग मार्ग पर बढ़ने की इच्छा हुई। जब अन्य युवक यौवन के मद में मदमाते फिरते हैं तथा इस संसार का सारा आनन्द भोग लेना चाहते हैं, तब उन्होंने सूरिपद, आचार्यत्व प्राप्त कर लिया था। जब अन्य मुनिजन विद्याभ्यास प्रारम्भ करते हैं तब वे ज्ञान के महासागर बन चुके थे।

लोग उन्हें देखते और उनके अपूर्व चारित्र्य, अगाध ज्ञान तथा निर्मल विवेक बुद्धि को देखकर आश्चर्यचकित रह जाते थे। उन्हें विश्वास हो गया था कि जैन विद्या एवं तप के निस्सीम आकाश में अब एक अपूर्व अरुणोदय हो चुका था।

आचार्य हेमचन्द्र सूरि को संयम की साधना करने की आवश्यकता कभी पड़ी ही नहीं थी। वह सहज साधना हो गई थी। उसके लिए प्रयत्न की आवश्यकता नहीं थी। विकार मात्र क्या होता है यह उन्होंने कभी जाना ही नहीं था। वे तो आजन्म अविकारी थे। ब्रह्मचारी थे।

कुछ लोगों का मस्तिष्क कीचड़ से भरे खड्डे के समान होता है। कुछ लोगों का मस्तिष्क उस छोटे-से सरोवर के समान होता है जिसमें छोटी-छोटी लहरियाँ उठती रहती हैं, किन्तु वह जल स्थिर तथा बंधा हुआ ही होता है। कुछ लोगों का मस्तिष्क उछलती हुई लहरों वाली प्रवाहित

नदी की भाँति होता है। तथा कुछ लोगों का मस्तिष्क समुद्र की भाँति भी होता है, जिसमें एक समय शान्त सरोवर की शोभा होती है तो दूसरी ही घड़ी में हहराती हुई भयंकर पर्वताकार लहरों का भीषण नर्तन दिखाई देने लगता है।

आचार्य हेमचन्द्रसूरि का मस्तिष्क कैसा था ?

उपरोक्त प्रकार के मस्तिष्कों में से किसी भी प्रकार का नहीं।

वह मस्तिष्क तो निर्मल काच के समान था।

उसमें स्वच्छता, शांति तथा सर्वग्राह्यत्व था।

उस काच अथवा स्फटिक के समान निर्मल, उज्ज्वल मस्तिष्क को वे चाहे जिस दिशा में मोड़ सकते थे। अपने मनोवांछित विषय का पूर्ण प्रतिबिम्ब वे उसमें देख लेते थे। वे कलिकालसर्वज्ञ की उपाधि से अलंकृत थे। त्रिकाल ज्ञानी थे।

अन्य व्यक्तियों को वीतरागता का अनुभव करने में, निर्द्वन्द होने में प्रयास करना पड़ता है। किन्तु आचार्य हेमचन्द्रसूरि के शांत, स्थिर, ऊर्मि विहीन अन्तःकरण को निर्विकार होने या रहने के लिए अथवा जितेन्द्रिय बनने के लिए कभी कोई प्रयास करना ही नहीं पड़ा था। उसकी आवश्यकता ही नहीं पड़ी थी। क्योंकि वहाँ विकार के लिए कोई अवकाश ही नहीं रहा। बड़े-बड़े मुनिजन आचार्यश्री की इस अपूर्व और अद्भुत शक्ति को देखते और स्तब्ध रह जाते थे। वे समझ जाते थे कि यह तो इनके पूर्वजन्म के सुसंस्कारों तथा क्षयोपशम का ही परिणाम है। अतः आचार्यश्री से किसी भी प्रकार की स्पर्धा में पड़ने का साहस कभी किसी को स्वप्न में भी नहीं हुआ।

सूरीश्वर की साहित्य-साधना अखंड रूप से चल रही थी। तीन-तीन सौ लेखक तेजपाल वसहि में बैठकर दिन-रात लेखन कार्य में जुटे रहते थे। सिद्धराज जयसिंहदेव गुजरात को समृद्धि प्रदान कर गए थे। आचार्यवर की मंगल कामना थी कि अब कुमारपाल गुजरात को संस्कार प्रदान करें। वे एक ऐसे धर्मचक्र का प्रवर्तन कर रहे थे जिसकी छाया में सुख-शान्ति तो हो ही--अभय भी हो—प्राणिमात्र के लिए अभय !

एक असाधारण महापुरुष को दूसरा सुयोग्य पात्र मिल भी गया था, महाराज कुमारपाल के रूप में।

महाराज कुमारपाल आचार्य हेमचन्द्रसूरि के सम्पर्क में काफी पहले

से ही आ चुके थे। प्रथम परिचय से ही दोनों ने एक-दूसरे को भली-भांति जान-पहचान लिया था। और फिर अन्ततः जब जंगल-जंगल भटकते कुमारपाल गुर्जरेश्वर बन गए तब तो वह परिचय कुमारपाल की ओर से आचार्य श्री के प्रति पूर्ण भक्तिभाव में परिवर्तित हो गया था, एवं उनका परस्पर सम्पर्क प्रायः दैनन्दिन ही हो गया था, क्योंकि साधु-मर्यादा के अनुसार यथोचित समय पर विहार में रहकर भी आचार्यवर अपना अधिकांश शेष समय पाटन में विराज कर सरस्वती की उपासना में ही व्यतीत करते थे।

आचार्य हेमचन्द्रसूरि का गुजरात को धर्म संस्कार प्रदान करने का महान् मंगल स्वप्न महाराज कुमारपाल के अन्तःकरण में उतर चुका था।

वे जितने समर्थ योद्धा थे उतने ही धर्मवीर भी थे। तीस वर्ष तक जंगल-जंगल भटककर उन्होंने बहुत कुछ अनुभव प्राप्त किया था। उन्होंने मनष्य-जीवन की विषमताओं के कड़वे रस का पान किया था। उन्होंने मानव मात्र के दुःख को जाना और भोगा था। अतः अब उनके हृदय में एक ही भावना बनी रहती थी कि दुःख किसी को नहीं होना चाहिए। किसी मानव को भी नहीं, किसी पशु-पक्षी को भी नहीं—प्राणिमात्र को नहीं।

आचार्य हेमचन्द्रसूरि द्वारा दिखाए गए इस प्रेम धर्म के मार्ग पर महाराज कुमारपाल बड़ी अडिगता से चल पड़े थे। वे भली-भांति जान गए थे कि मद्य एवं मांस का उपयोग मानव को मानव नहीं रहने देता। इनका उपयोग करने वाला मनुष्य अपनी मनुष्यता को ही खो बैठता है। अतः यह धर्म हो नहीं सकता। किसी भी धर्मराज्य में मद्य-मांस का उपयोग होना नहीं चाहिए, फिर चाहे परम्पराओं की कैसी भी कठोर शृंखला हो, उस शृंखला को तोड़ फेंकना ही होगा।

इसके साथ ही समस्त गुजरात को अऋणी भी बनाना होगा। गुर्जर-देश में हिंसा नहीं होगी, मद्य-मांस का उपयोग नहीं होगा, कोई मनुष्य दुःखी या किसी का ऋणी नहीं होगा।

महाराज कुमारपाल की राजनीति ये आदर्श लेकर आगे बढ़ी।

किन्तु किसी भी महान् आदर्श को प्राप्त करने के मार्ग में अनेकों बाधाएं भी आती हैं।

महाराज कुमारपाल के सामने भी ब्राह्मण धर्म-परम्परा के रूप में यह बाधा अपना सिर उठाने लगी।

अब बूढ़े हो गए मन्त्रीश्वर उदयन इस स्थिति को बहुत चौकन्ने

होकर देख रहे थे। आशंकित भी थे और इस वृद्धावस्था में भी यदि आवश्यकता पड़े तो धर्म की रक्षार्थ तलवार उठाने के लिए तैयार थे।

वे देख रहे थे कि महाराज कुमारपाल की अहिंसक राजनीति के विरोध में पाटन में ही जड़ परम्पराओं में जकड़ा हुआ एक पक्ष बड़ी तेजी से उठकर खड़ा हो रहा था और प्रबल होता जा रहा था।

स्वयं महाराज का भतीजा अजयपाल जो कि एक महासमर्थ योद्धा था, वह महाराज की इस अहिंसक धर्मनीति में पाटन के विनाश की संभावना देखता था। उसको तथा उसी के समान विचार रखने वाले सामन्तगण को यह भय था कि यदि गुजरात की राजनीति इसी प्रकार अहिंसक धर्मनीति को लेकर चली तो सैनिक अकर्मण्य हो जायगे और किसी भी समय तुरुष्कों का क्रूर आक्रमण होने पर गुजरात उजड़ जायगा।

इस अजयपाल की रानी नायिकादेवी गोपक-पट्टन के शिवचित्त परमर्दी की पुत्री थी। वह बड़ी तेजस्वी नारी थी। उसकी शिवभक्ति अचल थी और विख्यात थी।

सोमनाथ के वृद्ध पुजारी भाववृहस्पति को राजगुरु के रूप में माना जाता था। वे तथा कंटकेश्वरी के मंदिर के पुजारी भवानी राशि महाराज कुमारपाल की जैनधर्म की ओर बढ़ती चली जाती प्रवृत्ति से भीतर ही भीतर उबल रहे थे।

इस प्रकार धीरे-धीरे पाटन की हवा में असंतोष तथा विरोध के स्वर तैरने लगे थे। बाहर के नहीं तो भीतर से शत्रु सिर उठाने लगे थे। इन शत्रुओं में सबसे अधिक प्रबल शत्रु लोगों का वर्ग तथा धर्म सम्बन्धी अन्धविश्वास एवं जड़ परम्पराओं से चिपके रहने का पागलपन ही था।

पाटन का आकाश स्तब्ध था।

किसी भी समय कुछ भी हो सकता था। अन्धरूढ़ियों से अनुप्रेरित एक पक्षीय एकान्तिक विचार, अथवा उसे अविचार ही कहना चाहिए, किसी भी घड़ी पाटन में आन्तरिक घर्षण उत्पन्न कर सकता था।

महान् एवं समर्थ आचार्य स्वस्थ शान्ति से इस समस्त घटना-चक्र को देख रहे थे। उन्होंने देखा कि समस्त गुजरात को अऋणी करने का महास्वप्न महाराज कुमारपाल के हृदय में है। वह महास्वप्न किसी दिन पूरा होगा कि नहीं, किन्तु परम्पराओं में से जो कंटक रूप, हिंसक, अधार्मिक प्रवृत्तियाँ हैं उनके शोधन का जो शुभ कार्य महाराज कुमारपाल

ने प्रारम्भ किया है वह भारतवर्ष में अन्यत्र कहीं हुआ नहीं तथा यह गुजरात का संस्कार शोधन कर सकता है। वे देख रहे थे कि यह राजा गुजरात की प्रजा के लिए एक अद्भुत संस्कार-शीलता ला रहा है।

आवश्यकता थी प्रजा में विवेक की।

ब्राह्मण एवं राजपूत पक्ष एकांगी विचार लेकर न चलें तथा जन साधु राजा को जैन बनाने का आग्रह लेकर न चलें तो गुजरात को धरती पर स्वर्ग उतर सकता था।

आचार्यश्री का चिन्तन था कि जो प्रजा मद्य मांस का प्रयोग न करे, निरर्थक प्राणिवध का पाप न करे, जिस राज्य में राजा द्वारा रूदतीवित्त न लिया जाय, जिस प्रजा में एक पत्नीव्रत का अनुपालन हो, जहां प्रेम, दया, परस्पर सम्मान की भावना तथा नैतिकता हो—वहां प्रजा फिर स्वयं को किसी भी धर्म की अनुयायी माने—वह अजेय हो सकती है।

और इस प्रजा में यदि सरस्वती का प्रवाह भी आ मिले तब तो कहना ही क्या ? हेम, और वह भी सुवासित।

पाटन में उस समय अपार शौर्य था।

पाटन में उस समय अपार अविवेक भी जागृत हो रहा था।

उस समय पाटन में विद्या का प्रवाह फूट पड़ा था।

किन्तु उस समय पाटन में द्वेष का दावानल भी सुलगने लगा था।

इन परिस्थितियों में से पाटन की प्रजा अति समर्थ बनकर उठ खड़ी हो सकती थी—यदि वह विवेकपूर्वक समाधानकारी व्यावहारिक वृत्ति ले कर चल सकती तो।

भाववृहस्पति सोमनाथ से आ रहे थे।

भवानीराशि पाटन में ही थे।

भृगुकच्छ से पंडित देवबोध पधार रहे थे।

अजयपाल का शौर्य उसकी महत्त्वाकांक्षा को आकाश तक उछाल रहा था।

बूढ़े मंत्रीश्वर उदयन यह देख रहे थे। पाटन में धीरे-धीरे जमता हुआ यह जमघट अनिष्टकारी हो सकता था। वे जानते थे कि महाराज कुमारपाल किसी के भय से अपना उठाया हुआ, कोई कदम पीछे हटालें यह 'न भूतो,न भविष्यति' वाली बात थी। वे तो प्रतिदिन एक-एक चरण

आगे ही आगे बढ़ाते चले जा रहे थे। उस अडिग, अभय, धर्मवीर राजा को किसी परम्परा की परवाह नहीं थी। उसकी आत्मश्रद्धा इतनी बलवान थी कि वह उचित निर्णय के विरोध में आने वाले किसी भी असंतोष की चिन्ता करने वाला नहीं था।

इस विकट परिस्थिति में से गुजरात की नैया को पार लगाना था—बूढ़े मंत्रीश्वर उदयन को। कलिकालसर्वज्ञ आचार्य हेमचंद्र सूरीश्वर को।

□

[इक्कीस]

उस समय पाटन में एक राज-परम्परा थी—सर्वअवसर का समायाजन। इस सर्वअवसर पर गुर्जरेश्वर खुले आम अपनी समस्त गुर्जर प्रजा के बीच बैठते थे। सारी प्रजा एकत्र होकर, निर्भय होकर, अपने राजा से अपने किसी भी दुःख अथवा प्रजा में हो रहे किसी भी अन्याय को प्रगट कर सकती थी। गरीब से गरीब, छोटे से छोटा, असमर्थ, असहाय व्यक्ति भी उस सर्वअवसर पर अपनी बात राजा से निर्भय, निश्चिन्त होकर कह सकता था।

गुजरात का राजा उसे तत्काल न्याय प्रदान करता था। कोई मंत्री, राज्य का बड़े से बड़ा कोई भी अधिकारी, कोई भी शक्तिशाली सामन्त अथवा मंडलेश्वर उस समय गुजरात की प्रजा और राजा के बीच आ नहीं सकता था।

वह सर्वअवसर आ रहा था।

आश्विन मास था। नवरात्रि के दिनों में कंटकेश्वरी के मन्दिर में प्राचीन राज्य परम्परा के अनुसार माता को अनेक पशुओं की बलि चढ़ाई जाती थी। किन्तु महाराज कुमारपाल का तो हिंसा से विरोध था। गुजरात में अब हिंसा के लिए स्थान था नहीं।

हिंसा नहीं या राजा कुमारपाल नहीं।

यह अटल था।

किन्तु ऐसा हो कैसे ?

अजयपाल था। भाववृहस्पति थे। भवानीराशि थे। राजपूत सामन्त और मंडलेश्वर थे। तथा पूरी ब्राह्मण परम्परा थी। उनके पास शिवभक्ति के बहाने गुजरात की राज-परम्परा की दुहाई देने का सबल आधार था।

अजयपाल और गुजरात के सामन्तगण के एक इशारे पर खून की नदियां बह सकती थीं।

स्थिति विकट तो थी ही।

किन्तु कुमारपाल भी कुमारपाल ही था। डिगना ही हो तो पृथ्वी डिगे : महाराज को तो अडिग ही रहना था।

सूर्य को यदि पूर्व दिशा में नहीं, पश्चिम दिशा में उगना हो तो वह जाने और उसका काम। किन्तु महाराज कुमारपाल को गुजरात में हिंसा नहीं होने देनी थी, यह ध्रुव था।

और भी एक बात थी—राज्य में से रुदतोवित्त लेने की प्रथा को समाप्त करना था। महाराज कुमारपाल को उन असहाय कुटुम्बीजन का सहारा बनना था जो इस प्रथा के शिकार होकर आजन्म दुःखी रहकर जीवन यापन करने के लिए विवश हो जाते थे। यदि किसी भी परिवार में पति-पत्नी को कोई पुरुष सन्तान नहीं होती थी तो उनकी समस्त सम्पत्ति राज्यकोष में ले ली जाती थी और परिवार की नारियां फिर गली-गली भीख मांगती फिरे तो उनका भाग्य !

महाराज कुमारपाल को रुदतोवित्त भी नहीं चाहिए था।

महाराज के ये विचार प्रगट हो चुके थे। निर्णय और तदनुसार घोषणा किसी भी दिन हो सकती थी। प्रजा में दो पक्ष स्पष्ट रूप से दिखाई देने लगे थे। एक पक्ष विवेकवान था जो प्रसन्न था। दूसरा पक्ष धर्मान्धता में डूबा था जो मरने-मारने पर उतारु हो चला था।

बूढ़े मन्त्रीश्वर उदयन को इस विकट स्थिति को सम्हालना था। रक्तपात न हो यह देखना था। गुजरात खंड-खंड न हो जाय इसकी उन्हें चिन्ता थी। महाराज कुमारपाल ने एक बार जो निश्चय कर लिया वह अटल है, टल सकता नहीं; यह वे जानते थे। तब किया क्या जाय ?

यही तो समस्या थी।

और सर्वअवसर आ रहा था।

उन्हीं दिनों एक रात की बात—

दो आदमी पाटन की गली-गली में छायाओं को भांति सरकते चले जा रहे थे। आधी रात तो कब की बीत चुकी थी। अतः पट्टनी सुख की नींद सो रहे थे। जानते थे उनका नाथ बैठा है, गुर्जरेश्वर कुमारपाल। उसे चिन्ता है। तब हम निश्चिन्त होकर क्यों न सोएँ ?

पाटन–नगरी सुख की नींद सो रही थी।

किंतु वे दो धीरे-धीरे निःशब्द सरकती-सी छायाएं एकाएक एक स्थान पर अटक गईं। कान किसी एक दिशा में एकाग्र हो गए। कहीं दूर से, धीमी-धीमी, किंतु स्पष्ट रूप से पीड़ाजन्य कोई रुदन ध्वनि आ रही थी।

वे जो दो व्यक्ति थे उन्होंने काले चादर अपने शरीर पर लपेट रखे थे। मुंह भी ढक रखा था। अतः एक तो उन्हें पहचाना नहीं जा सकता था, दूसरा वे मनुष्यों के स्थान पर अंधकार में चलती छायाओं-से ही अधिक प्रतीत होते थे।

किंतु हमें मालूम है, गुजरात के गौरवशाली इतिहास ने हमें बताया—ये थे—एक, महाराज कुमारपाल, और दूसरा उनका अंगरक्षक अर्णोराज (आनकराज) जो उनका मौसेरा भाई भी था। अन्य अंगरक्षक भीमसिंह उस समय अस्वस्थ था।

अर्णोराज जिद्दी था। महाराज कुछ भी कहें। उसे चिन्ता नहीं, सिर उतारकर रख लें, वह स्वीकार, किंतु रात्रि में कहीं अकेले चले जायें और अर्णोराज को छोड़ जायें, यह असंभव।

आवाज जो आ रही थी, रुदन की। कोई रो रहा था। स्वर कोमल था, नारी-स्वर।

कौन रो रहा होगा ? इतनी रात गए, क्यों रो रहा होगा ?

गुजरात के नाथ को जानना चाहिए—क्या कष्ट है उसकी प्रजा को ?

आगे चलती छाया ने, यानी महाराज कुमारपाल ने पीछे चलती छाया, अर्णोराज को संकेत किया और वे दोनों उस दिशा में चल पड़े जिधर से वह करुण रुदन-ध्वनि आ रही थी।

गली-गली निकलते वे एक सुनसान उद्यान के पिछवाड़े जा पहुँचे। उसी उद्यान में से कहीं से किन्हीं एक–दो स्त्रियों के रोने की आवाज अब स्पष्ट सुनाई दे रही थी। उद्यान के चारों ओर ऊँची, मजबूत दीवार थी। उस पार रुदन ध्वनि थी। क्या किया जाय ?

महाराज कुमारपाल ने अर्णोराज से कहा—

"आनक, जानते हो यह किसका उद्यान और किसका प्रासाद है ?"

"महाराज ! श्रेष्ठि कुबेरदत्त का।"

आनक को ऐसे अवसरों पर संक्षिप्त वार्ता करने का अभ्यास था। कुमारपाल ने कहा—

"तब ?"

"देखता हूँ, महाराज !"

समीप ही एक वृक्ष था। बिना कुछ कहे, बिना कुछ बोले, अर्णोराज चीते की-सी चपलता से उस वृक्ष पर चढ़ गया और एक शाखा पर झूलता सा उछलकर दीवार पर गिर गया। उसने अपना हाथ बढ़ाया और कुमारपाल उस हाथ को पकड़कर दीवार पर चढ़ गए।

गुजरात का नाथ, गुजरात को सुखी और दुःखी प्रजा का वह संरक्षक एक ही उछाल में दीवार पर चढ़कर भीतर उद्यान में कूद गया। अर्णोराज छाया की तरह उसके पीछे ही था।

अब तो आवाज स्पष्ट थी। कहीं समीप ही किसी लताकुंज में बैठी दो सन्नारियां सुबक-सुबक कर रो रही थीं।

महाराज कुमारपाल ने अपने मुख पर का आच्छादन हटाया तो नहीं, किन्तु उसे इतना व्यवस्थित अवश्य कर लिया कि उन्हें देखकर अचानक कोई भयभीत न हो जाय। अर्णोराज को कुछ दूर ही रोककर उन रुदन-रत नारियों के समीप जाकर उन्होंने कहा—

"देवी ! क्या कष्ट है ? क्यों रोती हो ? किसी प्रकार का भय न करो। चोर नहीं हूँ। डाकू भी नहीं हूँ। मेरे योग्य सेवा हो तो कहो।"

"कौन ?"—चौंककर, वे सन्नारियां क्षणभर को अपना दुःख भूल गईं, चकित हुईं और भौंचक उस व्यक्ति को देखती रह गईं जो उनसे पूछ रहा था—देवी, क्या कष्ट है....

उन देवियों ने सोचा होगा कि यूं ही कोई सामान्य व्यक्ति उधर आ निकला है।

किन्तु कैसे ?

श्रेष्ठि कुबेरदत्त के घर में कोई बिना आज्ञा प्रविष्ट हो सके वह तो असम्भव था।

तो यह व्यक्ति जो अचानक उनके सामने आ खड़ा हुआ है वह अवश्य कोई विशेषता तो रखता ही होगा। चोर भी हो सकता है, डाकू भी हो सकता है। किन्तु....किन्तु इसकी भाषा, इसका व्यवहार तो सूर्य की भांति स्पष्ट होकर बताता है कि यह कोई सत्पुरुष हो ही सकता है।

किन्तु यह व्यक्ति इस गहन रात्रि में, अचानक श्रेष्ठि कुबेरदत्त के

प्रासाद में, उसकी विशाल वाटिका के इस निर्जन एकान्त में आया कैसे ?

वे चुप ही रह सकीं। रोना तो क्षणों के लिए रुका, पर वे उत्तर नहीं दे सकीं। तब कुमारपाल ने पुनः कहा--

"देवी ! क्यों रोती हो ? गुजरात में एक राजा राज्य करता है। उसके होते हुए उसकी कोई प्रजा ऐसे कष्ट में क्यों है ? बताओ मुझे।"

एक थी कुबेरदत्त की पत्नी। दूसरी थी उसकी दासी। श्रेष्ठिपत्नी ने कुछ आश्वस्त होकर इतना ही कहा—

"भाई, क्या करोगे हमारा दुःख जानकर ? हमें आज रो ही लेने दो। वैसे भी अब जीवन भर रोना ही तो है। गुजरात का राजा है। भला भी है। किन्तु वह भी कुछ कर नहीं सकता। नियम ही ऐसा है। वह बेचारा कुमारपाल करे तो क्या करे ? जाने दो। रहने दो। हमें रोने दो.....।"

"देवी ! गुजरात के राजा के प्रासाद के बाहर एक घंटा बंधा हुआ है। किसी भी समय, कोई भी दुखियारा उस घंटे को बजाकर अपनी फरियाद राजा को सुना सकता है....।"

"हां, वह ठीक है भाई, किन्तु ये घन्टे केवल बजते हैं। और लोगों को दुःख जो हैं वे रहते ही हैं। राजा तो है, किन्तु उसे राज करने कौन देता है ? राजपुरोहित हैं, मंत्री हैं, सामन्त हैं, मंडलेश्वर हैं—सब कहते हैं कि यह गुजरात के सिंहासन की परम्परा है। ऐसा तो करना ही पड़ेगा। जाओ भाई, तुम दयालु हो। किन्तु तुम हमारी कुछ सहायता कर नहीं सकोगे।"

महाराज कुमारपाल को यह कटु सत्य भीतर तक बेध गया। किन्तु वह कोई सामान्य राजा नहीं था। व्यक्ति के नाते वह विशिष्ट था। राजा के नाते वह असाधारण था। बोला—

"देवी, तुम ठीक तो कहती हो कि गुजरात के महाराज को कुछ अन्धी परम्पराओं ने बांध रखा है। किन्तु मैंने सुना है कि वह ऐसी तमाम निरर्थक परम्पराओं को समाप्त कर देना चाहता है जिससे जनसाधारण का कल्याण नहीं होता, जो धर्म के विपरीत हैं....?"

"धर्म का ही तो झगड़ा है, भाई, सब लोग धर्म की ही तो दुहाई

देते हैं—और हम जैसी दुखियारियाँ उस धर्म की, उस परम्परा की बलि चढ़ जाती हैं।"

"किन्तु देवी, प्रार्थना करता हूँ, मुझे कहो तो सही कि तुम्हें क्या दुख है ? हो सकता है कि कोई ऐसा संयोग हो कि तुम्हारा दुःख दूर हो जाय। देखो, देवी, रात काफी जा चुकी है। समय तो मूल्यवान है। यदि मुझ पर कुछ भी भरोसा हो तो अपना दुःख मुझे कहो।"

श्रेष्ठिपत्नी विचार करने लगी।

अर्णोराज को चैन नहीं था। राजा की आज्ञा के विपरीत भी वह समीप आ गया था—उस पर गुर्जरेश्वर की सुरक्षा का दायित्व जो था—उसने सुना—

"भाई, समझ में नहीं आता कि तुम हो कौन ? भले आदमी लगते हो। किन्तु हमारे प्रासाद में तुम आए कैसे ? खैर, अब तुम्हें कहती हूँ कि श्रेष्ठिवर का कुछ अता-पता लग नहीं रहा। महीनों हुए वे व्यापार हेतु समुद्र-यात्रा पर गए थे। लोग कहते हैं कि उनका यान डूब गया....।"

इतना कहते-कहते श्रेष्ठिपत्नी फूट-फूट कर रो उठी। उसकी दासी ने उसे कंधे से लगाकर आश्वस्ति प्रदान करने का प्रयत्न करते हुए कहा—

"स्वामिनी ! स्वामिनी ! अधीर न हों ! स्वामिनी....!"

गुजरात का नाथ मौन, करुणा-विगलित, दुःखी खड़ा रहा। जब श्रेष्ठिपत्नी कुछ शान्त हुई तब उसने कहा—

"देवी ! एक बात कहता हूँ, राजा हो या रंक, मनुष्य के मन की भावना का, शुद्ध भावना का, अच्छा प्रभाव तो होता ही है। मैं भगवान से प्रार्थना करता हूँ कि आपका सुहाग अचल रहे।"

"तुम्हारी सद्भावना के लिए कृतज्ञ हूँ भाई, किन्तु कल क्या होगा ? कल....कल तो गुजरात का राजा हमारा सब कुछ लूट लेगा। हम गली-गली भटकेंगी। राजा के कर्मचारी रुदतोवित्त लेने के बहाने हमारा सब कुछ, हमारी कोटि-कोटि सम्पदा को ले जायेंगे राजकोष में। क्योंकि हमारे कोई सन्तान नहीं है....."

महाराज कुमारपाल के लिए सहसा ही निश्चय की घड़ी आ पहुंची।

कोई श्रेष्ठि हो अथवा साधारण जन, राजा की दृष्टि में सभी समान थे, और उसे अपने राज्य में से इस विगलित, अन्यायपूर्ण, परम्परा को सदा-

सदा के लिए समाप्त करना ही था। विरोध चाहे जितना प्रबल हो, दसों दिशाओं से उनचास प्रभंजन ही चाहे क्यों न टूट पड़े, अब तो महाराज कुमारपाल के लिए अपनी प्रजा का, किसी भी व्यक्ति का दुःख देख पाना अशक्य हो रहा था।

गुजरात के राजा ने तुरन्त निर्णय ले लिया। उसने कहा—

"देवी ! आप शान्त हों। मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि आपके साथ अन्याय नहीं होगा। और अब आज्ञा दीजिए। रात बहुत जा चुकी। आप सुख से सो रहिए। राजा का कोई कर्मचारी आपको सताने नहीं आएगा।"

यह कहकर महाराज कुमारपाल लौटने को हुए। किन्तु तभी श्रेष्ठि-पत्नी ने कहा—

"भाई, मैं नहीं जानती कि तुम कौन हो और किस अधिकार से मुझे इतना आश्वासन देकर जा रहे हो। किन्तु तुम भले आदमी अवश्य हो। दुःख के समय कुछ आश्वासन प्रदान करने वाला व्यक्ति देवता के समान ही होता है। मैं भी भगवान से प्रार्थना करूंगी कि वह तुम्हारा भला करे।"

इतना कहते-कहते श्रेष्ठिपत्नी ने अपनी आँखों के आंसू पोंछ लिए। उठकर खड़ी होती हुई वह इतना और बोली—

"भाई आओ, मैं तुम्हें मार्ग बता दूँ। तुम जाने कैसे इस उद्यान में आ गए। कोई रक्षक तुम्हें मिला क्यों नहीं ? अब यदि कोई रक्षक तुम्हें देखेगा तो वह तुम्हें कोई चोर उचक्का समझ सकता है और फिर अनर्थ हो सकता है....।"

"नहीं, नहीं, देवी ! आप कष्ट न करें। मैं जैसे आया था वैसे ही चला भी जाऊंगा। और हाँ, ठीक याद आ गया," —कहते हुए महाराज कुमारपाल ने अपनी तर्जनी से एक मुद्रिका निकालकर श्रेष्ठिपत्नी को देते हुए कहा—"आप यह मुद्रिका अपने पास रख लीजिये। यदि कोई भी व्यक्ति आपके आवास में आकर आपको किसी भी प्रकार का कष्ट दे अथवा आपकी इच्छा या आज्ञा के विरुद्ध कुछ भी करना चाहे तो आप यह मुद्रिका उसे दिखा दीजिएगा।"

यह कहकर महाराज कुमारपाल ने बरबस वह मुद्रिका श्रेष्ठिपत्नी के हाथ में थमा दी और दूसरे ही क्षण वे अंधकार में विलीन हो गए।

श्रेष्ठिपत्नी ठगी-सी खड़ी रह गई।

अचानक उन्हें विचार आया, एक बिजली-सी जैसे उनके मस्तिष्क में कौंधी कि कहीं यह भला आदमी स्वयं गुर्जरेश्वर महाराज कुमारपाल ही तो नहीं ? अवश्य, वे ही होंगे ! और कौन हो सकता है--और हो ही कौन सकता है.....अरे, मुझे अब तक यह सूझा क्यों नहीं ? मेरी मति मारी गई थी क्या ? स्वयं गुजरात का नाथ मेरे द्वार पर आया और मैं भाग्यहीना उन्हें पहचान भी न सकी ? उन्हें मैंने बैठने तक को नहीं पूछा... .....

फिर वे अपनी दासी से बोली—"मालती ! चल तो जल्दी से कहीं प्रकाश में । देख तो सही यह मुद्रिका ।"

प्रकाश में आकर उन दोनों ने देखा—रत्नजटित राजमुद्रिका जगर मगर कर रही थी ।

अब श्रेष्ठिपत्नी किसी को आवाज लगाएं, कोई जाकर देखे और महाराज कुमारपाल को सादर लौटाकर ला सके, इन सब बातों के लिए बहुत देर हो चुकी थी ।

वे भारी मन लिए अपने आवास की ओर चली गईं ।

अपने महाराज को वे पहचान न सकीं इसलिए उनका मन भारी था ।

किन्तु किसी वज्रशिला की भाँति उनकी छाती पर पड़ा हुआ एक भारी बोझ, भविष्य की भयानक दुश्चिन्ता बहुत कुछ दूर हो गई थी । क्योंकि वे इतना तो जानती ही थीं कि महाराज कुमारपाल का वचन अटल था ।

अर्णोराज ने सब कुछ देख और सुन लिया था। ज्योंही महाराज कुमारपाल अंधकार के साथ एकाकार होकर उद्यान की दीवार की ओर आगे बढ़े कि वह फिर से छाया की भाँति उनके पीछे लग गया और फुसफुसाते हुए बोला—

"महाराज ! यह आपने क्या किया ? एकाएक यह क्या निश्चय कर डाला ? मंत्रीश्वर से विचार-विमर्श भी नहीं हो पाया । राज्य की परम्परा के अनुसार रुदतीवित्त तो लिया ही जाता है.....।"

"आनक, अब कुछ कहने की आवश्यकता नहीं । गुजरात की सीमा में इसी क्षण से रुदतीवित्त समाज हो चुका ।"

अंधेरे में यदि देखा जा सकता तो दिखाई देता कि गुर्जरेश्वर महाराज कुमारपाल के नेत्र उस समय शेर की आंखों के समान प्रज्वलित हो उठे थे । □

[बाईस]

भोर का उजास फैल रहा था। पाटन के नागरिक आलस्य का त्यागकर अपने-अपने दैनन्दिन कार्यों में प्रवृत्ति कर चले थे। स्नान-ध्यान के साथ-साथ मंत्र पाठ हो रहे थे। आकाश में पक्षियों का कलरव गान मधुर संगीत की सृष्टि कर रहा था। आज का यह सबेरा पाटन के इतिहास का कोई नवीन, सुनहरा पृष्ठ खोलने जा रहा हो ऐसा आभास वातावरण में से सहज ही अनुभूत हो रहा था।

सूरज अब कुछ और ऊपर चढ़ आया, आकाश में। पाटन की शत-सहस्र गगनचुम्बी अट्टालिकाओं के अनगिन कंगूरे सोने की आभा लेकर लक-दक कर उठे।

उसी समय एक डिंडिमिका—घोष विशाल पाटन नगरी में एक स्थान से दूसरे स्थान पर सुनाई देने लगा—

"पाटन के नागरिको ! सावधान होकर सुनो। गुर्जरेश्वर महाराज कुमारपाल की आज्ञा से, इसी घड़ी से, सारे गुजरात राज्य में रुदतीवित्त समाप्त किया जाता है। इस राजाज्ञा का उल्लंघन कदापि न हो। पाटन के नागरिको, सावधान होकर सुनो....।'

जैसे-जैसे यह घोष नगरी में फैलता चला गया वैसे-वैसे सारी नगरी में हलहल-सी मचती चली गई। सहसा सुनने वालों को अपने कानों पर विश्वास नहीं हुआ। गुजरात के राज्य में से रुदतीवित्त समाप्त ? इसी घड़ी से ? इतना अचानक ? अपने महाराज कुमारपाल के अद्‌भुत साहस और उनके हृदय की अपार करुणा का ज्ञान तो पाटन की प्रजा को अवश्य था, किन्तु इतने भीषण विरोध का सामना करके वे सहसा यह कदम उठा लेंगे ऐसी सम्भावना तो किसी को नहीं थी। और वह भी आज ही ?

'आज तो 'सर्वअवसर' है !

इस सर्वअवसर पर समस्त प्रजाजन उपस्थित होंगे। समस्त मंडलेश्वर तथा सामन्तगण होंगे। राजगुरु भाववृहस्पति और कंटकेश्वरी के महन्त भवानीराशि होंगे। मंत्रिगण होंगे। तथा सम्भव है कि पाटन के शत्रु राज्यों के कोई गुप्तचर भी छद्मवेश में वहां उपस्थित होंगे। शत्रु राजाओं के दूत अथवा सान्धिविग्राहिक भी वहां उपस्थित हो सकते हैं।

तब इस अवसर पर यदि राजसभा में कोई हंगामा खड़ा हो गया तो क्या होगा ? महाराज कुमारपाल विपक्ष की ओर से इस प्रचण्ड विरोध का सामना कैसे कर पाएंगे ?

यदि भरी सभा में महाराज को किसी भी प्रकार से नीचा देखना पड़ गया तो गर्वीले गुजरात के गौरव का क्या होगा ?

तथा कोई न कोई विस्फोट होकर ही रहेगा यह भी सुनिश्चित ही लगता है, क्योंकि रुदतीवित्त राज्यकोष में न लिए जाने के विरोध में राज्यभर में एक प्रबल हवा बह रही है। राजपूत सामन्तगण इसका विरोध अवश्य ही करेंगे। अजयपाल उनके साथ है। महाराज कुमारपाल का यह भतीजा वीर शिरोमणि अजयपाल प्रचण्ड व्यक्तित्व का धनी है। समस्त राजपूत-मण्डल उसके इशारे पर नाचता है। इस मंडली का विचार है कि यदि रुदतीवित्त समाप्त कर दिया गया तो फिर राज्यकोष का क्या होगा ? जब राज्यकोष खाली हो जायगा तब किसी भी युद्ध के सिर पर आ पड़ने पर गुजरात का सैन्य किस आधार पर लड़ेगा ? क्या गुजरात के राज्य में से राजपूती को समाप्त कर देना है ? क्या गुजरात के वीर सैनिकों को हाथों में चूड़ियां पहनकर बैठ जाना है ?

इसी प्रकार के अनेक विचार, अनेक तर्क-वितर्क प्रजा में उठ रहे थे उस डिंडिमिका घोष को सुनकर—पाटन के नागरिको, सावधान होकर सुनो····

समस्या कोई एक ही होती तब भी कोई बात थी। समर्थ महाराज कुमारपाल कोई न कोई समाधान निकाल लेते। किन्तु समस्याएँ तो और भी थीं। उनमें से सबसे अधिक चिन्ताजनक जो समस्या थी वह कुलदेवी कंटकेश्वरी माता के भोग की थी। आश्विन मास था। नवरात्रि के दिन आ ही गए थे। माता को भोग लगेगा कि नहीं ? इस प्रश्न पर सारे राज्य में उथल-पुथल और अनुमानों—आशंकाओं के बादल-से घिर रहे थे। सभी

जानते थे कि गुर्जरेश्वर को अब अपने गुर्जर देश में हिंसा नहीं चाहिए। किन्तु राज्य की सनातन परम्परा का प्रश्न था और उस परम्परा को बनाए रखने के समर्थन में जो पक्ष था वह प्रबल था।

और आज सर्वअवसर है।

अब क्या होगा ?

जैसे-जैसे सर्वअवसर का निर्धारित समय समीप आता गया जन-समूह राजमहल की ओर उमड़ने लगा। जन-जन के मन में आशंका थी, जिज्ञासा थी, और प्रार्थना के भाव भी थे कि उनका गुर्जरदेश छिन्न-भिन्न होने से बच सके।

अपार जन समूह राजप्रासाद के सुविशाल खुले प्रांगण में एकत्र हो चुका था। अब कहीं तिल रखने को भी स्थान बचा हो ऐसा प्रतीत नहीं होता था। आशंकित पट्टनी प्रजा बहुत धीरे-धीरे आपस में वार्ता कर रही थी किन्तु लगता ऐसा था कि जैसे किसी महासागर में गर्जन उठ रहा हो।

अब एक-एक कर राज्य के अधिकारीगण, सैन्य-नायक, सामन्त, मांडलिक, मंत्रिगण इत्यादि भी पहुँचने लगे। वे चुपचाप आकर अपने-अपने लिए निश्चित स्थानों पर आकर बैठते चले गए। किसी के चेहरे पर चिन्ता की रेखाएँ थीं तो किसी के चेहरे पर विद्रोह के भाव।

अन्त में जब मंत्रीश्वर, उदयन का गजराज घंटघोष करता हुआ उस सभास्थल पर पहुँचा तब उस अपार जन-मेदिनी में से रास्ता स्वयं ही निकल आया और गुर्जरदेश के उत्थान हेतु अपना सर्वस्व समर्पण कर देने वाले तथा आज अस्सी वर्ष की आयु में भी अपने जीवन का पल-पल गुजरात की सेवा में लगाने वाले उन महान् मंत्रीश्वर को देखकर प्रजा भावावेश में घोष कर उठी—मंत्रीश्वर उदयन की जय !

किन्तु उस जयकार का घोष उठकर दिशाओं में गूंजे इससे पूर्व ही मंत्रीश्वर उदयन ने अपना विशाल दाहिना बाहु उठाकर गर्जना की—

"सावधान ! पाटन के नागरिको ! सावधान ! गुर्जर साम्राज्य में केवल गुर्जरेश्वर की जयकार ही गूँजा करती है। सावधान !"

एकाएक ऐसा मौन छा गया कि जैसे वहां कोई मनुष्य हो ही नहीं, केवल पाषाण-प्रतिमाएँ खड़ी हों।

और मंत्रीश्वर उदयन अपने गजराज से उतरकर धीर कदमों से राज्य सिंहासन की ओर बढ़ गए।

गुजरात के उस अद्वितीय राजनीतिज्ञ के मुख पर कोई भाव नहीं था। उनकी मुखमुद्रा प्रशान्त थी, जैसे कहीं कुछ हो ही नहीं।

किन्तु उनके हृदय में आन्दोलन था। आज का अवसर कैसा विकट है यह ज्ञान मंत्रीश्वर उदयन को न होता तो और फिर किसे होता ? मगर जानने वाले जानते थे कि मंत्रीश्वर उदयन के मुख पर जब-जब भी यह प्रशान्त भाव होता था तब उस आदमी की खैर नहीं होती थी जो उनके सामने, उनके विरोध में खड़ा हो !

राजसभा स्तब्ध-सी थी।

जनमेदिनी शान्त थी।

गुर्जरेश्वर के पधारने का समय हो चुका था।

मंगल-ध्वनियों, घंटाघोष तथा जय-जयकार के बीच महाराज कुमारपाल ने प्रवेश किया और वे अपने सिंहासन पर विराजमान हो गए। उनके प्रवेश के समय नतमस्तक मौन, खड़े सभ्यजन धीरे-धीरे अपने-अपने स्थानों पर बैठ गए।

मन्त्रीश्वर उदयन ने एक दृष्टि सारी सभा पर डाली और देखा कि श्रीधर पंचोली श्रेष्ठि समुदाय में सबसे आगे बैठा उतावला हो रहा है। उन्हें ज्ञात था कि श्रीधर पंचोली के पास बहत्तर लक्ष द्रम्म का राज्य प्रदत्त पट्टा है जिसके अनुसार उसे रुदतोवित्त में से वह धनराशि लेने का अधिकार राज्य द्वारा प्रदान किया गया है। यदि रुदतोवित्त न लिया जाय तो यही राशि वह जब भी मांगे तब राज्यकोष में से उसे तुरन्त दी जानी चाहिए। मन्त्रीश्वर को यह भी ज्ञात था कि आज श्रीधर पंचोली अपना यह अधिकार इस सर्वअवसर पर मांगने वाला था। प्रातःकाल से ही श्रीधर पंचोली की गतिविधि पर उनकी सतर्क दृष्टि थी।

परिस्थिति का माप लेती उनकी तीव्र दृष्टि उपस्थित सामन्त समुदाय पर होती हुई महाराज कुमारपाल के पार्श्व में बैठे हुए अजयपाल पर जाकर कुछ क्षणों के लिए ठहर गई। तेज से परिपूर्ण बिजलियों से ही मानो गढ़ा गया हो, ऐसा उसका व्यक्तित्व था। उसकी आंखों में शौर्य के सागर लहराते हुए प्रतीत हो रहे थे। उसकी कमर से लटकती हुई तलवार की छटा निराली ही थी। ऐसा प्रतीत होता था कि जैसे यह दुर्धर्ष युवक यदि अपनी तलवार खींचकर मैदान में कूद पड़े तो फिर सैंकड़ों और हजारों की कोई गिनती उसके सामने नहीं थी।

काश ! यह अद्भुत वीरत्व गुजरात के निर्माण में प्रयुक्त हो सके।

यदि यह वीरत्व उल्टी दिशा में चला जाय तो एक बार फिर से गुजरात में अअंधकार छा सकता है।

मन्त्रीश्वर उदयन ने यह सब कुछ क्षणों में ही देख लिया और वे सन्नद्ध होकर बैठ गये।

जैसी कि सम्भावना थी, श्रीधर पंचोली अपने स्थान से उठकर बोला—

"गुर्जरेश्वर महाराज ! मैं श्रीधर पंचोली हूँ। अपनी कुछ फरियाद लेकर इस सर्वअवसर पर आपकी सेवा में उपस्थित हुआ हूँ।"

"फरियाद ! कैसी फरियाद पंचोलीजी ?" स्वयं महाराज ने पूछा।

"महाराज ! आपने रुदतीवित्त समाप्त किये जाने की घोषणा करवाई है। किन्तु मेरे पास राज्य का यह पट्टा है। बहत्तर लक्ष द्रम्म का। यदि राज्य को रुदतीवित्त नहीं लेना है तो फिर मेरे इस पट्टे का क्या होगा ?"

"कैसा पट्टा है आपके पास ? लाइए जरा मैं देखूँ। आगे आइए।"

"यह रहा महाराज ! पूरे बहत्तर लक्ष द्रम्म का पट्टा है। मैंने ये बहत्तर लाख द्रम्म राज्य भन्डार में दिये हैं और यह धनराशि मुझे रुदती वित्त में से लेने का अधिकार प्रदान किया गया है, महाराज !" कहते हुए श्रीधर पंचोली ने विनयपूर्वक आगे बढ़कर वह पट्टा महाराज कुमारपाल के हाथों में थमा दिया।

महाराज उस पट्टे पर दृष्टिपात कर ही रहे थे कि उदयन मंत्रीश्वर ने श्रीधर पंचोली से कहा—

"पंचोलीजी, आपके बहत्तर लक्ष द्रम्म राज्य भंडार में सुरक्षित रखे हैं। आप जब भी मांगेंगे तब वह धनराशि आपको मिल जाएगी। बस, इतनी ही बात थी न ! आप चिन्ता न करें। जाइये, अपना स्थान ग्रहण कीजिए।"

"मैं तो ये चला, मंत्रीश्वर ! बस महाराज राज्य भान्डारिक कपर्दी मन्त्रीजी को आदेश दे दें कि मेरे बहत्तर लक्ष द्रम्म मुझे लौटा दिये जायें।"

"पंचोलीजी"—मंत्रीश्वर उदयन के स्वर में मानो बिजली कड़की हो, "कहा न कि आपके द्रम्म राज्य भण्डार में सुरक्षित हैं। आपको मालूम नहीं कि इस समय गुजरात के सिर पर एक नहीं, दो-दो युद्ध मंडरा रहे हैं।"

"मंत्रीश्वर ! आप बैठे हैं, स्वयं गुर्जरेश्वर महाराज बैठे हैं, ये अजय पाल महाराज भी बैठे हैं, तब दो-दो क्या दस-दस युद्ध भी गुजरात को एक साथ खेलने पड़ें तो किसे चिन्ता है, प्रभु ! युद्ध तो गुजरात खेलता आया है और खेलता ही रहेगा। किन्तु राज्य में से यदि रुदन्तोवित निकाल देना है तो मेरे बहत्तर लक्ष द्रम्म....।"

सभी को आभास हो गया कि श्रीधर पंचोली को इस जिद भरी मांग के पीछे किस समुदाय का हाथ था, किस वर्ग का सहारा और उत्तेजन था।

मंत्रीश्वर उदयन ने श्रीधर पंचोली का यह अड़ियल रवैया देखा और वे समझ गये कि महाराज कुमारपाल को अब इससे अधिक सहन नहीं होगा। अवसर आ पड़ने पर वे एक बार और दो टुकड़े कर देने वाले व्यक्तियों में से थे। उनकी दृष्टि महाराज कुमारपाल के चेहरे पर पड़ी और वे जान गए कि विस्फोट होना ही चाहता है। उन्होंने विषय परिवर्तन करते हुए तुरन्त कहा—

"महाराज ! भृगुकच्छ से आम्रभट्ट का संदेश आया है कि कोंकण के मल्लिकार्जुन की राजसभा के कोई कवीन्द्र कर्णाटराज पाटन पहुँच रहे हैं। आज इस सर्वअवसर पर वे कवीन्द्र यहाँ उपस्थित हों तो भी ताज्जुब नहीं। यह विषय गंभीर है, महाराज !"

निश्चय ही यह विषय गंभीर था, क्योंकि मल्लिकार्जुन के रंग-ढंग बदले हुए थे। वह अपनी राजसभा का कवि पाटन की राजसभा में भेजकर दुहरी चाल चल रहा था। एक तो वह पाटन की भीतरी हालत का सही अनुमान लेना चाहता था और साथ ही अपनी चुनौती भी प्रेषित कर देना चाहता था।

किन्तु इस गंभीर विषय से भी अधिक गंभीर उस समय महाराज कुमारपाल का चेहरा दिखाई दिया। उन्होंने मंत्रीश्वर की विषय परिवर्तन की इच्छा को जान तो लिया किन्तु माना नहीं। उन्होंने भांडारिक कपर्दी मंत्री से आज्ञावाही स्वर में प्रश्न किया—

"भांडारिक जी, इस पट्टे के विषय में आपको कुछ कहना है ?"

भांडारिक कपर्दी मंत्री हाथ जोड़कर खड़ा हो गया और बोला—

"महाराज ! मैं तो राज्य का भांडारिक हूँ। मेरा काम तो महाराज की आज्ञा के अनुसार भंडार में से धन निकालकर देते जाना है। यह पट्टा

मेरे लिए महाराज की आज्ञा ही है। पंचोली जी यदि अपना धन माँगते हैं तो मेरा धर्म बनता है कि तत्काल राज्यकोष में से उतना धन निकालकर उन्हें सौंप दूं।"

भांडारिक के इस उत्तर को सुनकर महाराज कुमारपाल कुछ निर्णय दें इसके पूर्व ही सामन्त मण्डली में से किसी एक सामन्त ने कहा—

"महाराज ! राज्यकोष अन्ततः तो प्रजा के लिए ही उपयोग में आता है। युद्ध आए, अकाल पड़े या अन्य कोई अवसर हो तो प्रजा की रक्षा और भलाई के लिए ही राज्यकोष उपयोग में आता है। तब रुदती-वित्त को समाप्त करने की आवश्यकता ही क्या है....?"

इतना सुनते ही गुर्जरेश्वर महाराज कुमारपाल की भौंहें कमान की भांति तनती हुई मंत्रीश्वर उदयन ने देखीं और जान लिया कि वह विकट घड़ी आने को ही है जबकि आंतरिक घर्षण विनाश को आमंत्रित कर सकता है। उन्होंने तत्काल कहा—

"महाराज ! सोरठ से काक सेनापति का संदेशा आया है कि सोरठ सुलगने लगा है....।"

"अब जिसे-जिसे सुलगना है वह सुलग ले, मेहता जी ! कोंकण या सोरठ या सारा भारतवर्ष !"—महाराज कुमारपाल ने वज्र कठोर स्वर में कहा, "किन्तु जब तक कुमारपाल के हाथ में तलवार है तब तक गुर्जर धरा पर अन्याय नहीं होगा, हिंसा नहीं होगी। हां, तो भांडारिक जी, आप क्या कह रहे थे ?"

सारी सभा काँप उठी थी। जैसे भूडोल आना चाहता हो। भांडारिक कपर्दी मंत्री भी मन ही मन काँप उठा था। किन्तु उस निश्छल, सरल, कर्त्तव्यनिष्ठ राज्यभक्त को अपनी कर्त्तव्यनिष्ठा के अतिरिक्त अन्य कोई बात विशेष समझ में नहीं आती थी। वह हाथ जोड़कर बोला—

"महाराज ! मैंने तो निवेदन किया कि महाराज की आज्ञा, राज-मुद्रा अथवा राजा का पट्टा मेरे लिए तो सिर माथे पर। श्रीधर पंचोली जब मेरे से अपना धन वापस माँगें तब मुझे देना, इतना ही मैं जानता हूँ, महाराज !"

"लेकिन भांडारिक जी," मंत्रीश्वर ने कहा, "आप जानते हैं कि एक साथ दो-दो युद्ध गुजरात के माथे पर मंडरा रहे हैं। यदि राज्यकोष खाली हो जायगा तो इन परिस्थितियों का सामना कैसे होगा ?"

"वह तो आपकी चिन्ता है प्रभु ! राज्य भंडार को भरना आपका काम। राजाज्ञा को सिर माथे चढ़ाकर भंडार को खाली करना मेरा काम।"

"ठीक है, भांडारिक जी, श्रीधर पंचोली जी को इनके बहत्तर लक्ष द्रम्म अभी के अभी राज्य भंडार में से दे दीजिए। गुजरात के राज्य में से रुदतीवित्त समाप्त हो चुका है। त्रिलोचनपाल जी, यह घोषणा आप एक बार फिर से सारे पाटन और सारे गुर्जर प्रदेश में करा दीजिए।"—कहते हुए गुर्जरेश्वर महाराज कुमारपाल ने श्रीधर पंचोली का वह पट्टा फाड़कर फेंक दिया।

और उस ऐतिहासिक विशाल सभा में से एक गगनभेदी जयघोष उठकर दसों दिशाओं को गुजरित करने लगा—'गुर्जरेश्वर महाराज कुमारपाल की जय ! गुजरात का नाथ अमर रहे !!'

राज्य में से रुदतीवित्त की समाप्ति का विरोध करने के लिए उद्यत सामन्त मण्डल महाराज कुमारपाल के इस अकल्पनीय, दो-टूक व्यवहार से स्तब्ध, ठगा-सा रह गया। किसी का साहस नहीं हुआ कि उस क्षण महाराज कुमारपाल के आग्नेय नेत्रों से नेत्र तक मिला सके।

ठीक उसी समय कहीं से एक गम्भीर और मृदु किन्तु धरती और आकाश दोनों को एक साथ ध्वनित-प्रतिध्वनित करता हुआ मेघ-मंद्र स्वर सुनाई दिया—

न यन्मुक्तं पूर्वैः रघु - नहुष - नाभाग - भरत
प्रभृत्पुर्वीनाथैः कृत युग कृतोत्पत्तिभिरपि।
विमुंचन संतोषात् तदपि रुदतीवित्तमधुना
कुमारक्ष्मापाल ! त्वमसि महतां मस्तकमणिः॥

—कृत युग में राजा रघु, नहुष, नाभाग, भरत आदि भी जिस रुदती वित्त को छोड़ नहीं पाए, उसे ही सन्तोषपूर्वक छोड़ने वाले महाराज कुमारपाल आप राजाओं के मस्तक-मणि ही हैं।

लोगों ने देखा—प्रांगण के पार, श्रेष्ठि कुबेरदत्त के प्रासाद के द्वार पर कलिकालसर्वज्ञ हेमचन्द्राचार्य प्रसन्न मुद्रा में खड़े थे। यह आशीर्वाद उन्हीं की वाणी का प्रसाद था।

महाराज कुमारपाल ने तुरन्त खड़े होकर उसी स्थान से आचार्यवर को वन्दन किया !

अपने ज्ञानागार गुरुवर्य के चरण चिन्हों पर चलते हुए मुनि रामचंद्र ने भी उसी समय दाहिनी भुजा उठाकर कहा —

अपुत्राणां धनं गृह्नन् पुत्रो भवति पार्थिवः ।
त्वं तु संतोषतो मुञ्चन् सत्यं राजपितामहः ॥

—अपुत्र का धन ग्रहण कर लेने वाला उसी का पुत्र हो जाता है। किन्तु संतोषपूर्वक उसका त्याग करने वाले आप तो सत्य ही राजपितामह हैं।

समस्त उपस्थित जन समूह में से एक गौरवपूर्ण जय जयकार पुनः आकाश में गूंज उठा—"राजपितामह गुर्जरेश्वर महाराज कुमारपालदेव की जय !"

वह जयघोष शान्त हुआ ही था कि सभाजन के समूह में से एक उत्तुंग देह यष्टिवान गौरवर्ण पुरुष उठ खड़ा हुआ। उस व्यक्ति का ललाट प्रशस्त था। उसके वस्त्र रेशमी थे और उसकी मुख मुद्रा से वैशिष्ट्य झलकता था। खड़े होकर उसने कहा—

"गुर्जरेश्वर महाराज ! मुझे आपके समक्ष कुछ निवेदन प्रस्तुत करना है।"

"निवेदन ? कैसा निवेदन ? कोई फरियाद है ?"—महाराज कुमारपाल ने पूछा।

"फरियाद तो नहीं है, महाराज ! किन्तु आपत्ति है।"

'आपत्ति' शब्द उदयन मंत्रीश्वर जैसे धुरंधर राजनीतिज्ञ को सावधान कर देने के लिए पर्याप्त था। वैसे भी वे सजग थे, सावधान थे। उस व्यक्ति को देखते ही वे समझ चुके थे कि हो न हो यह व्यक्ति वही कोंकण के राजा मल्लिकार्जुन का राजकवि कर्णाटराज ही है। उन्होंने कहा—

"कर्णाटराज ! आप कुछ और बोलें उससे पूर्व आपको सावधान कर दूं कि यह गुजरात है और आज यह गुजरात का सर्वअवसर है। इस सर्वअवसर पर गुजरात की प्रजा अपना दुःख-दर्द महाराज के समक्ष प्रगट करती है। आपको कोई तकलीफ हो, दुःख हो, आपकी कोई फरियाद हो, आपके साथ कोई अन्याय हुआ तो अवश्य कहिए। बाकी अन्य आपका कोई प्रयोजन हो तो उसका अनुमान हमें है। इस अवसर की गरिमा आप को रखनी है। यह ध्यान रहे। अब आप कहें आपको क्या कहना है।"

कवीन्द्र कर्णाटराज कुछ अतिरिक्त आवेश में थे। शायद उन्हें अपने

स्वामी मल्लिकार्जुन की शक्तिशाली सेना का अभिमान भी था। अतः उन्होंने मंत्रीश्वर की चेतावनी को भली प्रकार समझा नहीं। वे बोले—

"महाराज ! मेरी बात आप सुनें—

हरिर्यथैकः पुरुषोत्तमो स्मृतो, महेश्वरस्त्र्यंबक एव नापरः।
तथा विदुर्याम् मुनयः शतक्रतुं द्वितीयगामी नहि शब्द एष नः॥

—जिस प्रकार 'हरि' केवल भगवान विष्णु का ही विरुद है, महेश्वर केवल भगवान शंकर ही माने जाते हैं तथा 'शतक्रतु' केवल इन्द्र ही हैं, उसी प्रकार इस पृथ्वी पर स्थानाधिपति राजराजेश्वर मल्लिकार्जुन के अतिरिक्त "राजपितामह" का विरुद किसी अन्य को उपयोग में लाने का अधिकार नहीं है।

"महाराज ! यहाँ के कविराज को शायद यह बात ज्ञात नहीं है। इसीलिए उन्होंने आपके लिए 'राजपितामह' के विरुद उच्चारण किया है। आप राजपितामह के अतिरिक्त जो चाहें वह विरुद प्रयोग में लें, किन्तु 'राजपितामह' तो कोंकण के महाराज मल्लिकार्जुन ही हैं।"

कर्णाटराज का यह दम्भ वचन सुनकर महाराज कुमारपाल की भृकुटियां फिर से तन गईं किन्तु फिर भी वे शान्त ही रहे।

लेकिन अजयपाल की लम्बी लपलपाती तलवार 'सड़ाक्' से म्यान से बाहर निकल आई और वह अपने आसन से उठ खड़ा हुआ।

उसी समय मंत्रीश्वर के सुपुत्र वाग्भट्ट ने कहा—

"कवीन्द्र कर्णाटराज, शायद आप होश में नहीं हैं। यह कोंकण नहीं, पाटन की भूमि है।"

"आप शायद बाग्भट्ट जी हैं ? मैंने आपकी बहुत प्रशंसा सुन रखी है। आप विद्वान भी हैं, वीर भी हैं। किन्तु मैंने मालवराज की राजसभा भी देखी है....।"

"कविवर ! वह आपने जब देखी होगी तब देखी होगी। अब तो आप गुर्जरेश्वर महाराज की राजसभा को देखिए और कुछ सीख जाइये। आपको सावधान कर दिया गया था कि यह गुजरात का सर्वअवसर है। इस समय आप अपना कोई दुःख हो तो कहिए। शेष आपको जो कुछ कहना हो वह कल राजसभा में आकर कहिए।"—वाग्भट्ट ने तीखा प्रत्युत्तर दिया।

किन्तु कर्णाटराज सीधे से मानने वाला जीव नहीं था। वह बोला—

"वाग्भट्ट जी, इस 'राजपितामह' विरुद के पीछे सहस्रों कोंकणी तलवारें चमक रही हैं, यह मत भूलिए।"

यह धमकी थी और बहुत स्पष्ट थी। अजयपाल कुछ कर बैठे इससे पूर्व ही मंत्रीश्वर उदयन ने बड़े शान्त भाव से कहा—

"कवीन्द्र कर्णाटराज ! आप कवि हैं, इसलिए सही-सलामत यहां से जा रहे हैं। अन्यथा गुर्जरेश्वर की महासभा में इस प्रकार की भाषा का प्रयोग करने वाले व्यक्ति का शीष उतार लिया जाता है। वैसे आप इस समय जो काम कर रहे हैं वह किसी कवि का नहीं, गुप्तचर का ही है। यह मेरी अन्तिम चेतावनी है। अब भूलें नहीं।"

कर्णाटराज को इतना कहकर मंत्रीश्वर ने दुर्गपाल त्रिलोचन पाल से कहा—

"दुर्गपाल जी ! कवीन्द्र कर्णाटराज को आदर सहित गुजरात की सीमा तक छोड़ देने की व्यवस्था कर दीजिए। आज ही। और हाँ, कविवर कर्णाटराज जी," मंत्रीश्वर ने पुनः कर्णाटराज की ओर देखते हुए कहा —"वे जो सहस्रों तलवारें आपके महाराज के पास हैं न, उनमें कितना पानी है यह देखने हम कोंकण आ रहे हैं। अपने महाराज को सूचित कर दीजिएगा।"

मंत्रीश्वर उदयन के इन शान्त शब्दों में कैसी ज्वाला धधक रही थी। इसका अनुभव कर्णाटराज को बहुत अच्छी तरह हो गया और वह स्तब्ध खड़ा रह गया।

अजयपाल की तलवार मंत्रीश्वर के संकेत से म्यान में चली गई।

वाग्भट्ट ने दुर्गपाल से कहा—

"त्रिलोचनपाल जी, सर्वअवसर की समाप्ति की घोषणा कर दीजिए। अब भी किसी और को कोई फरियाद हो तो वह प्रस्तुत कर सकता है।"

आदेश पाकर दुर्गपाल त्रिलोचनपाल ने घोषणा की—'नगरजनो ! सर्वअवसर समाप्त होता है। यदि कोई भी व्यक्ति अपनी कोई फरियाद महाराज के सम्मुख प्रस्तुत करना चाहता हो तो अब भी समय है। गुर्जरेश्वर महाराज न्यायासन पर विराजमान हैं।'

यह घोषणा तीन बार दुहराई गई।

कोई व्यक्ति अपने स्थान से हिला तक नहीं।

सर्वअवसर समाप्त हुआ।

गुजरात के राज्य से रुदतीवित्त की इतिश्री हो गई।

आचार्य हेमचन्द्र की धर्मशिक्षा के अनुगामी महाराज के जीवन का यह एक विशिष्ट सत्कर्म था। □

[तेईस]

गुर्जरेश्वर महाराज कुमारपाल का मंत्रणा कक्ष।

सर्वअवसर की समाप्ति के पश्चात महाराज सीधे अपने मन्त्रणा कक्ष में ही चले गये थे। कुछ विश्राम की आवश्यकता रही भी हो तो वह उन्होंने नहीं लिया। वे निर्भीक तो सदा से ही थे, अब अभय भी हो चले थे किन्तु उनकी मुख मुद्रा इस समय गम्भीर अवश्य थी।

उनके पीछे-पीछे ही मन्त्रीश्वर उदयन, वाग्भट्ट, अजयपाल, सोमेश्वर धारावर्षदेव, नड्डूल के आल्हणजी, काक सेनापति तथा अन्य एक दो मन्त्री भी कक्ष में आ पहुँचे थे।

परिस्थिति निश्चय ही गम्भीर थी। सोरठ का सामन्त रा' समरस उत्पात मचा रहा था। कोंकण से युद्ध अनिवार्य हो गया था। शाकम्भरी में विग्रहराज का कोई भरोसा नहीं था कि वह कब नड्डूल के युवराज केल्हण के साथ मिलकर पाटन को सोरठ या कोंकण के युद्ध में फंसा हुआ पाकर विद्रोह कर बैठे।

और घर में भी तो शान्ति कहाँ थी? रुदतोवित्त की समाप्ति की घोषणा हो ही चुकी थी। तथा नवरात्रि भी आ रही थी, जबकि महाराज कुमारपाल के अहिंसा धर्मपालन की एक और कड़ी परीक्षा होनी थी।

कहा जा सकता था कि गुजरात के आकाश पर काली घटाएं घिरती दिखाई दे रही थीं।

महाराज कुमारपाल ने अपनी मन्त्रणा समिति के सभी सदस्यों को उपस्थित पाकर कहा—

"काक सेनापति! तुम सोरठ गए थे न? क्या समाचार लाए हो?"

काक ने हाथ जोड़कर महाराज को एक बार नमन किया और कहा—

"महाराज ! सोरठ तो सोरठ ही है। सिद्धराज महाराज के समय में रा' खेंगार की जो चाल थी उसे ही रा' समरस ने पकड़ रखा है। वह न तो युद्ध करता है और न शांति से बैठता है। हमारा सैन्य दिखाई दे तो भाग खड़ा होता है और अवसर पाकर हमले करता है। उसने सोमनाथ और विमलाचल के मार्गों को अवरुद्ध कर रखा है। इन दोनों धर्मस्थानों के तीर्थ यात्रियों को उसने बहुत हैरान कर रखा है।"

"हूँ sss। तो इसका अर्थ यह हुआ कि पहले सोरठ को ही ठीक करना होगा। क्यों मेहता जी, आपका क्या विचार है ?"—महाराज ने मंत्रीश्वर से पूछा।

अस्सी वर्ष के बूढ़े मंत्रीश्वर उदयन सीधे बैठे थे। उनकी छोटी-छोटी आँखें दीपक की लौ की भाँति दहक रही थीं। शायद वे सोच रहे थे कि जिस गुजरात को उन्होंने अपने प्राणों की समस्त ऊर्जा तथा देह के सारे रक्त से आज तक अभिसिंचित किया था उसका भविष्य क्या अंधेरे में ही डूब जायगा ? बाहर से शान्त किन्तु भीतर ही भीतर वे जल रहे थे। महाराज कुमारपाल ने जब उनसे उनका अभिप्राय पूछा तो वे बोले—

"महाराज ! जैसी परिस्थिति है उसमें सोरठ को शीघ्रातिशीघ्र ठिकाने कर लेना परमावश्यक हो गया है। हमने गुप्तचरी करने आए कर्णाटराज को जिस प्रकार यहाँ के भगा दिया है उसे देखते यह सुनिश्चित है कि कोंकणराज मल्लिकार्जुन अब चुप नही बैठेगा।"

"वह चुप नहीं बैठेगा तो हम उसको जुबान काट लेंगे।"—अजयपाल ने वीरोचित रोष सहित कहा।

"आप जैसे प्रतापी वीर युवक से ऐसी ही आशा है। हमने मल्लिकार्जुन को इसी आशय का संदेश कर्णाटराज के साथ भिजवा दिया है। गुजरात और कोंकण के बीच एक महायुद्ध अब अनिवार्य है अजयपाल जी। किन्तु इस बीच सोरठ का निश्चय हो जाना चाहिए।"—उदयन मंत्रीश्वर ने पुनः सभी का ध्यान सोरठ की ओर खींचा।

"तो पहले सोरठ का झगड़ा ही समाप्त कर आता हूँ। महाराज आज्ञा दें, मैं आज ही दधिस्थली होता हुआ सोरठ की ओर निकल जाता हूँ।" अजयपाल ने महाराज कुमारपाल की ओर देखते हुए कहा और उनकी अनुमति चाही।

अजयपाल महत्त्वाकांक्षी था। वह प्रचंड शिवभक्त था। उसे जैन-

धर्म से द्वेष था। जैन धर्म की अहिंसा में उसे राजपूती वीरता का लोप होता दिखाई देता था। यह सब ठीक था। किन्तु जहां तक गुजरात की सुरक्षा तथा उसके गौरव के विस्तार का प्रश्न था, वह किसी अन्य व्यक्ति से एक कदम भी पीछे नहीं था। इसीलिए वह महाराज कुमारपाल की नीतियों के प्रति मन ही मन विरोध रखते हुए भी गुजरात के संकट की इस घड़ी में सबसे पहले कमर कसकर तैयार हो गया था।

किन्तु महाराज कुमारपाल को अजयपाल पर बहुत प्रीति थी। वे अभी उसे सोरठ जैसी धूप-छाँही झंझट और संकट भरी परिस्थिति में एकाएक डाल देना नहीं चाहते थे।

मंत्रीश्वर उदयन भी नहीं चाहते थे कि अजयपाल सोरठ या कोंकण, अथवा पाटन से बाहर कहीं भी जाय। किन्तु उनकी ऐसी इच्छा के पीछे एक चतुर राजनीतिज्ञ का स्थिति-दर्शन था। वे जानते थे कि अजयपाल की विवेकबुद्धि अभी परिपक्व नहीं हुई है। ऐसी स्थिति में यदि वह पाटन से बाहर रहता है तो महाराज कुमारपाल के शत्रु उसे किसी भी समय उल्टी पट्टी पढ़ाकर उसे विद्रोह के लिए आमादा कर सकते हैं। वह जब तक पाटन में है, तब तक वह दृष्टि में भी है तथा उससे प्रीति करने वाले महाराज कुमारपाल की छाया का प्रभाव भी है।

अतः महाराज कुमारपाल अजयपाल की बात का कोई उत्तर दें उससे पूर्व ही मंत्रीश्वर उदयन ने कहा—

"अजयपाल जो! आपकी पाटन-भक्ति, महाराज के प्रति आपके प्रेम तथा आपकी वीरता के प्रति जो तनिक भी संदेह करे उसके जैसा अज्ञानी अन्य कोई नहीं होगा। किन्तु इस समम गुजरात की जो स्थिति है उसमें आप जैसे वीरों को महाराज के चारों ओर एक वज्र की दीवाल खड़ी करके रहना है। आप हैं, धारावर्षदेव जी हैं, सोमेश्वर जी हैं, आल्हण जी हैं। अतः मैं निश्चिन्त रहूँगा कि मेरी अनुपस्थिति में महाराज और गुजरात पर कोई संकट नहीं आ पाएगा।"

"आपकी अनुपस्थिति में ? अर्थात् ?"—उस मंत्रणाखंड में उपस्थित लगभग सभी व्यक्ति एक साथ चौंककर पूछ बैठे।

"हां महाराज! अब यह बूढ़ा ऊदा मेहता अस्सी वर्ष का हो गया। व्यर्थ ही जीवन का बोझा ढो रहा है। जब तक शक्ति थी, गुजरात को कुछ सेवा करने का प्रयत्न करता रहा। अब नए वीरों की नई युवा पीढ़ी

पाटन में आ गई है। ये अजयपाल महाराज गुजरात के वीरों की मुकुट-मणि हैं। जालोर के युवराज, आपके भानजे प्रतापमल्ल भी इनसे बहुत पीछे नहीं हैं। मेरा आंबड़ (आम्रभट्ट) भी इन दोनों राजकुमारों के बराबर नहीं तो कुछ कम भी नहीं है। और मेरा वाग्भट्ट वीर भी है, विद्वान भी है, चतुर राजनीतिज्ञ भी है। तो अब मुझे पाटन की चिन्ता नहीं है। ऐसा ही समझिए। अब तो मैं अपने जीवन का आखिरी दांव खेल लेना चाहता हूँ। सोरठ के रा' समरस ने उत्पात मचा रखा है। उसने पवित्र सोमनाथ धाम तथा विमलाचल के मार्ग अवरुद्ध कर रखे हैं। यह मेरी सहन शक्ति से परे की बात है। उसे पाठ पढ़ाने अब तो मैं ही जाऊंगा। और अब लौटकर पाटन आ सकूँगा इसकी आशा भी नहीं है.... ।"

"मेहताजी.... ।" महाराज बोल पड़े।

"पिताजी....।" वाग्भट्ट के मुंह से निकला।"

"मंत्रीश्वर.... ।" अजयपाल कहे बिना रह न सका।

"महामात्यजी ! आप यह क्या कह रहे हैं ? आप अचानक ऐसी कैसी बातें कर रहे हैं ? अभी यह धारावर्षदेव तो बैठा है आपके सामने। आज्ञा दीजिए। यह एक सोरठ का मामूली-सा सामन्त तो क्या, आप आज्ञा दें तो सारे भारतवर्ष के राजा महाराजाओं के सिर काटकर महाराज गुर्जरेश्वर के चरणों में ला पटकूं।" वीर शिरोमणि धारावर्षदेवजी ने कहा। वे एक योद्धा थे। शुद्ध-विशुद्ध योद्धा। भावना उनके जीवन में कहीं नहीं थी। यदि कुछ थी भी तो वह केवल वीरता तथा देशभक्ति के रूप में ही प्रगट होती थी।

महाराज कुमारपाल सहित मंत्रणाखंड में उपस्थित सभी व्यक्ति मंत्रीश्वर उदयन के कथन से चिन्तित हो गये थे। तभी मंत्रीश्वर ने पुनः कहा—

"महाराज गुर्जरेश्वर ! मुझे सोरठ जाने की आज्ञा प्रदान कीजिए। मेरी अभिलाषा है सोमनाथ के मंदिर के मार्ग को सदा-सदा के लिए निष्कंटक बना देने की। तथा मेरा स्वप्न है पवित्र विमलाचल पर्वत पर ऐसे जिनालय का निर्माण करने का जिसका सानी संसार में अन्यत्र कहीं न हो। सोरठ के रा' समरस का हिसाब चुकता करके अब मैं विमलाचल ही जाऊँगा। हाँ, बेटे वाग्भट्ट ! मैं अब लौटकर आऊँ कि न आऊँ—मेरी अन्तरात्मा तो कहती है कि अब इस बार पाटन छूटा तो बस छूट ही

गया—यदि मेरा कार्य अधूरा रह जाय तो तुम उसे पूरा करना। आंबड़ भृगुकच्छ से अब आता ही होगा। उसे भी कह जाऊँगा। अभी तुमसे ही कहे देता हूँ—अपने गुजरात के लिए, अपने गुर्जरेश्वर महाराज के लिए, अपने शरीर की अन्तिम बूंद तक दे देना....."

'मेहता जी, आपको क्या हो गया है ?" महाराज कुमारपाल अब चुप नहीं रह सके। वे कह चले—"आप कहीं नहीं जायेंगे। आप यहीं, मेरे पास, पाटन में ही रहेंगे। सोरठ या कोंकण जाने के लिए गुजरात में वीरों की कोई कमी नहीं हो गई है। और मैं स्वयं जो अभी बैठा हूँ। क्या आप कुमारपाल की तलवार में भरोसा खो बैठे हैं ?" महाराज कुमारपाल ने कुछ भावावेश में कहा।

"नहीं, नहीं, महाराज ! आपकी सदा जय हो, विजय हो। और वह तो होनी ही है। सत्य की विजय तो सदा होती ही आई है। आप जिस मार्ग का अनुसरण कर रहे हैं वह सत्य का मार्ग है, अहिंसा का राज-पथ है। तो इस पथ पर, चाहे यह पथ कितना भी दुष्कर प्रतीत हो, विजय तो आपकी, सत्य की होनी ही है। किन्तु महाराज ! अब मेरी अन्तरात्मा की भी एक पुकार है। मुझे विमलाचल पुकार रहा है। आज्ञा दीजिए, महाराज ! अब मेरा वाग्भट्ट तथा आम्रभट्ट आपकी सेवा में रहेंगे।

"और हाँ, महाराज ! आपने कहा कि क्या मुझे आपकी तलवार में भरोसा नहीं रहा ? तो महाराज गुर्जरेश्वर ! उसका उत्तर तो यह है कि इस तलवार की चमक तो कैलाश से कन्याकुमारी तक फैल रही है। मुझे पूरा भरोसा है कि एक बार इस तलवार के म्यान से बाहर निकल आने पर फिर इसके सामने आने वालों का भगवान ही मालिक है। किन्तु यह शुभ है कि यह तलवार अब म्यान में ही रहना चाहती है। महाराज ! एक क्षत्रिय वीर के नाते अपने अखिल भारतवर्ष में यश प्राप्त किया है। मैं जिनदेव से प्रार्थना करता हूँ कि अब एक धर्मवीर के रूप में आप निखिल भुवन में अपने सुयश का विस्तार करें।"

मंत्रीश्वर के इस कथन पर अजयपाल बोला—

"मंत्रीश्वर ! आपकी भावना बहुत उदार तथा महान् है। आपके विरोधी भी इसे स्वीकार करेंगे। किन्तु इस समय आपसी मतभेदों का प्रश्न नहीं, गुजरात के गौरव का प्रश्न है। इस पर इसी दृष्टि से विचार करना चाहिए। गुजरात को आपकी आवश्यकता....।"

"हाँ, हम सभी ऐसा ही सोचते हैं।"

"अजयपालजी, मुझे हर्ष है कि आपने यह विचार व्यक्त किए। यदि आपकी यह भावना स्थाई रही तो गुजरात का भविष्य उज्जवलतर होगा। किन्तु, जिनदेव न करें यदि आपने अन्य मार्गों का अनुसरण किया तो अपना गुजरात अन्धकार में डूब जायेगा। आप वीर हैं। वीरता के साथ विवेक का मिश्रण भी कर लेंगे तो शुभ होगा। आप राजवंशी हैं। मैं तो एक सामान्य वणिक मात्र हूँ। मैं आपको इससे अधिक क्या कहूँ? लेकिन अब मैं निश्चय कर चुका हूँ। और आप जानते हैं कि उदयन मंत्री का निश्चय आज तक तो कभी डिगा नहीं। मुझे जाना तो है ही। तो महाराज! एक बात का निर्णय होता है। मैं कल सोरठ के लिए प्रस्थान करूँगा। आज्ञा प्रदान कीजिए।"

मंत्रीश्वर के अटल निश्चय को उपस्थित सभी जन भली-भांति समझ चुके थे। विवशता थी। कुछ क्षण मौन विचार में खोए रहकर महाराज कुमारपाल ने कहा—

"मेहता जी! आपकी बात सुनकर तो मानों मेरी वाचा ही खो गई है। मेरी विचार शक्ति ही विलुप्त हो गई है। मुझे सूझ ही नहीं पड़ता कि मैं क्या कहूँ और क्या करूँ? आपकी अनुपस्थिति तथा गुजरात यह बात तो अकल्पनीय-सी लगती है, क्योंकि उदयन मंत्रीश्वर तथा गुजरात ये पर्यायवाची ही बन गए हैं।"

अब धारावर्षदेव जी ने अपने गले को खंखारा। अर्बुदगिरि का वह शेर उछाल मारकर शत्रु की छाती फाड़ देना मात्र जानता था। वह न राजनीति के झमेले में पड़ सकता था और न अधिक आगे-पीछे की समझता था। वह तो तलवार का धनी योद्धा था। गुर्जरेश्वर के प्रति उसकी भक्ति असंदिग्ध थी। एक ही तीर से तीन-तीन भैंसों को बेध डाले ऐसा सामर्थ्य उसके विशाल बाहुओं में था। लेकिन शायद जीवन में पहली बार भावना नाम की किसी वस्तु ने आज उसे स्पर्श किया था।

तो धारावर्षदेव जी ने कहा—

"मंत्रीश्वर! आपने तो आज अचानक बिजली गिरा दी। हमसे एक बार कहा भी नहीं। यह सोरठिया तथा वह कोंकणिया क्या चीज है? मुझे आप हुकुम क्यों नहीं देते?"

भोले वीर सेनानी धारावर्षदेव जी के इन उद्‌गारों से मंत्रीश्वर भी कुछ विचलित-से, कुछ विचलित-से दीखे। किन्तु आजीवन राजनीति की चौपड़ की बाजियां उलटने वाले, स्वयं अपने बेटे त्यागभट्ट के राज्यारोहण का भी विरोध करने वाले, तन-मन-धन से अपनी मातृभूमि की सेवा करने वाले उदयन मंत्रीश्वर अब इस आयु में भावना में बहने वाले तो थे नहीं। उन्होंने कहा—

"धारावर्षदेव जी ! आपकी वीरता जग-जानी है। आपने गुजरात की एक दिशा को अभेद्य बना रखा है। और जब-जब भी गुजरात पर कोई संकट आएगा तो महाराज गुर्जरेश्वर तथा अपने गुजरात के आड़े आप वज्र की दीवार खड़ी कर देंगे, यह मैं जानता हूँ। और आप यदि युद्ध पर चढ़े तो सोरठ तो चीज ही क्या है, कोंकण और सारा भारतवर्ष भी आपके सामने हलका पड़ेगा। लेकिन मुझ बूढ़े की बात, आखिरी बात, अब आप भी मान जाइये। मैंने कहा न कि मुझे विमलाचल पुकार रहा है। यह पुकार प्रभु की पुकार है। इसे मैं अनसुनी नहीं कर सकता। आज तक मैंने किसी से कुछ नहीं मांगा। बस, आज आप सभी से और महाराज से मांगता हूँ कि मुझे सोरठ जाने दें। अपना यह पाटन, अपना यह गुजरात, और महाराज गुर्जरेश्वर को आप सब को सौंप कर जाता हूँ....। मुझे जाने दें धारावर्षदेव जी ! महाराज ! समय भाग रहा है। आज्ञा दीजिए।"

महाराज कुमारपाल ने बुझे, दुःखी मन से सभी उपस्थित लोगों की ओर देखा। सभी व्यक्ति उदास, दुःखी, असमंजस से घिरे बैठे थे।

अन्ततः उन्होंने कहा—

"मंत्रीश्वर ! क्या आपका निर्णय अटल ही है ? एक बार फिर विचार तो कर लें। इस आयु में आप युद्ध-भूमि में जायंगे ? और इतने महावीरों के रहते ? मेरा अजयपाल है। धारावर्षदेव जी हैं। आल्हण जी हैं। वाग्भट्ट है। आम्रभट्ट आया जाता है....।"

"आम्रभट्ट तो कोंकण जायगा महाराज !"

"कोंकण ? आम्रभट्ट ? क्या कहते हैं मंत्रीश्वर ? आज आपको हुआ क्या है। आम्रभट्ट निश्चय ही महावीर है। मेरे अजयपाल जैसा ही। किन्तु अभी उसे किसी बड़े युद्ध का अनुभव नहीं है। और कोंकण का युद्ध तो भयंकर हो सकता है।"

"कोंकण का युद्ध तो भयंकर ही होगा, महाराज ! किन्तु मेरा आम्र भट्ट खतरों से खेलने का अभ्यस्त हो चुका है। न हुआ हो तो बनाना है।

मैं तो अब नहीं हूँ ऐसा ही मानकर आपको चलना है। अब तो यह वाग्भट्ट है और आम्रभट्ट है। इन्हें आपकी, गुजरात की सेवा में छोड़े जाता हूँ। क्या करूं, महाराज, एक मेरा त्यागभट्ट भी था। बुरा नहीं था। किन्तु दिवंगत महाराज सिद्धराज ने जब से उसे अपना प्रपन्न पुत्र बन या तभी से वह बदल गया और उसका परिणाम भी उसने भोगा। यह गुजरात है महाराज! गुजरात के सिंहासन पर योग्य पुरुष ही शोभा देता है। योग्य राजपुरुष। त्यागभट्ट ने यह बात समझी नहीं। उसे परिणाम भोगना पड़ा। मैं, उसका पिता, उसका जन्मदाता पिता, स्वयं उसके विरुद्ध उठ खड़ा हुआ। क्यों? क्योंकि महाराज! गुजरात में अन्याय नहीं होना है।

"खैर, महाराज! अब मुझे विश्राम की आवश्यकता है। आपसे विनती करता हूँ इस प्रसंग को और आगे न बढ़ाइये। मुझे सोरठ जाने की आज्ञा दीजिए, एक। दूसरा, आम्रभट्ट को कोंकण के लिए सेनापति बनाकर भेज दीजिए। उस मल्लिकार्जुन के पंख निकलने लगे हैं। मरा आँवड़ उसके पंख कतर कर आ जायगा। अजयपाल जी,"—उदयन मंत्रीश्वर ने अजयपाल की ओर देखते हुए कहा—"आप पर पाटन की और महाराज की सुरक्षा का दायित्व है। ऐसा मान लीजिए कि यह आपसे मेरी अन्तिम प्रार्थना है....।"

"मंत्रीश्वर! आप आज कैसी बातें कर रहे हैं....।"
अजयपाल ने जब यह कहा तो मंत्रीश्वर ने उत्तर दिया—

"अजयपाल जी, आप परम वीर राजपुत्र हैं। महाराज गुर्जरेश्वर के पश्चात् गुजरात का क्या बनना है यह बहुत कुछ आप पर ही निर्भर करेगा। बस, इससे अधिक अब मुझे कुछ कहना नहीं है।

"महाराज! आपकी आज्ञा है, यह मैं मान लेता हूँ। कल प्रातःकाल मैं सोरठ चला जाऊँगा। उस दिशा को आप अब सुरक्षित मान लीजिए। आम्रभट्ट आज आ ही पहुँचेगा। उसे कोंकण भिजवा दीजिए। यहां पाटन में वाग्भट्ट है, कपर्दी मन्त्री हैं, इनसे आप परामर्श करते रहें। तथा धारावर्षदेवजी एवं अजयपालजी सहित ये आल्हणजी, सोमेश्वरजी हैं जो वज्र की दीवार के समान हैं। तो महाराज आज्ञा है?"

"मन्त्रीश्वर, मेहता! मुझे सचमुच कुछ सूझ नहीं रहा। आज आप की बातें सुनकर मुझे जाने कैसा-कैसा लग रहा है? जी चाहता है कि तलवार खींचकर रण मैदान में इसी क्षण कूद पड़ूं....।"

"महाराज ! महाराज ! आप शांत हो रहें। आपको तलवार यदि एक बार म्यान से बाहर हो गई तो त्राहि-त्राहि मच जाएगी। आप इस समय जो महान कार्य कर रहे हैं वह तो अद्वितीय है। ऐसे परम कल्याण-कारी कार्य में विघ्न पड़ जाएगा, प्रभु ! ये छोटो-मोटो बातें हम लोगों के करने के लिए ही रहने दें। महाराज ! अब यह निश्चय होता है—सोरठ मैं जाऊंगा। कोंकण आम्रभट्ट जाएगा.... ।"

"नहीं, कोंकण मैं जाऊँगा।"—अजयपाल ने कहा।

"अजयपालजी"—मन्त्रीश्वर उदयन ने उन्हें समझाते हुए कहा—"दो बातें हमेशा ध्यान में रखिए। एक तो यह कि राजा का वचन कभी भंग नहीं होना चाहिए। महाराज गुर्जरेश्वर ने वचन दिया था कि आगामी किसी बड़े युद्ध में आम्रभट्ट को सेनापति बनाकर भेजा जाएगा। और दूसरी बात यह कि अपने महाराज को सुरक्षा सबसे बड़ी देश भक्ति है। मैं सोरठ जा रहा हूँ। वहाँ की स्थिति विकट है। वहां युद्ध नहीं होता, छल-कपट होता है। अतः पता नहीं मेरा क्या हो। रहा कोंकण। तो कोंकण की भौगोलिक स्थिति ऐसी है कि वहां किसी भी बाहरी सैन्य का विजयी होना अत्यधिक कठिन है। इसीलिए तो वह मल्लिकार्जुन गरज रहा है। इसीलिए तो उसने अपने राजकवि कर्णाटराज को यहां भेद लेने के लिए भेजा था। थोड़ा विचार कीजिए, अजयपालजी ! सोरठ और कोंकण ऐसे नाम है जो असावधानी से डंस लेते हैं।"

"तो मन्त्रीश्वर, आपका अभिप्राय यह है कि खतरों से तो आप खेलें, आपके पुत्र खेलें, और हम यहां सुरक्षित बैठे रहें ?"

"अरे नहीं अजयपालजी, मैं यह कहाँ कहता हूँ ? खतरों से खेलने के लिए आपके सामने अभी तो सारा जीवन पड़ा है। मैं तो इतना ही कहता हूँ कि अभी मैं जीवित हूँ। मेरे बेटे जीवित हैं। बस....

"महाराज ! निर्णय हो चुका। अन्य कोई आदेश ?"

मन्त्रीश्वर उदयन के इस महात्याग की कहीं कोई तुलना थी क्या ?

मंत्रणा कक्ष में उपस्थित सभी सदस्य स्तम्भित, अभिभूत थे।

स्वयं महाराज कुमारपाल भी अचानक भौंचक्के से होकर बैठे थे। जबकि वर्षों-वर्षों तक जंगल-जंगल, ग्राम-ग्राम, नगर-नगर, देश-विदेश भटक-भटककर उन्होंने काफी अनुभव प्राप्त किया था और उनकी विवेक

बुद्धि को परिपाक मिला था कलिकालसर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र के सदुपदेशों से। आज तक उनके पास तीन शक्तियां थीं। एक उनकी अपनी तलवार। दूसरी भारतवर्ष के उस समय के अद्वितीय विचक्षण राजनीतिज्ञ मन्त्रीश्वर उदयन की बुद्धि। तीसरी कलिकालसर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र का दिशा-निर्देश।

स्वयं अपने चरित्र की दृढ़ता और सामर्थ्य से कदम-कदम आगे बढ़ते कुमारपाल को उदयन की चतुर चाणक्य राजनीति तथा देशभक्ति का सहारा मिला था और इसके साथ ही आ मिला था आचार्यश्री का वरद आशीर्वाद।

इन सभी संयोगों ने राजा कुमारपाल को राजर्षि कुमारपाल बना दिया था।

उस राजर्षि ने सुना, मंत्रीश्वर उदयन कह रहे थे—निर्णय हो चुका महाराज ! अन्य कोई आदेश ?

मोह को तो त्यागना ही उचित है। कुमारपाल जान गये थे। यह जीवन क्षणभंगुर है, इसे भी कौन नहीं जानता ? उदयन मंत्रीश्वर हों कि वे स्वयं कुमारपाल हों—या कि फिर गुरुदेव कलिकालसर्वज्ञ आचार्य हेमचंद्र ही हों—यह देह-त्याग तो अनिवार्य ही है। प्रश्न प्रतिक्षण के कर्तव्य का है।

इस क्षण, मेरा कर्तव्य क्या ?

गुर्जरेश्वर, जिसका नाम था कुमारपाल, सोच रहा था। उसे कहना पड़ा—

"मेहताजी ! आप केवल इस गुर्जर साम्राज्य के मंत्री ही नहीं, हमारे आदरणीय पितृतुल्य भी हैं। दिवंगत पूज्य सिद्धराज महाराज के समय से ही आपने इस गुर्जर राज्य की जो सेवा की है उसे यह गुजरात तो क्या, इतिहास भी कभी भूल नहीं पायेगा। आपने मानवता का श्रेष्ठतम उदाहरण प्रस्तुत किया है। मैंने आपके विचार को सदैव सम्मान प्रदान किया है, क्योंकि आपके विचार सदैव मूल रूप में मानव-कल्याण को दृष्टिगत रखते हुए ही प्रगट हुए हैं। गुजरात तो पृष्ठभूमि रहा है। गुजरात के माध्यम से आपने सदैव मानव-मात्र के हित की दृष्टि से चिन्तन किया है। यही शिक्षा मुझे और आपको गुरुदेव आचार्यश्री ने प्रदान की है। मुझे लगता है कि आप

आज जो भी निश्चय कर रहे हैं वह भी कुल मिलाकर मानव जाति के, बल्कि प्राणिमात्र के कल्याण की दूरदृष्टि से ही कर रहें हैं। अतः मैं यकायक विचारशून्य-सा हो गया हूँ कि क्या कहूँ और क्या न कहूँ ? एक तरफ आपका यह आयुष्य है, आप वृद्ध हैं, अस्सी वर्ष के है और दूसरी तरफ गुजरात की स्थिति है....।"

"गुर्जरेश्वर ! महाराज ! इसमें विचारने की बात ही क्या है ? इस जीवन का प्रयोजन क्या है ? सत्कर्म हो जाय, सद्धर्म का अनुपालन हो सके तो जीवन सार्थक है। किन्तु महाराज ! अब इस विचार को छोड़िए। बहुत से कार्य हैं जिनमें आपके निर्णय की प्रतीक्षा और परीक्षा भी है। अतः आज की यह मंत्रणा अब यहाँ समाप्त कर देना चाहिए।"

बड़े भारी, बुझे-से मन से महाराज कुमारपाल ने अपनी स्वीकृति प्रदान की और सभा विसर्जित हुई।

●

[चौबीस]

६६

मंत्रणाकक्ष से बाहर आते ही सब लोग अपनी-अपनी राह लगे। विचारमग्न। चिन्तित।

महाराज कुमारपाल अपने विश्राम कक्ष की ओर जा तो रहे थे, किन्तु उनके कदम मानो मण-मण के हो रहे थे। उठाए उठते ही नहीं थे। उनकी अन्तरात्मा में से कहीं से कोई आवाज उठ रही थी जो कह रही थी कि इस बार उदयन मंत्रीश्वर जो तुमसे बिछुड़े तो फिर मिलेंगे नहीं इस जन्म में। ऐसी यह अनुभूति उनके लिये बड़ी पीड़ादायक हो रही थी।

मंत्रीश्वर उदयन केवल उनके महा अमात्य ही नहीं थे, वे उनके चित्र-विचित्र, धूप-छांही, लेकिन महान् जीवन के एक प्रमुख आधार थे। आचार्य हेमचंद्र ने यदि उनके जीवन को सौरभ प्रदान किया था तो मंत्रीश्वर उदयन ने उनके लौह-व्यक्तित्व पर हेम की आभा चढ़ाई थी।

वे ही उदयन अब जा रहे थे। उनकी अन्तरात्मा कह रही थी कि उदयन नाम का जो एक महापुरुष गुजरात की धरती पर साँस ले रहा था, उसकी साँसें अब चुकने को थीं और अब वह उनसे बिछुड़ रहा था।

यह अनुभूति गुर्जरेश्वर के लिये, और कुमारपाल जैसे गुर्जरेश्वर के लिए कितनी पीड़ादायक हो सकती थी इसका अनुमान क्या आप लगा सकते हैं ?

बहुत उदास थे उस घड़ी गुर्जरेश्वर कुमारपाल।

और उनके कदम उठ नहीं रहे थे।

उधर मंत्रीश्वर मंत्रणाकक्ष से निकलकर दृढ़, सन्तुलित कदमों से अपने गजराज की ओर चले जा रहे थे। वाग्भट्ट ने चाहा था कि वह अपने

पिता से कुछ बात करें किन्तु अपनी मातृभूमि के लिए अपना सर्वस्व लुटा देने वाले उस निर्मोही पिता ने एक ही संक्षिप्त बात कह कर उसे टाल दिया था—

"घर आकर बात करना मेरे बेटे !"

मंत्रीश्वर ने वाग्भट्ट जैसे अपने लाड़ले बेटे को तो टाल दिया किन्तु एक आदमी ऐसा था जो टाले नहीं टला। मंत्रीश्वर के लिए वह लाड़लों से भी अधिक लाड़ला था।

उस लाड़ले का नाम था—काक भटराज। काक सेनापति ! उस काक ने मंत्रीश्वर का पल्ला पकड़ लिया। बोला—"यह सब क्या है प्रभु ?"

काक की आँखें भरी हुई थीं। गला भी भर्रा रहा था।

मंत्रीश्वर ने उसे देखा—उसकी बात सुनी और कहा—

"काक ! तुझे भी समझाना पड़ेगा क्या ? तू तो मेरे संकेत मात्र को जानता-समझता है।"

"जानता हूँ, प्रभु ! इसलिए तो पूछता हूँ यह सब क्या है ? कहिये तो ?"

मंत्रीश्वर और काक को संक्षिप्त वार्ता करने का वर्षों का अभ्यास था। वे सूत्रों में, संकेतों में बोलते और एक-दूसरे को समझते थे। जब काक ने उनका पल्ला पकड़ लिया तो उन्होंने फिर हंसते हुए कहा—

"काक ! क्यों चिन्ता कर रहा है ? तुझे ठीक-ठीक बताता हूँ। मैंने अपने इस जन्म का मूल्य चुका दिया। अब मरण का महोत्सव मनाने जा रहा हूँ।"

आकाश से बिजलियाँ टूट-टूट गिरें तब भी चलायमान न होने वाला काक एकाएक आहत होकर गिर पड़ने को हुआ। मंत्रीश्वर ने उसे थाम लिया और कहा—

"काक, होश में आ। कोई देखेगा तो क्या कहेगा ? गुजरात का महासेनापति ऐसा निर्बल है क्या ?"

गुजरात का वह महासेनापति अपने हृदय में वज्राहत होकर भी सम्हला. क्षण दो क्षण मंत्रीश्वर को मौन देखता रह गया और फिर बोला—

"प्रभु ! तो फिर जहाँ आप वहीं आपका सेवक काक। मुझे भी अब जीकर क्या करना है ?"

मंत्रीश्वर काक का हाथ पकड़कर चलते चले और कहते गए—

"देख काक, इस प्रकार बच्चों की-सी बातें नहीं किया करते। सच कहूँ तेरे भरोसे ही तो मैं महाराज को छोड़े जा रहा हूँ। यदि मैं भी गया और तू भी यहां न रहा तो फिर अपने महाराज का यहाँ कौन रह जाएगा ? बाग्भट्ट है किन्तु उसे तेरे जैसी बुद्धि, तेरे जैसा चातुर्य और तेरे जैसी वीरता भी कहाँ ? काक ! मेरी बात को समझ ले। अच्छी तरह समझ ले....।"

"मुझे कुछ समझना नहीं है, कुछ सुनना नहीं है प्रभु ! मैं एक ही बात जानता हूँ, जहां आप वहां आपका सेवक काक। मैं आपके साथ सोरठ चल रहा हूँ।"

"अच्छा बाबा, चलना, बस ! महाराज से कह दूंगा। अब बात न बढ़ा। शाम को मुझसे मिल लेना। जा दीवारों के भी कान होते हैं।"

साथ चलने की स्वीकृति से तनिक आश्वस्त काक दूसरी ओर मुड़ गया। मंत्रीश्वर अपने गजराज पर आरूढ़ हुए।

\+ × +

महाराज कुमारपाल अपने विश्राम कक्ष में पहुँचकर प्रायः निढाल होकर बैठ गए। सामान्यतया वे कठिनाइयों से घबराने या कतराने वाले नहीं थे। उनका सारा जीवन ही अन्याय से संघर्ष तथा न्याय एवं धर्म की स्थापना करने में व्यतीत हुआ था। किन्तु मंत्रीश्वर उदयन जैसे गुजरात के महाप्रतापी, परम राज्यनिष्ठ, धार्मिक महापुरुष के इस प्रकार एकाएक दूर चले जाने की आशंका से उनका हृदय बहुत बोझिल हो गया था।

यह सत्य है कि प्रकृति को शून्य स्वीकार्य नहीं है। संसार में से एक व्यक्ति जाता है तो उसके स्थान पर कोई न कोई दूसरा व्यक्ति आता भी है। किन्तु कभी-कभी कुछ ऐसे व्यक्ति भी इस भूमण्डल पर जन्म लेते हैं जिनका स्थान कभी, कोई भी अन्य व्यक्ति भर नहीं सकता। उदयन मंत्रीश्वर भी गुजरात के ऐसे ही अद्वितीय पुरुषों में से एक थे।

\+ + +

महाराज कुमारपाल विचारों में खोए बैठे थे कि द्वारपाल ने आकर नमन किया और कहा--

"अन्नदाता ! पुजारी भाववृहस्पति जी तथा महन्त भवानीराशि आपके दर्शन करना चाहते हैं।"

महाराज कुमारपाल की विचार-शृंखला में भंग आया। उत्तर देने से पूर्व उन्होंने कुछ क्षण सोचा। उन कुछ ही क्षणों में एक निश्चय उनके चेहरे पर स्पष्ट रूप से दिखाई देने लगा। फिर उन्होंने आज्ञा दी—

"उन्हें भीतर भेज दे।"

महाराज के कक्ष में प्रविष्ट होकर दोनों व्यक्ति योग्य आसनों पर विराजमान हुए और तब भावबृहस्पति बोले—

"महाराज ! कल नवरात्रि है। गुजरात की कुलपरम्परा के अनुसार कंटकेश्वरी माता के मंदिर में भोग चढ़ाया जाता है।"

"हाँ महाराज," भवानीराशि ने भी कहा "मुझे माता ने स्वयं स्वप्न में दर्शन दिये हैं तथा भोग की माँग की है।"

क्षण दो क्षण ठहरकर महाराज कुमारपाल ने कहा—

"आप जानते हैं कि मैं गुजरात में हिंसा के लिए कोई स्थान नहीं रहने देना चाहता। हिंसा महापाप है।"

"किन्तु महाराज, यह तो कुलदेवी की माँग है। गुर्जर राज्य में यह परम्परा सदाकाल से चलती आई है। देवी को भोग न दिया गया तो देवी रुष्ट होगी।"

"अनर्थ हो जायेगा महाराज !"

"पुजारी जी, महन्त जी, मुझे ऐसे अर्थ और अनर्थ में विश्वास नहीं है। मैं उससे डरता भी नहीं। हिंसा से कभी, किसी का कल्याण हो ही नहीं सकता।"—महाराज कुमारपाल ने दृढ़तापूर्वक उत्तर दिया।

"किन्तु महाराज ! यह गुर्जर नरेशों की कुल परम्परा का प्रश्न है? क्या आप इस परम्परा को तोड़ देना चाहते हैं? हम आपको सावधान करना चाहते हैं कि यदि आपने ऐसा नहीं किया तो गुर्जर राज्य का विनाश हो जाएगा।"—भावबृहस्पति ने कुछ उत्तेजित होते हुए कहा।

महाराज कुमारपाल के चेहरे पर कुछ कठोरता आ गई। उन्होंने कहा—

"आप लोग अपने गुर्जरेश्वर को शायद धमकी दे रहे हैं। किन्तु कुमारपाल धमकियों से डरता नहीं है। यह तो आपको भली प्रकार विदित ही होगा। फिर भी मैं आपकी भावनाओं को ठेस नहीं पहुँचने दूंगा। आपने कहा—कुलदेवी ने स्वयं भोग की माँग की है? वे भोग ग्रहण करना चाहती हैं?"

"हां महाराज, यही तो बात हैं।"—भवानीराशि ने उत्साह में आकर कहा।

"ठीक है....अरे कोई है ?"

द्वारपाल उपस्थित हुआ। सिर झुकाकर खड़ा हो गया। महाराज कुमारपाल ने आदेश दिया—"दुर्गपाल को उपस्थित करो।"

दुर्गपाल त्रिलोचनपाल जब उपस्थित हुआ तब महाराज ने उसे आज्ञा दी—

"त्रिलोचन, ये महन्त जो जितने चाहें उतने पशु इन्हें कुलदेवी के भोग के लिये दे दिये जाएँ। उन पशुओं को कंटकेश्वरी माता के अहाते में छोड़ दिया जाए। द्वार बन्द कर दिया जाये। सायंकाल से प्रातः काल तक कोई व्यक्ति मन्दिर के भीतर न जाए। यह तुम देखना। समझ गये ? प्रातः काल मैं स्वयं मन्दिर पर आऊंगा।"

महाराज का यह आदेश सुनकर दुर्गपाल भौंचक्का रह गया। वह समझता था, सारी दुनियाँ जानती थी कि महाराज कुमारपाल हिंसा नहीं होने दे सकते। फिर यह आदेश कैसा ?

उसे मौन खड़ा रह गया देखकर महाराज कुमारपाल ने उसके मस्तिष्क के विचारों को पढ़ लिया। मन्द स्मित के साथ उन्होंने कहा—

"अरे दुर्गपाल जी, माता ने इन भवानीराशि जी को स्वयं स्वप्न में दर्शन दिए हैं और भोग की माँग की है। जब माता ने स्वयं भोग की मांग की है तो वह तो देना होगा न ? जाओ, आदेश का पालन करो। पुजारी जी, महन्त जी, आप लोग भी अब पधारें।"

प्रसन्न-प्रसन्न पुजारी महन्त वहाँ से चल दिए। उनके मन में विजय का गर्व समा नहीं रहा था।

\+ \+ \+

एक घड़ी के छठे भाग में यह समाचार सारे पाटन में फैल गया। इस मुंह से उस मुंह, इस कान से उस कान बात फैलते-फैलते, देखते-देखते चारों ओर पहुँच गई कि महाराज कुमारपाल ने अपने अहिंसा धर्म को त्याग कर कुलदेवी के भोग की स्वीकृति प्रदान कर दी है। कुछ लोगों को इस बात पर विश्वास हुआ, कुछ को नहीं हुआ। ब्राह्मण वर्ग प्रसन्न और उत्सा-

हित हो गया। जैन समुदाय उदासी में और विस्मय में डूब गया। सभी के मन में यह प्रश्न जाग रहा था कि यह कैसे हुआ ?

उस समय पाटन में केवल दो ही व्यक्ति ऐसे थे जो वास्तविकता को और भविष्य को जानते थे। एक स्वयं महाराज कुमारपाल और दूसरे कलिकालसर्वज्ञ हेमचन्द्राचार्य। सारी पाटन नगरी आन्दोलित हो उठी थी। स्वस्थ शांत थे केवल दो ही महापुरुष।

एक तीसरे व्यक्ति थे उदयन मन्त्रीश्वर जो इतना भर जानते थे कि हिमालय अपने स्थान से डिग सकता है किन्तु महाराज कुमारपाल अपने अहिंसा धर्म का त्याग नहीं कर सकते। इस अभय नरश्रेष्ठ को कोई भी भय चलायमान नहीं कर सकता। तब फिर इस आदेश का क्या अभिप्राय ? मन्त्रीश्वर ने विचार किया—महाराज स्वयं प्रातःकाल कंटकेश्वरी मंदिर में उपस्थित होंगे इसका अर्थ ? अवश्य गूढ़ है। महाराज के स्वभाव को ठीक प्रकार से जानने वाले मन्त्रीश्वर कुछ आशंकित भी हो गए। हिंसा महाराज होने नहीं देंगे। सारा पाटन कंटकेश्वरी के मन्दिर में उलट पड़ेगा। तब क्या होगा ? यदि महाराज के सामने कोई अड़ गया और महाराज की भवानी म्यान से बाहर आ गयी तो प्रलय मच जायगा।

मंत्रीश्वर ने निर्णय कर लिया कि वे अपना सोरठ अभियान कल प्रातःकाल तब तक स्थगित रखेंगे जब तक कि कंटकेश्वरी का मामला निबट नहीं जाता। उन्हें महाराज कुमारपाल की विचार शक्ति पर पूरा भरोसा था फिर भी उन्होंने यह निर्णय लिया कि वे घड़ी-दो-घड़ी ठहरकर ही अपने अभियान पर अग्रसर होंगे तो ठीक होगा।

× × ×

सायंकाल जब काक मंत्रीश्वर के आदेशानुसार उनसे मिलने आया तो वह भी उत्तेजित था। आते ही बोला—

"यह क्या सुन रहा हूँ मैं, प्रभु !"

अधिक बोलने की आवश्यकता इन स्वामी और सेवक को नहीं पड़ती थी। मंत्रीश्वर ने काक की चिन्ता को जानकर कहा—

"अपने महाराज पर भरोसा नहीं रहा क्या ?"

"वह तो है प्रभु, परन्तु पशुवध की यह राजाज्ञा ?"

"वध हो गया क्या ?"

"भोग देने की आज्ञा का अन्य क्या अर्थ ?"

"वह कल देख लेना। अभी तो तू एक काम कर। मेरे साथ सोरठ चलने की तेरी तैयारी तो हो चुकी।"

"काक तो हमेशा तैयार ही रहता है, प्रभु ! आप तो जानते हैं।"

"ठीक ! जानता हूँ। तो अब ऐसा कर तू कंटकेश्वरी के मंदिर के अहाते में माता के भोग के लिये जो पशु छोड़े जा रहे हैं उन पर नजर रख। समझा ? वैसे द्वार बन्द रहेंगे। दुर्गपाल की दृष्टि रहेगी। किन्तु वह बाहर से रहेगी तू अन्दर तक देखना। समझा।"

"समझा।"

"कैसे करेगा ये काम ? कोई तुझे देखे यह मैं नहीं चाहता।"

"प्रभु ! मैं आपका शिष्य काक हूँ। और कुछ कहूँ।"

"अच्छा-अच्छा, जरा सावधान कर दिया तुझे, बाकी मैं तुझे जानता नहीं क्या ? तेरा जैसा धूर्तराज तो मुझे दुनियाँ में ढूंढ़े मिला ही नहीं। सोचता था कि तू मेरे साथ चल रहा है, जिद्दी भी तो है न, तो एक तेरा कोई जोड़ीदार मिल गया होता तो उसे यहाँ महाराज के पास छोड़ जाता। और तब मैं पूरी तरह निश्चिन्त होकर जा सकता। खैर, तेरा जोड़ीदार तो दुनियाँ में मिलना नहीं था सो नहीं मिला।"

"प्रभु। एक बात कहूँ ?"

उदयन मंत्रीश्वर ने काक को अब तनिक स्थिर दृष्टि से देखा और कहा—

"बोल ?"

"प्रभु ! मैंने भी दुनियाँ देखी। लेकिन मुझे भी एक आदमी का जोड़ीदार कहीं मिला नहीं।"

मंत्रीश्वर जान गए थे कि काक क्या कहना चाहता है। वे हंस पड़े। कुछ देर हँसते ही रहे और फिर बोले—

"काक ! तू और मैं दोनों ही दीवाने हैं।"

× × ×

क्या होगा, क्या नहीं होगा—इन संभावनाओं पर विचार करते पाटन के गर्वीले नागरिक भोर से पहले ही कंटकेश्वरी के मन्दिर के सामने एकत्र होने लगे। पहले दो-चार, फिर दस-बीस और इस प्रकार धीरे-धीरे

झुण्ड के झुण्ड वहां जमा होते चले गये। ऐसा प्रतीत होने लगा कि जैसे सारी पाटन नगरी ही खाली होकर कंटकेश्वरी के मन्दिर पर जा पहुँची हो।

सिपाही थे, सामन्त थे, मांडलिक, मंडलेश्वर थे, श्रेष्ठिगण थे, सभी थे।

सभी को प्रतीक्षा थी मन्दिर के द्वार खुलने की तथा गुर्जरेश्वर के पधारने की। और फिर जानने की कि क्या होता है?

महाराज कुमारपाल का राज-गजराज झूमता-झामता, घंटघोष से दिशाओं को गुंजाता, मदमाती चाल से राजमहल से निकलकर राजपथ की शोभा बढ़ाता, पाटन के द्वार से पार होता, कंटकेश्वरी माता के मंदिर की ओर बढ़ता चला आ रहा था।

वह गजराज जब उस स्थान से निकला था जहाँ हेमचन्द्राचार्य धर्म और सरस्वती की आराधना में अपना क्षण-क्षण व्यतीत करते थे तब वह सहज ही वहां ठहर गया था। स्थानक के द्वार पर आचार्य अपना दाहिना हस्त उठाए खड़े थे। महाराज कुमारपाल ने उन्हें वन्दन किया था और गजराज आगे बढ़ गया था।

और जब महाराज कुमारपाल कंटकेश्वरी के मन्दिर पर आ पहुँचे तब कोलाहल में डूबी जनमेदिनी सहसा, क्षणमात्र में स्तब्ध, शान्त, मौन हो गई थी।

महाराज कुमारपाल अपने राजहस्ति से नीचे उतरकर द्वार के समीप आए। उन्होंने सर्वप्रथम दुर्गपाल त्रिलोचन से पूछा—

"दुर्गपाल जी! आपने महन्त भवानीराशि जी को उनकी इच्छानुसार पशु माता के भोग के लिये दिए?"

"जी महाराज!"

"मन्दिर का द्वार बन्द कर दिये जाने के बाद कोई व्यक्ति भीतर तो नहीं गया? बाहर तो नहीं आया?"

"नहीं महाराज!"

"ठीक। भवानीराशि जी, मन्दिर के द्वार खुलवा दीजिए। माता ने अपना भोग तो ले ही लिया होगा।"

मन्दिर के पट खोल दिये गए। मन्दिर के विशाल अहाते में वे सभी

पशु जो माता के भोग के लिये रखे गए थे निश्चित होकर इधर-उधर बैठे थे। जितने पशु रखे गए थे उनमें से एक भी कम नहीं था।

महाराज कुमारपाल ने तब दुर्गपाल को आज्ञा दी—

"त्रिलोचन ! इन सभी पशुओं को मुक्त कर दो। ये जहाँ भी जाएं वहाँ इन्हें स्वतन्त्रतापूर्वक चला जाने दो।"

महाराज का यह आदेश सुनकर भवानीराशि बोले—

"किन्तु महाराज ! इन पशुओं की तो अब बलि चढ़ाई जाएगी। फिर प्रसाद बाँटा जायेगा।"

"क्यों ? बलि क्यों चढ़ाई जायेगी ? माता को जो भोग लेना था वह उन्होंने ले लिया न ? आपने ही कहा था कि माता ने भोग माँगा है। सो उन्हें भोग दे दिया गया। पशु तो एक भी कम नहीं हुआ।"

"महाराज ! माता तो भाव-भोग लेती हैं....।"

"वह उन्होंने ले लिया। यही तो मैं भी कहता हूँ। सभी देवता भाव-भोग ही लेते हैं। अब उन मूक, निरीह पशुओं की हत्या करने का क्या प्रयोजन ?"

"लेकिन महाराज ! यह राजकुल की परम्परा है। माता के भोग के बाद बलि चढ़ाई जाती है। प्रसाद बाँटा जाता है।"

"आपका पेट भरने के लिये ? आपके आहार के लिये अन्य पदार्थ नहीं है क्या जो आप इन मूक, निरीह पशुओं की हत्या करके राक्षसों की भाँति उन्हें खा जाते हैं ? भवानीराशि जी, गुजरात में अब यह राक्षसी व्यवहार नहीं चलेगा। यह आप ठीक से समझ लीजिए।"

"त्रिलोचन ! आदेश का पालन करो।"—महाराज कुमारपाल ने पुनः दुर्गपाल को आज्ञा प्रदान की।

अहाते से बाहर हाँक दिये जाने पर सभी पशु स्वतन्त्रतापूर्वक इधर-उधर चले गए। महन्त भवानीराशि कह रहे थे—

"महाराज ! इसका परिणाम अच्छा नहीं होगा। कुलदेवी रुष्ट हो जाएगी। राजकुल पर विपत्ति आएगी...।"

"महन्त जी, ये गीदड़ भभकियां किसी और को दीजिएगा। आपको सावधान किये देता हूँ कि अब माता के नाम पर या अन्य किसी बहाने से हिंसा करने का दुस्साहस आप न करें। अन्यथा परिणाम आपके ही हक में अच्छा न होगा।"

महाराज कुमारपाल की यह गर्जना आस-पास एकत्रित समस्त जन समुदाय ने सुनी। सभी को जैसे साँप सूंघ गया हो इस प्रकार वे अचल, मौन खड़े रह गए। विरोध अथवा संभव हो तो विद्रोह के लिये भी आमादा मंडलेश्वर, सामन्त तथा अन्य कुलीन वर्ग के व्यक्ति सन्नाटे में आकर असहाय से खड़े रह गए। शायद उन्हें इस समय महाराज कुमारपाल का वह रौद्र रूप स्मरण में आ गया था जब उन्होंने अपनी तलवार के एक ही वार से कृष्णदेव जैसे महासमर्थ महासामन्त के दो टुकड़े करके रख दिए थे।

× + ×

समस्त गुर्जर साम्राज्य में एक बार फिर से घोषणा कराई गई—

"महाराज गुर्जरेश्वर कुमारपालदेव की आज्ञा से समस्त गुर्जर साम्राज्य में जुआ खेलने, मदिरापान करने, किसी छोटे से छोटे जीव की भी हत्या करने, तथा शिकार करने का निषेध किया जाता है, ऐसा करने वाले व्यक्ति को धर्म, जाति, कुल, वर्ग, लिंग आदि से निरपेक्ष रहकर राज्य की ओर से कठोरतम दण्ड दिया जाएगा।"

× + ×

रुदतीवित्त जैसी कुप्रथा को अपने राज्य में से समाप्त कर विधवाओं का संरक्षण करने के बाद महाराज कुमारपाल ने जीवदया का यह श्रेष्ठ, साहसिक कदम भी पूर्ण निर्भीकता के साथ उठाकर तत्कालीन भारतवर्ष में एक अनूठा उदाहरण उपस्थित किया।

गुर्जरेश्वर के हृदय में अहिंसा का भाव कितनी गहराई से उतर चुका था, यह एक घटना से स्पष्ट होता है—

ऐसा हुआ कि एक श्रेष्ठि थे, खेमू श्रेष्ठि। एक दिन वे अपनी सेठानी से अपने सिर में मालिश करवा रहे थे। मालिश करते-करते सेठानी की दृष्टि में सेठजी के सिर में रेंग रही एक जूं (यूका) आ गई। उसने उस जूं को सेठजी की हथेली पर रख दिया। सेठजी ने बिना सोचे विचारे उस जूं को अपनी अँगूठे और अँगुली के बीच में दबाकर मसल दिया। कोमल हृदय वाली सेठानी से यह देखा नहीं गया और वह भय तथा जुगुप्सा से चीख पड़ी....

संयोगवश उसी समय श्रेष्ठि की हवेली के बाहर से कुछ राज्य कर्मचारी गुजर रहे थे। उन्होंने सेठानी की चीख सुनी और यह देखने के

लिए कि कौन सी अप्रिय घटना घटित हो गई, वे हवेली के भीतर प्रविष्ट हो गए।

उन्हें जब ज्ञात हुआ कि सेठजी ने जूं की हत्या कर दी है तो वे उन्हें राजा के समक्ष ले गए। महाराज कुमारपाल ने इस हिंसक कृत्य के दण्डस्वरूप खेमू श्रेष्ठि की सारी सम्पत्ति जब्त करके उसी सम्पत्ति से उनकी हवेली के स्थान पर एक विहार का निर्माण करा दिया और उस विहार का नाम रखा गया 'यूका विहार'। उस विहार में मुनिजन समय-समय पर अस्थायी निवास करने लगे तथा श्रावकजन धर्मध्यान तथा स्वाध्याय आराधना करने लगे।

अविवेकी खेमू श्रेष्ठि अपने हिंसक दुष्कृत्य का परिणाम भुगतते जैसे-तैसे अन्य प्रकार से अपनी आजीविका चलाने के लिए बाध्य हुए।

महाराज कुमारपाल की वृत्ति कितनी अहिंसक, धार्मिक तथा उदात्त हो गई थी यह इस बात से भी प्रकट होता है कि एक बार जब वे राजा नहीं बने थे और जंगल-जंगल भटक रहे थे तब वे किसी दिन किसी स्थान पर किसी वृक्ष के नीचे विश्राम करने के लिए बैठे हुए थे। तब उन्होंने देखा कि वृक्ष के मूल के पास एक बिल है। इस बिल में से एक मूषक निकला। इस मूषक के मुंह में सोने की एक मुहर थी। मूषक ने वह मुहर बिल के पास लाकर रख दी और लौटकर फिर बिल में चला गया। वह फिर एक मुहर लाया और उसे भी पहले वाली मुहर के पास रखकर फिर से अपने बिल में चला गया।

इस प्रकार उस मूषक ने कुल इक्कीस मुहरें अपने बिल के बाहर जमा कीं।

कुमारपाल बड़े कुतूहलपूर्वक यह मूषक क्रीड़ा देखते रहे।

मूषक कुछ देर तक उन मुहरों के आसपास खेलता रहा। फिर उसने एक मुहर अपने मुंह में दबाई और उसे पुनः अपने बिल में रखने चला गया है। कुमारपाल को कौतूहल सूझा।

उसने शेष बीस मुहरों को उठाकर अपनी जेब में रख लिया कि देखें अब वह मूषक क्या करता है?

मूषक बिल से बाहर आया। अपनी मुहरों को गायब देखकर वह बेचैन हो गया। कुछ देर इधर-उधर ढूंढता रहा और फिर अचानक दुःख के मारे मूर्च्छित होकर गिर पड़ा।

उसकी वह मूर्च्छा फिर कभी नहीं टूटी।

कुमारपाल के पश्चात्ताप की कोई सीमा नहीं रही।

किन्तु अब हो क्या सकता था? किसी जीव के प्राण लिये तो जा सकते हैं किन्तु उसे प्राण दिये नहीं जा सकते।

इस दुःखद घटना को कुमारपाल अपने जीवन में कभी नहीं भुला सका।

फिर जब वह कुमारपाल से गुर्जरेश्वर महाराज कुमारपाल बन गया तब एक दिन बड़े भारी, बड़े दुःखी पश्चात्ताप भरे हृदय से उसने इस घटना का वर्णन हेमचन्द्राचार्य के समक्ष किया और अपने इस पाप कर्म के लिए यथोचित प्रायश्चित्त मांगा।

हेमचन्द्राचार्य ने अन्य उपयुक्त प्रायश्चित्त के साथ महाराज कुमारपाल को धर्मकार्यों के निमित्त एक विहार का निर्माण कराने का सुझाव दिया।

महाराज कुमारपाल ने आचार्यश्री का आदेश सिर माथे पर चढ़ाकर प्रायश्चित्त भी लिया तथा एक सुन्दर, विशाल विहार का निर्माण कराया और उस विहार का नाम मूषक विहार रखा। इस आशा के साथ कि उस अभागे मूषक की आत्मा को शायद इससे शान्ति प्राप्त हो।

इस प्रकार गुर्जर धरा से रुदतीवित्त तथा जीवहिंसा, मदिरापान, द्यूत, एवं मृगया को सदाकाल के लिए साहसपूर्वक समाप्त करके अपने अपराजेय शौर्य के लिए जग-जाने महाराज कुमारपाल ने अपनी अद्भुत धर्मश्रद्धा तथा आत्मश्रद्धा का परिचय भी सारे संसार को दे दिया।

□

[पच्चीस]

महामात्य उदयन मन्त्रीश्वर ने अपने जीवनकाल के अस्सी वर्ष तक गुजरात का पुनरुद्धार करने, उसे समृद्ध बनाने, उसे एकता तथा अजेयता प्रदान करने हेतु अथक, भगीरथ प्रयास किया था।

और अब इस आयु में वे सोरठ के विद्रोही रा' सरसार को पाठ पढ़ाने जा रहे थे। इसके अतिरिक्त पवित्र पुण्यधाम विमलाचल के दर्शन करने की भी उनकी इच्छा बलवती थी।

उन्होंने काक सेनापति को सीधे रास्ते वर्धमानपुर पहुँच जाने का आदेश दिया तथा वे स्वयं विमलाचल का मार्ग पकड़कर रवाना हो गए।

विमलाचल पहुँचकर वीतराग भगवन्त के दर्शन करके वे अभिभूत हो गए। उन्हें जीवन की धन्यता का आभास होने लगा। कुछ समय तक वे प्रभुदर्शन तथा प्रभु-स्तुति में डूबे हो रह गए। जब उन्होंने अपनी आंखें खोलीं तो उन्होंने देखा कि काष्ठ के उस प्रभु मन्दिर के किसी कोने में से एक मूषक बाहर आया और आरती के थाल में से घी की एक जलती हुई वर्त्तिका अपने मुंह में दबाकर अपने बिल की ओर चल पड़ा। इस मूषक को घी की सुगन्ध ने आकर्षित कर लिया था।

यह दृश्य देखकर मन्त्रीश्वर को विचार आया कि प्रभु के इस काष्ठ मन्दिर को तो एक छोटा-सा मूषक भी कभी भी अज्ञानवश जलाकर राख कर सकता है। उन्होंने सोचा, संसार में तीन वस्तुएं अद्वितीय मानी जाती हैं—विमलाचल पर्वत, गजेन्द्र कुण्ड तथा नवकार मन्त्र।

मंत्रीश्वर उदयन समर भूमि में आगे बढ़ गए। युद्ध अनिवार्य था, वह हुआ। रा' समरस अपने किये को भुगतने दूसरी दुनियाँ में चला गया। गुर्जर सैन्य की विजय हुई। किन्तु युद्ध के समय मंत्रीश्वर उदयन भी घायल हो गये। अस्सी वर्ष की उनकी बूढ़ी, जर्जर काया उस घाव को सहन नहीं

कर सकी। उनकी स्थिति तेजी से बिगड़ने लगी। विजयी गुर्जर सैन्य में मंत्रीश्वर के गम्भीर रूप से घायल हो जाने के कारण शोक व्याप्त हो गया।

मंत्रीश्वर के हृदय की धड़कन धीरे-धीरे डूबती जा रही थी। किन्तु प्राण निकल नहीं रहे थे। उनकी यह स्थिति देखकर काक सेनापति के प्राण अवश्य दुःख के कारण निकले जा रहे थे। किन्तु क्या किया जा सकता था? वैद्यराज दवाएँ बदल रहे थे। वे गुजरात के उस भाग्य विधाता को बचाने का पूरा प्रयत्न कर रहे थे। किन्तु मंत्रीश्वर की स्थिति बिगड़ती ही चली जा रही थी। बस प्राण नहीं निकल रहे थे।

वर्षों से मंत्रीश्वर के साथ छाया की भाँति रहने वाले काक सेनापति की समझ में आ गया था कि मंत्रीश्वर अब अपने अन्तिम समय में किसी जैन साधु के दर्शन करना चाहते हैं। इसके बिना इनके प्राण निकल नहीं पा रहे हैं।

किन्तु उस युद्धभूमि में कोई जैन साधु मिले कहाँ?

काक ने अपने मस्तिष्क पर जोर डाला।

अचानक उसे स्मरण आया कि उस स्थान से कुछ ही दूरी पर एक ग्राम में वीरणागजी नामक एक बहुरूपिया रहता है। वह नाना प्रकार के वेश धारण करने तथा वेशों के अनुरूप अभिनय करने में बहुत कुशल है। यह स्मरण आते ही काक ने वैद्यराज से कहा—

"वैद्यराज जी, मैं शीघ्र ही लौटकर आता हूँ। तब तक कुछ भी कीजिए, मंत्रीश्वर को जीवित रखियेगा।"

यह कहकर काक तेज साँड़नी पर सवार होकर उस ग्राम की दिशा में उड़ चला।

वीरणागजी को खोजकर उसने शीघ्रता और संक्षेप में सारी वस्तु-स्थिति बताकर कहा—

"वीरणागजी, क्षण भर का भी विलम्ब न करें। जैन मुनि का वेश धारण कर शीघ्र मेरे साथ चलें।"

वीरणागजो भीतर के कक्ष में चला गया। काक बेचैनी से इधर-उधर चक्कर काटने लगा। वह खोया-खोया-सा हो रहा था। उसे लगता था कि जैसे वह लुटा जा रहा है।

कुछ ही पलों में काक ने देखा कि उसके सामने एक जैन साधु खड़े

हैं। सहज ही वन्दना के लिए उसके हाथ जुड़ गये। फिर उसे ध्यान आ गया और वह वीरणागजी को लेकर गुजरात की सैन्य छावनी की ओर दौड़ पड़ा।

काक ने वीरणागजी को मंत्रीश्वर के पट्टघर (शिविर) के बाहर ही छोड़ दिया और स्वयं शीघ्रतापूर्वक मंत्रीश्वर के चरणों की ओर जाकर बैठ गया। बहुत आहिस्ते से मंत्रीश्वर ने अपने नेत्र सायास खोले और काक को देखकर डूबते-से स्वरों में कहा—

"काक भाई, अब तो मैं चला। प्रभु की पुकार आ गई। महाराज कुमारपाल और अपना गुजरात तुम्हें सौंपे जाता हूँ। इस एक जीवन में जो कुछ मैं कर सकता था, कर चुका। बस तीन अभिलाषाएँ मन की मन में रहे जाती हैं····।"

"आज्ञा कीजिए, प्रभु! काक के जीवित रहते आपकी कोई अभिलाषा अपूर्ण नहीं रहेगी। आज्ञा कीजिए।"

"एक तो विमलाचल पर पाषाण-मन्दिर बनवाने का मेरा संकल्प शेष रह गया, काक!"

"वह पूरा होगा प्रभु! वाग्भट्ट जी यह करेंगे। मैं आपको वचन देता हूँ।"

"दूसरा भृगुकच्छ में शकुनिका विहार बनवाना है····।"

"आम्रभट्ट जी यह कार्य करेंगे प्रभु! आप निश्चिन्त हों····।"

"हां, काक! मेरा वाग्भट्ट और आम्रभट्ट दोनों ही योग्य हैं····हे जिनदेव····।"

"और तीसरी इच्छा प्रभु!"

"वह····वह तो कैसे पूरी होगी काक····इच्छा थी कि इस इहलीला को समेटने से पूर्व किन्हीं जैन साधु महाराज के दर्शन पा लेता····।"

"आपकी यह इच्छा भी पूरी होगी प्रभु! यहीं, बिल्कुल समीप के एक ग्राम में ही कोई जैन साधु पधारे हुए हैं। मैं अभी उन्हें लेकर आता हूँ। आप निश्चिन्त रहें, प्रभु! मैं यह आया वैद्यराजजी, आप देखिये····।"

कहकर काक झपटता हुआ बाहर गया और थोड़ी देर में ही वीरणागजी को लेकर शिविर में प्रविष्ट हुआ। जैन साधु के दर्शन करके मंत्री-

श्वर के चेहरे पर अलौकिक आनन्द, अद्‌भुत शान्ति प्रसर गई। दोनों हाथ जोड़कर उन्होंने मुनिवर को वन्दन किया। मुनिवर का दाहिना हाथ 'धर्म-लाभ' प्रदान करता हुआ ऊपर उठा।

अब मंत्रीश्वर पूर्णरूप से शांत थे। उन्होंने कहा—

"काक ! पूज्य गुरुदेव को पाटन जाकर मेरा अन्तिम, सादर वन्दन कहना। महाराज को भी मेरा नमन कह देना।"

इतना कहकर मत्रीश्वर उदयन सर्व मंगलों के प्रदाता णमोकार महामंत्र का जाप करने लगे।

और फिर धीरे-धीरे परम शांत भाव में उनकी आँखें मुँद गयीं।
गुजरात के एक इतिहास-पुरुष ने जीवन के रंगमंच से विदा ले ली।

\+ \+ \+

क्या काक सेनापति ने मंत्रीश्वर के साथ छल किया ?

नहीं।

वीरणागजी एक बहुरूपिया था। जीवन में उसने अनेक वेश धारण किये थे, अपने पेट की ज्वाला को शांत रखने के लिए।

किन्तु इस बार उसने जैन साधु का जो वेश धारण किया सो उसे फिर कभी उतारा ही नहीं। मंत्रीश्वर की आत्म-श्रद्धा का उस पर कुछ ऐसा असर पड़ा कि अपने तथा अपने परिवार के पेट की भूख को बिसार कर वह तो अपनो आत्मा की भूख को मिटाने के मार्ग पर ही चल पड़ा।

और वीरणाग मुनि के परिवार के पोषण का दायित्व गुजरात के नाथ ने अपने माथे ले लिया।

\+ \+ \+

सोरठ को तो मंत्रीश्वर उदयन और काक ने शांत कर दिया। स्वयं मंत्रीश्वर भी सदा-सदा के लिए शांत हो गए। किन्तु कोंकण-अभियान में आम्रभट्ट को सफलता नहीं मिल पाई। निश्चय ही आम्रभट्ट महावीर था किन्तु कोंकण की तथा मल्लिकार्जुन की राजधानी की भौगोलिक स्थिति कुछ ऐसी थी कि वर्षाकाल में राजधानी को तीन ओर से घेर कर बहने वाली नदी पूरे भराव और प्रवाह में थी। आम्रभट्ट का सैन्य लाख प्रयत्न करने पर भी उफनती हुई नदी को पार करके राजधानी पर आक्रमण नहीं कर सका। उसके सारे प्रयत्नों को शत्रुसैन्य द्वारा बार-बार विफल कर

दिया गया। उसके हाथियों और घोड़ों के पैर फिसलन वाली दलदली भूमि में जम ही नहीं पाये।

आम्रभट्ट को पराजित होकर लौटना पड़ा। अपने सैनिकों की जीवन-रक्षा के लिए। अन्यथा वह महावीर संग्राम भूमि में अपने प्राण तो दे सकता था, किन्तु अपने कदम पीछे नहीं हटा सकता था।

आम्रभट्ट पराजय का भीषण दंश अपने हृदय में लेकर लौट आया। उसने काले वस्त्र पहन लिए। अपने मुख को भी उसने काले काजल से पोत लिया। पाटन के बाहर आकर उसने काले पट्टघर (तम्बू) में पड़ाव डाला। उसका निश्चय था कि अब वह अपना मुख पाटन में कभी नहीं दिखाएगा। गुजरात के सैन्य को महाराज कुमारपाल को सुरक्षित सौंपकर वह जलसमाधि ले लेगा।

महाराज कुमारपाल को जब यह सूचना मिली तो वे दौड़े-दौड़े आम्रभट्ट की छावनी में आए। आम्रभट्ट की स्थिति को देखकर उन्होंने कहा—

"महारथी आम्रभट्ट! यह सब क्या है? कौन कहता है कि तुम पराजित होकर लौटे हो? यह प्रकृति की विजय हो सकती है किन्तु तुम्हारी पराजय कदापि नहीं है। पराजित तो वह होता है जो हिम्मत हार बैठता है। क्या तुमने हिम्मत हार दी है?"

"महाराज! अब मैं आपको और पाटन की जनता को क्या मुंह दिखाऊं? मुझे जलसमाधि लेने की आज्ञा प्रदान कीजिए।"—आम्रभट्ट ने दुःखी मन से कहा।

"पागलों जैसी बातें नहीं करते आम्रभट्ट! मुझे सब सूचनाएं मिल चुकी हैं। तुमने और गुजराती वीरों ने युद्धभूमि में कोई कसर नहीं छोड़ी। किन्तु प्रकृति ही हमारे विरुद्ध थी तो उसमें तुम्हारा क्या दोष? चलो उठो, यह सब काले वस्त्र फेंको। नया सैन्य तैयार है। युद्ध की तैयारी करो और इस बार उस अहंकारी मल्लिकार्जुन को बांधकर मेरे पास लाओ। यह मेरी आज्ञा है। उठो अब।"

अन्ततः आम्रभट्ट ने महाराज कुमारपाल का आदेश सिर माथे चढ़ाया और बिना पाटन में प्रवेश किए वह अपना सैन्य लेकर पुनः कोंकण पर चढ़ बैठा।

और इस बार उसने मल्लिकार्जुन को ऐसी करारी पराजय दी कि उसकी पीढ़ियां भी उस पराजय को कभी नहीं भूलीं और आम्रभट्ट के शौर्य का गान दसों दिशाओं में फैल गया। ●

[छब्बीस]

अब गुजरात में शान्ति थी।

उदयन मंत्रीश्वर अब नहीं थे, अतः इस शान्ति में एक गहन उदासी भी आ मिली थी।

राजर्षि कुमारपाल का अधिकांश समय अब आचार्य हेमचन्द्र के सान्निध्य में ही व्यतीत होता था। उन्होंने आचार्यश्री के समीप योग साधना का अभ्यास आरम्भ कर दिया। इस योग साधना से उनके शरीर में कुष्ठ रोग के जो भी लक्षण प्रगट हुए थे वे शान्त, समाप्त हो गए।

गुजरात में अब हिंसा नहीं थी। मदिरा पान नहीं था। द्यूत क्रीड़ा नहीं थी। मृगया नहीं थी। रुदतीवित्त प्रथा नहीं थी। अन्याय नहीं था।

धर्म था।

प्रजा अपनी-अपनी व्यक्तिगत श्रद्धा के अनुसार अपने-अपने धर्म का पालन करती थी।

समय शान्तिपूर्वक व्यतीत होता रहा।

इसी बीच भाववृहस्पति की प्रेरणा और इच्छा का सम्मान करते हुए महाराज कुमारपाल ने सोमनाथ के मन्दिर का जीर्णोद्धार कराना प्रारम्भ किया। कुशल शिल्पियों ने सोमनाथ के मन्दिर को स्वोंगपम सौंदर्य प्रदान कर दिया।

फिर आया शिव पूजन का अवसर।

भाववृहस्पति ने महाराज कुमारपाल से इस अवसर पर स्वयं उपस्थित होने का आग्रह किया। महाराज ने सहर्ष यह विनती स्वीकार की।

कलिकालसर्वज्ञ हेमचन्द्राचार्य से भी भाववृहस्पति ने ऐसी ही प्रार्थना की। शायद वे उनकी परीक्षा लेना चाहते थे। यह जानना चाहते थे कि कलिकालसर्वज्ञ अपनी मान्यताओं में कितने उदार हैं। जिस समन्वयवाद का वे समर्थन, प्रतिपादन तथा प्रचार करते रहे हैं उस में कितनी गहराई है।

हेमचन्द्राचार्य ने भी सहर्ष इस अवसर पर सोमनाथ में उपस्थित रहना स्वीकार किया।

समारोह के समय अचानक भाववृहस्पति ने आचार्यश्री से कहा—
"आचार्यवर! आप कुछ शिव स्तुति में कहेंगे?"

हेमचन्द्राचार्य के दीप्त मुखमंडल पर मधुर स्मित छा गया। कोई उत्तर न देकर उन्होंने सहज, आशुकाव्य का पाठ किया—

भवबीजांकुरजननारागाद्याक्षयमुपागता यस्य।
ब्रह्मा वा विष्णुर्वा, हरो जिनो वा नमस्तस्मै॥

—भव बीज को अंकुरित करने वाले राग-द्वेष पर जिन्होंने विजय प्राप्त कर ली है, भले वे ब्रह्मा, विष्णु, हरि और जिन किसी भी नाम से सम्बोधित होते हों, उन्हें मेरा नमस्कार है।

यह पुण्य श्लोक सोमनाथ मंदिर में इस प्रकार गूंज उठा जैसे किसी देवता ने कोई मंत्र गान किया हो।

आगे का श्लोक भी हेमचन्द्राचार्य ने पढ़ा—

'महारागो महाद्वेषो—महामोहस्तथैव च।
कषायश्च हतो येन, महादेवः स उच्यते॥

—जिसने महाराग, महाद्वेष, महामोह और कषाय को नष्ट किया है, वही महादेव है।

उपस्थित जन-समुदाय इन गूढ़ श्लोकों को सुनकर झूम-झूम उठा तथा हेमचन्द्राचार्य की महानता को पूर्णरूपेण समझकर धन्य-धन्य कर उठा।

सोमनाथ मंदिर के वृद्ध, शैव पुजारी स्वयं भाववृहस्पति भी भाव-विभोर होकर आचार्यश्री के चरणों में विनत हो गए।

आज उन्होंने जान लिया था कि धर्म का वास्तविक स्वरूप क्या है तथा कलिकालसर्वज्ञ की महानता का कोई माप पा लेना असंभव था।

इस घटना के पश्चात् भाववृहस्पति अथवा शैव सम्प्रदाय के किसी भी पंडित-पुजारी-साधक ने आजन्म आचार्य हेमचन्द्र के विरोध में कभी एक शब्द का भी उच्चारण नहीं किया।

आचार्यवर के अगाध ज्ञान, असीम उदारता, अखंड संयम तथा परम धार्मिक आचरण के समक्ष उन सभी के मस्तक पूर्ण श्रद्धाभाव से झुके रहे।

□

[सत्ताईस]

इसके पश्चात आयु के चौरासी वर्ष तक आचार्य हेमचन्द्र अविराम सरस्वती-साधना में डूबे रहे।

देह का धर्म है—धीरे-धीरे जीर्ण होना। देह नश्वर ही तो है। आचार्यश्री का शरीर भी अविराम तप, अखंड साधना, निरन्तर सरस्वती की आराधना से क्षीण होता चला जा रहा था। अनेक बार महाराज कुमारपाल ने उनसे कहा भी—

"गुरुदेव ! अब तो कुछ विश्राम लीजिए।"

किन्तु महापुरुषों का अन्तिम श्वास तक धर्म तथा कर्तव्य को ही समर्पित रहता है। महाराज कुमारपाल की विनम्र-प्रार्थना को सुनकर आचार्य मन्द, मधुर स्मित के साथ एक बार उन्हें देख भर लेते थे और पुनः लेखन कार्य में प्रवृत्त हो जाया करते थे।

महाराज कुमारपाल विवश एक दीर्घ श्वास लेकर आचार्यश्री के मुखारविन्द को निहारते रह जाते थे।

आचार्यश्री आलौकिक विभा से पूर्ण थे। उनके श्रुतज्ञान वैभव को पाकर समूचा गुजरात धन्य हो उठा था भारतीय संस्कृति में उन्होंने अभिनव प्राणों का संचार किया था। साढ़े तीन करोड़ से भी अधिक श्लोकों की रचना कर कलिकालसर्वज्ञ ने माता सरस्वती के कोष को अक्षय निधि से भर दिया था।

उनके द्वारा अनेक विषयों में रचित अनेक ग्रन्थों के विषय में इस छोटी-सी कथा में कहाँ तक क्या-क्या लिखा जा सकता है ? संक्षेप में इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि तत्कालीन भारतवर्ष के सभी विद्वान एक स्वर से यह घोष कर रहे थे—

किं स्तुमः शब्दपाथोधे - र्हेमचन्द्र यतेर्मतिम् ।
एकेनापि हि येनेदृक् - कृतं षड्भानुशासनम् ।।

—जहां तक शब्द के महासागर का प्रश्न है, हेमचन्द्राचार्य के ज्ञान के विषय में क्या कहा जाय जिन्होंने अकेले ही शब्दानुशासन जैसे श्रेष्ठ ग्रंथ की रचना की ।

और यह तो उनके एक ही ग्रन्थ के विषय में कहा तथा माना जा रहा था । किन्तु इसी प्रकार की भूरि-भूरि प्रशंसा उनके एक-एक ग्रन्थ के विषय में समस्त भारतवर्ष में की जा रही थी और आज भी की जाती है—भविष्य तो करता ही रहेगा ।

× × ×

काल महोदधि किसके रोके रुका है ?

चौरासी वर्ष की आयु में अनशनपूर्वक अन्त्याराधन क्रिया आचार्यश्री ने आरम्भ की तथा महाराज कुमारपाल को यह सूचना देकर कि 'तुम्हारी आयु के भी अब छह मास शेष हैं'—राजर्षि को धर्मोपदेश देते हुए दशम् द्वार से उन्होंने प्राणत्याग कर दिया ।

संसार में कितने ही लोगों के जन्म भव्य होते हैं, कितने ही लोगों के जीवन भव्य होते हैं तथा कितने ही लोगों के मरण भव्य होते हैं । किन्तु जन्म, जीवन तथा मरण—ये तीनों ही जिनके भव्य हों ऐसे महापुरुष तो विरले ही होते हैं । कलिकालसर्वज्ञ ऐसे ही विरल महापुरुषों में से एक थे ।

विदा की बेला सन्निकट जानकर राजर्षि कुमारपाल भी अधीर होने लगे थे । आचार्यश्री ने उनसे कहा था—

"अरे राजर्षि ! आते समय इतना आनन्द था, तब अब इस जाते समय यह शोक कैसा ? इस स्थान पर रहने वालों को भी क्या इससे श्रेष्ठतर स्थ न की अपेक्षा नहीं होनी चाहिए ।

"हे राजर्षि ! तुम्हें अनेकों ने परम माहेश्वर कहा । मैंने तुम्हें परमार्हत कहा । किन्तु वास्तव में तो तुम जीवन भर सच्चे मानव ही रहे हो । और शेष समय में भी सच्चे मानव ही रहना ।

"अब इस शोक का त्याग करो । यह तो महोत्सव का प्रसंग है । इस पुण्य-प्रसंग पर एक आँसू भी आँख मे ढलकना नहीं चाहिए—

उपतिष्ठन्तु मे रोगा ये केचित्पूर्वसंचिताः ।
आनृण्ये गन्तुमिच्छामि तत्प्रभो परमं पदम् ॥

पूर्व संचित जो रोग आए सो आए, किन्तु हे प्रभो ! ऋणमुक्त होकर मैं तेरे पाद पद्मों में आना चाहता हूँ ।

"हे राजर्षि ! भूलो नहीं कि—

'हित्वा जीर्णमयं देहं लभते भो पुनर्नवम् ।
कृतपुण्यस्य मर्त्यस्य मृत्युरेव रसायनम् ॥'

पुण्यशाली पुरुषों के लिए मृत्यु महा रसायन है । इससे जर्जरित देह का त्याग कर वह नई देह प्राप्त करता है ।

कलिकालसर्वज्ञ के इस जन्म के श्वास अब गिनती के रहे थे ।

उनके भव्य प्रदीप्त मुखमंडल पर परम ज्योति की आभा फैली हुई थी । उनके मुख से अन्तिम शब्द उच्चारित हो रहे थे—

आत्मन् देवस्त्वमेव त्रिभुवनभवनोद्द्योत दीपस्त्वमेव ।
ब्रह्मज्योतिस्त्वदाखिल विषयश्च सुज्जीवतायुस्त्वमेव ॥
कर्त्ता भोक्ता त्वमेव व्रजसि जगति च स्थाणुकत्वं त्वमेव ।
स्वस्मिन् ज्ञात्वा स्वरूपं किमुतमिह बहिर्भाव माविष्करोषि ॥

—हे आत्मा ! तू ही देव है । तू ही त्रिभुवन को प्रकाशित करने वाला प्रदीप है । तू ही ब्रह्मज्योति है । तू ही समस्त विषयों का श्वास, प्राण स्वरूप है । तू ही कर्त्ता और भोक्ता है । तू ही जगत में गतिमान है और तू ही स्थिर भी है । इस स्वयं के स्वरूप को जानकर फिर बहिर्ज्ञान क्या शेष रहता है ।

सब शेष हो गया ।

अथवा कहा जाय कि शेष अशेष में विलीन हो गया ।

लोक में दुर्लभ श्रद्धा से पूरित राजर्षि ने बहुत रोका अपने आपको किन्तु उनके नेत्रों से अजस्र अश्रुधारा बह निकली ।

कहते हैं कि कलिकाल सर्वज्ञ की देह की भस्म को इतने लोगों ने अपने मस्तक पर चढ़ाया कि अन्त्येष्टि-क्रिया के स्थल पर विशाल खड्ड ही बन गया । उस खड्ड को आज भी 'हेम खड्ड' कहा जाता है ।

कलिकाल सर्वज्ञ का समाधि स्थल पवित्र शत्रुंजय-पर्वत पर निर्मित है ।

उस महाप्रज्ञ ज्ञानयोगी को आज लाखों जन भावपूर्वक नमन करते हैं । □